॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१०

भारतीय व्रतोत्सव

प्रणेता

आचार्य श्रीपुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन-राष्ट्रभाषा-ग्रन्थमाला

१०

भारतीय व्रतोत्सव

प्रणेता

आचार्य श्रीपुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

राजपण्डित, श्रीकाशीनरेश, वाराणसी

तथा

भू० पू० संस्कृतविभागाध्यक्ष, मेयोकालेज, अजमेर

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

सं० २०१३] मूल्य ३) [ई० १९५७

[ ]

वक्तव्य

[पुस्तक लिखने का हेतु तथा कृतज्ञता-प्रकाशन]

जिस समय मैं मेयो कालेज (अजमेर) में धर्मोपदेशक और संस्कृताध्यापक था उस समय मुझको प्रति रविवार और प्रत्येक त्यौहार पर छात्रों के समक्ष भाषण देना होता था । वह अंग्रेजों की संस्था थी । यद्यपि वहाँ भारतीयों के संतोषार्थ भगवन्मंदिर तथा धर्मोपदेश को भी विद्यालय में स्थान दिया गया था तथापि अंग्रेजों की प्रवृत्ति यही थी कि बालकों की रुचि इन बातों की निस्सारता दिखाकर इस ओर से हटा दी जाय। संयोगवश जब मेरी वहाँ नियुक्ति हो गई तो मुझे उनकी यह प्रवृत्ति खटकी। मैंने अपने भाषणों में भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति का सोपपत्तिक विवेचन प्रारम्भ किया। यद्यपि अधिकारियों को मेरी यह प्रवृत्ति खटकती थी और इसके लिये मुझे बहुत कुछ सहना भी पड़ा तथापि वे स्पष्टतया तो इसका विरोध कर नहीं सकते थे, क्योंकि मेरी नियुक्ति ही इस कार्य के लिये हुई थी। एक-दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

मेयो कालेज में मेरी नियुक्ति विक्रम संवत् १९९१ के आषाढ़ मास (जुलाई सन् १९३४) में हुई थी। रविवारीय भाषणों के अतिरिक्त मैंने सर्वप्रथम भारतीय त्यौहारसंबंधी भाषण रक्षाबन्धन और उपाकर्म पर दिया। भाषण में मैंने पहले तो रक्षाबन्धन और उपाकर्म की उपयोगिता समझाई और तदनन्तर कहा कि—

"विद्यार्थी शंका कर सकते हैं कि—उपाकर्म वेद-पारायण के आरम्भ का उत्सव है और वर्तमान काल में भारतीयों में वेद के अध्येता विरले ही रह गये हैं। वे भी अधिकांश ब्राह्मण ही। क्षत्रियों और वैश्यों में से तो अधिकांश लोग जनेऊ ही नहीं पहनते, फिर वेदाध्ययन की बात ही क्या है। ऐसी अवस्था में यह उत्सव क्यों मनाया जाय ?

"इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व मैं आपसे पूछूँगा कि चित्तौड़ का किला इस समय युद्ध के लिये अनुपयुक्त है। (यद्यपि उस समय पटमबम का आविष्कार नहीं हुआ था तथापि साधारण) बमों के द्वारा यह किला सहज ही अधीन किया जा सकता है। फिर इस किले को क्यों न नष्ट कर दिया जाय, क्योंकि आधुनिक युद्धों में ऐसे किले का कोई उपयोग नहीं।"

इस पर श्रोता चुप रहे। तब मैंने कहा कि—"आप लोग जो चुप हैं, इसका कारण यह है कि आप चित्तौड़ के किले को तोड़ने की संमति नहीं दे सकते। क्यों? इसलिये कि वह आपके पूर्वजों का स्मारक है। यदि उसे आज तोड़ दिया गया तो राणा प्रताप और सांगा भी कहानियों के वीर-मात्र रह जायँगे। भावी लोग कहेंगे कि मेवाड़ की वीरगाथा केवल कल्पित है। अतः युद्धोपयोगी न होने पर भी चित्तौड़ के किले का दर्शन हमारे पूर्वजों की वीरता का स्मारक है और आज भी हमारे रक्त में स्फूर्ति ला देता है। इसी प्रकार ये हमारे त्यौहार भी हैं। उपाकर्म को देखकर हमें स्मरण होता है कि हमारे पूर्वज कितने धार्मिक थे। वेदों का उनके हृदय में कितना संमान था। यदि यह उत्सव न रहे तो हम अपने पूर्वजों की वेदों के प्रति श्रद्धा और भक्ति को भूल जाँय।"—इत्यादि

इस भाषण को सुनकर प्रधानाध्यापक, जो उस दिन छात्रों के निरीक्षणार्थ नियत थे, लौटते समय मार्ग में मुझसे कहने लगे कि—'पंडितजी, आपका मेयो कालेज में टिकना कठिन प्रतीत होता है।' मैंने कहा—'क्यों? मैंने ऐसा क्या अपराध किया'। उन्होंने कहा—'रक्षाबंधन की छुट्टी प्रिंसिपल ने बंद कर दी है और आप उस पर अपने भाषण में इतना बल दे रहे हैं। इसे अँगरेज कैसे सहन कर सकता है?' मैंने कहा—'मैंने भाषण में किसी की निन्दा नहीं की। केवल इस पर्व की आवश्यकता का समर्थन किया है। यदि यह मैं नहीं कर सकता तो मुझे धर्मोपदेशक के पद से त्यागपत्र दे देना चाहिये।' यह सुनकर वे चुप हो गये।

इसी प्रकार जब नवरात्र का आरम्भ आया तो मैंने उस पर भी भाषण दिया। संयोगवश स्थापना के दिवस पर कुछ छात्रों ने उपवास किया। उस समय जयपुर-हाउस में मेरा एक ट्यूशन भी था। रात्रि में मैं वहाँ एक छात्र को पढ़ाने जाया

करता था। उस हाउस का हाउसमास्टर एक अंग्रेज था। प्रधानाध्यापक ने तो पूर्व भाषण की प्रिंसिपल को सूचना दी अथवा नहीं, पर उस अंग्रेज ने तो प्रिंसिपल को लिखकर दिया कि 'यह धर्मोपदेशक धर्मप्रचारक भी है। छात्रों को छात्रालयों में जाकर उपवासादि के लिये उद्यत करता है।' इत्यादि। दूसरे दिन जब मैं अध्यापन के लिये विद्यालय पहुँचा तो प्रधानाध्यापक कहने लगे कि—'आज तो आपकी शिकायत आई है।' मैंने कहा—'क्या ?'. उन्होंने वह पत्र मेरे सामने रखा। मैंने कहा—'छात्रालयों में जाकर छात्रों को बहकाने की बात तो सर्वथा मिथ्या है। हाँ, मन्दिर में भाषण मैंने इसी विषय पर दिया था। यदि उसके फलस्वरूप कुछ छात्रों ने उपवास कर लिया तो क्या अपराध किया।' यह सच्ची बात थी। प्रिंसपल को जब यह विदित हुआ तो उसने फिर उस बात पर कोई कार्यवाही नहीं की।

ऐसे विरोधों की तो मैंने कभी परवाह नहीं की, किन्तु एक रिटायर्ड फौजी अंग्रेज किसी विषय को पढ़ाने के लिये वहाँ नियत किया गया। उसने एक दिन पढ़ाते समय प्रसंगवश छात्रों से कहा—'आप लोगों के हिन्दू पञ्चाङ्ग को धिक्कार !' लड़कों ने पूछा —'क्यों ?' उसने कहा—'इस पञ्चाङ्ग के कारण आपके त्योहार कभी नियत तारीख को नहीं होते। कभी महीना २९ दिन का होता है तो कभी ३१ दिन का। पंडित बिना कारण आप लोगों को चक्कर देते रहते हैं।' लड़कों को यह बात बहुत खटकी। वे सदा मेरा भाषण सुनते थे, अतः उनको मुझ पर विश्वास था। उन्होंने मुझसे आकर यह सब कथा कही। तब मैंने कई रविवार के व्याख्यानों में भारतीय कालविज्ञान पर व्याख्यान दिए। लड़कों ने जब जाकर उस अंग्रेज से फिर वह सब कहना आरम्भ किया तो उस फौजी अंग्रेज ने कहा कि 'सॉरी', अर्थात् मैं अपने कथन पर खिन्न हूँ।' और चुप हो गया। तब से छात्रों को भारतीय विद्याओं पर विश्वास होने लगा और वे व्रतोत्सव पर मेरे व्याख्यान बड़े ध्यान से सुनने लगे।

एक दिन एक उत्सव पर मेरा व्याख्यान हो रहा था। उस समय भूतपूर्व शाहपुरा-नरेश स्व० श्रीउमेदसिंहजी, जो आर्यसमाजी थे, अकस्मात् आ पहुँचे। उन्हें मेरा व्याख्यान बड़ा प्रिय लगा और वे मुझसे कहने लगे कि 'आप भारतीय व्रतोत्सवों पर एक

पुस्तक लिखिए। मैं उसे प्रकाशित करूँगा।' उनके अनुरोध से यह पुस्तक लिखी गई, पर वे इसे आर्यसमाजानुकूल कुछ बातों से परिपूर्ण देखना चाहते थे और तदनुसार इसमें कुछ काट-छाँट भी करना चाहते थे। उन्होंने इस विषय में कुछ सूचनाएँ दीं भी, किन्तु मैं उनको स्वीकार नहीं कर सका। अतः यह पुस्तक विद्यार्थियों के अनुरोध से लिख ली जाने पर भी बरसों मेरे बस्ते में ही पड़ी रही। तदनन्तर इसमें बहुत कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ। उस समय इसमें कुछ ही व्रतोत्सव लिखे गये थे, पर अब इसमें यथासंभव सभी व्रतोत्सवों का समावेश कर दिया गया है। व्रतोत्सवों की यथालब्ध कथाएँ भी संमिलित कर दी गई हैं। शेष सब पाठकों को पुस्तक से विदित होगा। अब यह 'चौखम्बा संस्कृत सीरिज' वालों के विशेष अनुरोध के कारण प्रकाशित हो रही है, अतः उन्हें सविशेष धन्यवाद। आशा है—विद्वान् और आस्तिक बन्धु इसे स्वीकार करेंगे।

इस कार्य में मेरे प्रिय शिष्य गोविन्ददास 'काव्यमनीषी' (अजमेर) तथा पं० दीनानाथ साहित्याचार्य (जयपुर) ने जो लिपिकरणादि में सहायता की है तदर्थ उनको अनेक शुभाशीर्वाद।

अन्त में मैं अपने प्रिय शिष्य और अपने व्याख्यानों के श्रोता काशीनरेश महाराज श्री विभूतिनारायण सिंह एम० ए० को धन्यवाद तथा शुभाशीर्वाद देता हूँ कि संयोगवश यह पुस्तक उनके ही आश्रय में प्रकाशित हो रही है। भगवान् उनको चिरायु और सुखी करें।

मकरसंक्रान्ति
विक्रम संवत् २०१३

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
रामनगर (काशी)

विषय-विमर्श

विज्ञान शब्द का अर्थ और काल-विज्ञान

इस पुस्तक में सर्वप्रथम 'काल-विज्ञान' नामक प्रकरण है। उसमें काल के इन आठ विभागों का वर्णन है—संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार और नक्षत्र। भारतीय व्रतोत्सवों में इनका उपयोग होता है और साधारणतया लोग इनके विषय में जानते नहीं। अतः इनका विवरण विशेष रूप से दिया गया है।

इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि—विज्ञान शब्द का अर्थ यहाँ साइन्स नहीं है, किन्तु 'विविच्य ज्ञान=विवेचन करके समझना' है। इसको विशिष्ट ज्ञान अथवा सविशेष ज्ञान भी कह सकते हैं। ऐसे विज्ञान के बिना वस्तु का यथार्थ बोध नहीं होता और यथार्थ बोध न होने से विधर्मियों अथवा विदेशियों की बातें सुनकर मनुष्य बहक जाता है, अतः इस पुस्तक में यथासम्भव वर्णनीय विषयों को युक्ति और प्रमाणों द्वारा विवेचन करके समझाया गया है, जिसे काल-विज्ञान, विधि-विज्ञान इत्यादि के नाम से लिखा गया है।

तदनुसार काल-विज्ञान प्रकरण में काल के पूर्वोक्त विभागों का विवेचन किया गया है। इसके पढ़ने से भारतीयों में भारतीय संस्कृति की विचार-पूर्णता पर और प्राचीन तत्त्वों के विवेचन पर श्रद्धा उत्पन्न होगी ऐसी आशा है।

निरूपण-पद्धति

व्रतोत्सवों का विवेचन करते समय इस पुस्तक में इन विषयों का विचार किया गया है—(व्रत अथवा उत्सव का) समय, काल-निर्णय, विधि, समय-विज्ञान, विधि-विज्ञान, कथा और अभ्यास। इनके अतिरिक्त जिन विषयों को

विवेचनसापेक्ष समझा गया है उनका भी विवेचन किया गया है, जैसे अवतार-विज्ञान, माहात्म्य आदि। आगे इनमें से प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है।

१—समय

यह विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि इसमें केवल यही दिखाया गया है कि कौन व्रत अथवा उत्सव किस समय होता है और वह इसलिए आरम्भ में ही पृथक् दिया गया है, जिससे पाठक को यह आवश्यक वस्तु आगे ढूँढ़नी न पड़े।

२—काल-निर्णय

यह भारतीय धर्मशास्त्रों का बड़ा विवादग्रस्त विषय है। धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु तो प्रसिद्ध ही हैं; किन्तु उनके अतिरिक्त इस विषय में हेमाद्रि, कौस्तुभ, काल-माधव, मयूख आदि अन्य भी बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त तत्तत् सम्प्रदायों के निर्णय-ग्रन्थ भी हैं। इस पुस्तक में विवादग्रस्त विषयों का तो सारांश देना भी कठिन था। यदि उस झंझट में पड़ते तो इतनी बड़ी पुस्तक तो उसके एक अंश में ही समाप्त हो जाती और जिनके लिए यह लिखी गई है उनके लिए अनुपयोगी भी हो जाती। इसलिए किसी वाद-विवाद में न पड़कर यथासम्भव संक्षेप से काल-निर्णय का विचार किया गया है।

यह विषय छोड़ देना भी उचित नहीं था। यदि इसे सर्वथा छोड़ दिया जाता तो आरम्भिक तत्त्वों को भी न जानने के कारण साधारण मनुष्य बड़े चक्कर में पड़ जाते।

सारांश यह कि काल-निर्णय के विषय में जो कुछ इसमें दिया गया है वह वाद-विवाद के लिए नहीं, किन्तु प्रारम्भिक ज्ञान के लिए है। आशा है, आस्तिक भारतीय इसका यथाविधि उपयोग करेंगे।

३—विधि

व्रत या उत्सव के विषय में उसकी शास्त्रीय विधि जानना बहुत आवश्यक है। आजकल शास्त्रीय विधि न जानने के कारण व्रतों और उत्सवों का वास्तविक स्वरूप ही बिगड़ता जा रहा है। यद्यपि परम्परा के कारण व्रत और उत्सव चल

रहे हैं, पर उनमें बुढ़िया-पुराण ही आधार हो रहा है। शास्त्र में क्या लिखा है इसे बहुत ही कम मनुष्य जानते हैं। शास्त्र-विधि को यथार्थ रूप में जान लिया जाय एतदर्थ ही यह उद्योग है।

४—समय-विज्ञान

इस विज्ञान की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि आजकल भारतीय संस्कृति खिचड़ी हो रही है। उसमें कुछ बातें प्राचीन, कुछ अर्वाचीन, कुछ मुसलमानी युग की और कुछ अंग्रेजी युग की सम्मिलित हो रही हैं और होती जा रही हैं। हमारी काल-पद्धति भी इस स्थिति से अछूती नहीं है। बहुतेरे आधुनिक शिक्षित तो पुरानी परम्पराओं का सर्वथा उन्मूलन ही सुधार समझते हैं। हमें ऐसे अनेक लोगों के सम्पर्क में आना पड़ा है जो कहते हैं कि अब इन पुराने तिथि-नक्षत्रादि को समाप्त कर दिया जाना चाहिए और अंग्रेजी तारीखों के अनुसार ही सब धार्मिक कार्य भी करने चाहिएँ। ऐसे लोगों के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक वे हैं जो आग्रही हैं और पुरानी बातों का सर्वथा उच्छेद चाहते हैं। उनसे तो कुछ भी कहना व्यर्थ है' किन्तु जो लोग अज्ञान के कारण बहक जाते हैं उनको इस विषय को यथार्थ रूप में समझ लेने से यह ज्ञान तो हो सकेगा कि व्रतों और उत्सवों को हमारे पूर्वजों ने किस प्रकार बहुत सोच-विचारकर तत्तत् समयों पर निश्चित किया है और उन समयों को बदल देना मूर्खतापूर्ण और हानिकर है।

५—विधिविज्ञान

इसमें यह दिखाया गया है कि उत्सवों की विधियाँ कितनी वैज्ञानिक हैं। उनसे आध्यात्मिक लाभ तो है ही, क्योंकि उसी के लिए उनका विधान है, परन्तु भौतिक लाभ भी कम नहीं है। शारीरिक लाभ उनसे कितना अधिक है इसे समझाने के लिए इस प्रसंग में हमने आयुर्वेद शास्त्र का यथेष्ट उपयोग किया है, जिससे यह विदित हो सके कि भारतीय विधियाँ कितनी ऋतुओं के अनुकूल और स्वास्थ्योपयोगी हैं।

भारतीय चिकित्साविधि और पाश्चात्त्य चिकित्साविधियों में भेद

इस प्रसंग में हमें यह भी समझा देना आवश्यक प्रतीत होता है कि पाश्चात्त्य चिकित्साविधि कीटाणुओं पर आश्रित है, किन्तु भारतीय चिकित्साविधि त्रिदोष-

वाद पर आश्रित है। पाश्चात्य चिकित्सकों ने तत्तद् रोगों के कीटाणुओं का अनुसंधान किया है और उनके नष्ट कर देने को ही वे रोग की चिकित्सा समझते हैं, किन्तु भारतीय पद्धति रोगाणुओं के उत्पन्न न होने देने की विधि को प्रधानता देती है। अतएव उसमें ऋतुचर्या, दिनचर्या आदि भी वर्णित हैं। यह पद्धति बड़ी ही व्यापक है। कीटाणुवादपद्धति भी इसी के अन्तर्भूत हो जाती है, किन्तु कीटाणु-वादपद्धति से यह गतार्थ नहीं होगी।

बात यह है कि—शरीर में जो कीटाणु उत्पन्न होते हैं वे चेतन हैं अतएव जीवित पदार्थ हैं। इनकी भिन्न-भिन्न प्रकृतियाँ हैं। कितने ही ठण्डक में ही पैदा होते हैं और ठण्डक में ही जी सकते हैं, कितने ही गरमी में ही पैदा होते हैं और गरमी में ही जी सकते हैं और कितने ही सरदी-गरमी के अमुक परिमाण में बढ़ सकते हैं, अमुक परिमाण में कम होने लगते हैं और अमुक परिमाण में नष्ट हो जाते हैं। उस शरीर के अन्दर की सरदी-गरमी का नाम ही त्रिदोष है। गरमी को पित्त कहते हैं और सरदी के दो भेद हैं—एक रूक्ष तथा दूसरा चिक्कण। उनमें से रूक्ष सरदी को वात कहते हैं और चिक्कण सरदी को कफ। ये जब शरीर में साम्या-वस्था में रहती हैं—अर्थात् घटी-बढ़ी स्थिति में नहीं, तब प्राणी स्वस्थ रहता है। इसी बात को आयुर्वेद कहता है—'दोषसाम्यमरोगिता' (वाग्भट, सूत्रस्थान, १-१) इनके आधार पर ही शरीर में रोग के कीटाणु भी पनपते हैं। जब वात बढ़ जाता है तो वातप्रकृति के कीटाणु, पित्त बढ़ जाता है तो पित्तप्रकृति के कीटाणु और कफ बढ़ जाता है तो कफप्रकृति के कीटाणु जोर पकड़ने लगते हैं। उनके विरुद्ध वस्तु शरीर में पहुँचने पर वे शान्त हो जाते हैं। यद्यपि भारतीय शास्त्रों और आयुर्वेद में भी इन कीटाणुओं का विशेषरूपेण वर्णन नहीं है, तथापि शास्त्रकारों ने कीटाणुओं के उत्पादक तथा उपजीव्य उक्त दोषों को ही शान्त करने की विधि पर बल दिया है। यदि अनुकूल परिस्थिति न होगी तो कीटाणु या तो उत्पन्न ही न हो सकेंगे और किसी कारणवश उत्पन्न होंगे भी तो जीवित तो रह ही नहीं सकेंगे। फिर पाश्चात्य पद्धति के अनुसार भी रोगोत्पादन नहीं होगा। इस 'दोषसाम्य' को भी ध्यान में रखकर हमारी व्रतोत्सव-विधि है और संचित दोषों तथा कीटाणुओं का भी विनाश उसके कारण होता है। यही समझाने के लिए इस पुस्तक में यथास्थान आयुर्वेद के उद्धरण दिए गए हैं।

आशा है यह प्रकरण जिज्ञासु जनों के लिए उपयोगी होगा।

६—कथा

कथाभाग के विषय में संवत्सरोत्सव की कथा के प्रसंग में जो लिखा गया है वह यहाँ पुनः उद्धृत कर दिया जा रहा है। यद्यपि यह एक पुनरुक्तिमात्र है, पर इस भाग के पढ़ने के लिए वहाँ के पृष्ठों को टटोलने का प्रयास न करना पड़े इस लिए यह चेष्टा है। यह लेख यों है—

इस पुस्तक में व्रतों और त्योहारों को कथाएँ भी सरल भाषा में दी जा रही हैं। इस विषय में हम इतना निवेदन करना चाहते हैं कि पुराणों की यह शैली है कि साधारण जनों की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए इन कथाओं में प्रायः 'रोचनार्था फल-श्रुतिः' के न्याय से प्रत्येक व्रत अथवा उत्सव की अत्यन्त प्रशंसा रहती है। आधुनिक शिक्षित इससे उद्विग्न-से हो जाते हैं, पर शिक्षित पाठकों को भी तात्पर्य पर दृष्टि रखनी चाहिए—उन्हें सोचना चाहिए कि कथा-लेखक जिस कार्य में प्रवृत्त कर रहे हैं वह पूर्ण धार्मिक और विज्ञानानुमोदित है। साधारण जनता को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रशंसा की अधिकता ही उत्तम कार्यों की ओर आवर्जित कर सकती है, अतः आधुनिक शिक्षितों को कार्य के फल पर विचार कर कथा के नाम से घबड़ाना नहीं चाहिए।

७—अभ्यास

इस पुस्तक में प्रत्येक व्रतोत्सवों के अन्त में उस प्रसंग में आये विषयों के विषय में प्रश्न भी दिए गये हैं। इससे दो लाभ हैं—एक तो यह कि छात्र भी इस पुस्तक का उपयोग कर सकें और दूसरा यह कि जिज्ञासुओं को भी उस व्रत या उत्सव की विशेषता संक्षेप में विदित हो सके और उनकी जिज्ञासा जागरित हो।

८—अतिरिक्त

इन विषयों के अतिरिक्त इस पुस्तक में अवतार-विज्ञान, गंगा-माहात्म्य, यमुना-माहात्म्य इत्यादि के विषय में भी विचार किया गया है। आशा है, यह भी पाठकों को लाभप्रद होगा।

परिशिष्ट

भारतीय व्रतोत्सवों में भगवद्गीतोक्त, यज्ञ, दान तथा तप की ही प्रधानता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यही सब धर्मों का सार है। इसीलिए भगवद्गीता में

इन पर बार-बार बल दिया गया है। वह आध्यात्मिक दृष्टि भी सुज्ञ पुरुषों की दृष्टि में आ सके एतदर्थं मेरे एक प्राचीन लेख को पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट रूप में जोड़ दिया गया है। आशा है भारतीय व्रतोत्सवों की आध्यात्मिक उपयोगिता के बोध में यह भी उपयोगी होगा।

क्षमायाचना

अन्त में हम अपनी भूलों और भ्रमों के लिए विद्वानों से क्षमा चाहते हैं और प्रार्थना करते हैं कि मानव सुलभ दोषों पर दृष्टि न देते हुए जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें सुधारकर पुस्तक का सदुपयोग करें।

मकरसंक्रान्ति
विक्रम संवत् २०१३

विनीत
पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

विषय-सूची

प्रमाण-ग्रन्थ

[इस पुस्तक में जिन ग्रन्थों के उद्धरण दिए गए हैं उन ग्रन्थों की अथवा ग्रन्थकर्त्ताओं की वर्णक्रम-सूची]

शुद्धि-पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१२	४	'शुच'शब्द	'शुच'धातु
५६	१३	मुक्ति	मुक्त
५८	२१	मालटाल	मालताल
५९	५	मानने हैं	मानते हैं
६०	१९	वायु करनेवाला है और	वायु करनेवाला और ज्वरनाशक है
६६	१८	उसमें	उनमें
८१	१८	सन् १४५९	सन् १६५९
८४	८	पीयूषघारा	पीयूषधारा
१२४	२	तमः	नमः
१२७	४	मध्याह्न में थोड़ी हो	मध्याह्न में थोड़ी चतुर्थी हो
१२९	२०	सङ्कष्ट	सङ्कट
१५६	१०	दशन	दर्शन
२२४	४	भातृमती	भ्रातृमती
२२९	१०	ववन्त	वसन्त
२४५	८	उस पापी के पाप से लिप्त होऊँ। यदि मैं न आऊँ तो।	यदि मैं न आऊँ तो उस पापी के पाप से लिप्त होऊँ।

॥ श्रीहरिः ॥

भारतीय व्रतोत्सव

काल-विज्ञान

उपक्रम

सारे संसार के व्रत, उत्सव, पर्व अथवा त्यौहार किसी नियत समय पर किये जाते हैं, अतः तत्तद्देशीय व्रतोत्सवादि के समझने के लिये उन-उन देशों में प्रचलित काल-विभाग का समझना आवश्यक है। इस नियम के अनुसार जब तक भारतीय काल-विज्ञान यथार्थ रूप से न समझ लिया जावे तब तक भारतीय व्रतोत्सवादिक की वैज्ञानिकता को समझना सम्भव नहीं है, इस कारण सबसे पहिले यहाँ भारतीय काल-विज्ञान पर विचार किया जाता है।

काल के भेद

भारतीय उत्सवादि में ८ प्रकार का काल काम में आता है—१. संवत्सर, २. अयन, ३. ऋतु, ४. मास, ५. पक्ष, ६. तिथि, ७. वार और ८. नक्षत्र। आगे इनका क्रमशः यथाविधि विवरण दिया जा रहा है।

१–संवत्सर

सब ऋतुओं के पूरे एक चक्र को संवत्सर कहते हैं। अर्थात् किसी ऋतु से आरम्भ करके ठीक उसी ऋतु के पुनः आने तक जितना समय लगता है उसका नाम एक संवत्सर है।

संवत्सर के भेद

भारतीय संवत्सर यद्यपि पाँच प्रकार के हैं—सावन, सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और बार्हस्पत्य। तथापि इनमें से नाक्षत्र और बार्हस्पत्य संवत्सर केवल ज्यौतिष में ही काम आते हैं, इसलिये उनका विवरण यहाँ नहीं दिया जायगा। शेष तीन संवत्सरों का विवरण निम्नलिखित है:—

सावन—३६० दिन का। संवत्सर की स्थूल गणना इसी के अनुसार होती है। इसमें एक महीना पूरे तीस दिन का होता है।

चान्द्र—प्रायः ३५४ दिन का। अधिक मास इसी संवत्सर के अनुसार माना जाता है। अधिक मास होने पर इसमें १३ मास, अन्यथा १२ मास होते हैं। इसमें एक मास शुक्ल प्रतिप्रदा से अमावस्या तक अथवा कृष्ण प्रतिपदा से पूर्णिमा तक माना जाता है। पहले मास को अमान्त मास और दूसरे को पूर्णिमान्त मास कहते हैं। दक्षिण भारत में अमान्त मास प्रचलित है। उत्तर भारत में पूर्णिमान्त।

सौर—३६५ दिन का। यह सूर्य की मेषसंक्रान्ति के आरम्भ से प्रारम्भ होता है और पुनः मेषसंक्रान्ति आने तक चलता है।

भारत के व्रत-उत्सवादि में प्रायः चान्द्र संवत्सर ही काम में आता

---

१. सर्वर्तुपरिवर्त्तस्तु स्मृतः संवत्सरो बुधैः। (क्षीरस्वामिकृतायाममरकोशव्याख्यायां भागुरिवचनम्; कालवर्गः श्लो० २०)

है। किन्तु कई प्रान्तों में (जैसे बंगाल, पंजाब, नेपाल आदि में और कहीं-कहीं अन्यत्र भी) सौर वर्ष भी व्यवहार में आता है।

भारतवर्ष में प्रायः चान्द्र और सौर यही दो संवत्सर उपयोग में आते हैं, तथापि मोटे तौर पर जो ३६० दिन के संवत्सर की बात की जाती है वह सावन वर्ष के हिसाब से है, परन्तु व्यवहार में यह लगभग नहीं आता।

संवत्सर-विज्ञान

ऊपर बताया जा चुका है कि ऋतुओं के परिवर्त्त (चक्कर) को संवत्सर या वत्सर कहते हैं। अर्थात् सारी ऋतुएं जब एक बार समाप्त हो लेती हैं और उनका जब दुबारा चक्कर आरम्भ होता है तब एक संवत्सर पूरा होकर दूसरा संवत्सर आरम्भ होता है। अतएव यह कहा जाता है कि संवत्सर के अन्दर सब ऋतुएं रहती हैं। इसी प्रकार सब प्राणियों की आयु की गणना भी इन्हीं संवत्सरों के द्वारा होती है, अतः यह भी कहा जाता है कि जिसमें सब प्राणी रहते हैं उस समय-विभाग का नाम संवत्सर है।

उपर्युक्त दोनों व्युत्पत्तियों का सम्मिलित सारांश यह हुआ कि जो काल-विभाग सब ऋतुओं का और सब प्राणियों का आधार है उसका नाम संवत्सर है। तात्पर्य यह है कि यदि मानव को संवत्सर का ज्ञान न होता तो वह न ऋतु-विभाग को समझता और न प्राणियों की आयु की गणना ही हो सकती। लोगों को पता ही नहीं लगता कि कब शीत आरम्भ होगा, कब गरमी और कब वर्षा; और न यही पता लगता कि कोई प्राणी कब तक बालक रहेगा, कब युवा होगा और कब वृद्ध हो

---

१. संवसन्ति ऋतवोऽस्मिन् संवत्सरः (क्षीरस्वामी, अमरकोश, कालवर्ग २०)

२. संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि (निरुक्त अ० ४ पा० ४ खं० २७)

जायगा। इस तरह संवत्सर का प्रत्येक प्राणी के जीवन से सम्पूर्ण सम्बन्ध है। यदि हम इसे न समझते तो मनुष्यों का जीवन भी पशुओं की तरह अन्धकारमय हो जाता।

यह संवत्सर अथवा ऋतु-विभाग सूर्य के परिभ्रमण[1] से सम्बन्ध रखता है, अतः सूर्य संवत्सर अथवा काल का अधिदेवता कहा जाता है, क्योंकि यदि सूर्य न रहे तो न संवत्सर रहे और न काल-विभाग। जैसा कि ऋग्वेद में लिखा है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाऽधितस्थुः॥ (२-३-१४)

अर्थात् एकाकी विचरण करने वाले एक पहिये वाले रथ (अर्थात् सूर्य) को सात (वर्णवाली) रश्मियाँ अपने साथ जोड़ती हैं और अकेला सबको व्याप्त करने वाला वह सूर्य, सातों रश्मियों से रस लेता हुआ अथवा सप्तर्षियों से स्तुति किया जाता हुआ, जा रहा है। यह (ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त इन) तीन नाभियों वाला, कभी जीर्ण न होने वाला और किसी के सहारे न चलनेवाला चक्र (संवत्सर) है, जिसमें ये सब लोक स्थित हैं। (निरुक्त ४।४।२७)

इस मंत्र में पूर्वार्द्ध में सूर्य का और उत्तरार्द्ध[2] में संवत्सर का इस तरह दोनों का सम्मिलित वर्णन किया गया है।

---

१. सूर्य के परिभ्रमण के विषय में प्राचीन और नवीन विद्वानों में मतभेद है। आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है। प्राचीन विद्वानों में दोनों मत हैं—कुछ सूर्य का परिभ्रमण मानते हैं, कुछ पृथिवी का। यह ज्यौतिष का विषय है। यहाँ इसका विस्तार करने से एक विवादग्रस्त विषय उठ खड़ा होगा, जो प्रकृत विषय को गौण कर देगा। केवल इतना समझ लीजिए कि आधुनिक मतानुसार यहाँ 'सूर्य के परिभ्रमण' का अर्थ 'पृथिवी द्वारा सूर्य का परिभ्रमण' है।

२. 'संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्चः' (निरुक्त अ० ४ पा० ४ खं० २७)

२–अयन

सूर्य की गति[1] को अयन कहते हैं। अयन दो होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। कर्क संक्रान्ति (सौर श्रावण) से लेकर धन संक्रान्ति (सौर पौष) पर्यन्त दक्षिणायन होता है। इसमें श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष और पौष ये ६ महीने पड़ते हैं और मकर संक्रान्ति से लेकर मिथुन संक्रान्ति पर्यन्त उत्तरायण होता है। इसमें माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ ये ६ महीने पड़ते हैं।

अयन-विज्ञान

अयन शब्द का अर्थ गति[2] अथवा मार्ग[3] होता है। सूर्य सदा प्राची (पूर्व दिशा) के मध्य-विन्दु पर नहीं रहता, किन्तु चैत्र (मेष संक्रान्ति) से श्रावण (कर्क संक्रान्ति) के आरम्भ तक प्राची के दक्षिण भाग से उत्तर में जाता है और श्रावण से कार्तिक (तुला संक्रान्ति) के आरम्भ तक लौट कर वापिस प्राची के मध्यबिन्दु पर आ जाता है। कार्तिक से माघ (मकर संक्रान्ति) के आरम्भ तक प्राची के उत्तर भाग से दक्षिण भाग में बढ़ता है और तब वहाँ से लौटकर वैशाख (मेष संक्रान्ति) के आरम्भ में फिर प्राची के मध्यबिन्दु पर आ जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि श्रावण से लेकर पौष तक जिन महीनों में उत्तर के अन्तिम छोर से दक्षिण के अन्तिम छोर तक सूर्य हटता है उन ६ महीनों को दक्षिणायन और माघ से आषाढ़ तक जिन महीनों में दक्षिण के अन्तिम छोर से उत्तर के अन्तिम छोर तक सूर्य हटता है उन ६ महीनों को उत्तरायण कहते हैं।

उत्तरायण में दिन बड़े होने के कारण प्रकाश की अधिकता रहती

---

१. 'अयने द्वे गतिरुदग्दक्षिणाऽर्कस्य' (अमरकोश, कालवर्ग १३)

२. 'इण्' धातु से भावार्थक ल्युट् प्रत्यय करने से बने 'अयन' शब्द का अर्थ गति होता है। ३. 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः' (अमरकोश भूमिवर्ग १६)

है और दक्षिणायन में रात्रि बड़ी होने के कारण अन्धकार की अधिकता रहती है। शास्त्रों में प्रकाश को देवतत्त्व और अन्धकार को असुरतत्त्व माना गया है, अतः उत्तरायण को देवताओं का दिन[1] और दक्षिणायन को देवताओं की रात्रि[2] मानते हैं। इस कारण देवता[3], बाग-बगीचा, कुएँ आदि की प्रतिष्ठा उत्तरायण में ही की जाती है, क्योंकि उत्तरायण दक्षिणायन की अपेक्षा प्रकाश-प्रधान होने से शुभ-कार्यों के लिये प्रशस्ततर है।

३-ऋतु

ऊपर लिखा जा चुका है कि ऋतुओं के परिवर्त्त का नाम ही संवत्सर है। इसका अर्थ यह हुआ कि ऋतुएँ ही संवत्सर या काल की पहिचान हैं। यदि हमें ऋतुओं का ज्ञान न होता तो समय या काल को पहिचानना सर्वथा असम्भव हो जाता। इसलिये यदि यह कहा जाय कि ऋतुएँ ही समय का स्वरूप अथवा लक्षण हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी।

ऋतु-भेद

ऋतुएँ वास्तव में तीन[4] हैं। ग्रीष्म (गर्मी), वर्षा (बरसात) और हेमन्त (जाड़ा)। बाद में इन तीनों के दो-दो विभाग होकर ६ ऋतुएँ मानी जाने लगीं। आजकल यही ६ ऋतुएँ शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। उनके नाम हैं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर। चैत्र-वैशाख इन दो महीनों को वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ़ को ग्रीष्म, श्रावण-

---

१. 'अहस्तत्रोदगयनम्' (मनु० १।६६)

२. 'रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम्।' (मनु० १।६७)

३. 'देवतारामवाप्यादिप्रतिष्ठोदङ्मुखे रवौ।' मदनरत्ने सत्यव्रतः (निर्णयसिन्धु)

४. ऋग्वेद के (२-३-१४) 'त्रिनाभिचक्रम्' पद की व्याख्या करते हुए निरुक्त ने लिखा है कि 'त्र्यृतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति' (४।४।२७)

भाद्रपद को वर्षा, आश्विन-कार्तिक को शरद्, मार्गशीर्ष-पौष को हेमन्त और माघ-फाल्गुन को शिशिर कहते हैं।

वेदों में कहीं कहीं हेमन्त और शिशिर को एक ऋतु मान कर पाँच[1] ऋतुएँ भी मानी गई हैं।

ऋतु-विज्ञान

ऋतु शब्द 'ऋ गतौ' धातु से बना है। इसकी व्युत्पत्ति है 'इयर्तीति[2] ऋतुः' अर्थात् जो सर्वदा चलती रहे उसे ऋतु कहते हैं। ऋतु ही काल की गति (चाल) है अतएव शास्त्रों में ऋतु के अनुसार ही वस्तुओं का परिणाम बताया गया है। प्रत्येक प्राणी, वृक्ष, लता इत्यादि का विकास ऋतु के अनुसार ही होता है। इसीलिये वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो ऋतुएँ ही काल हैं। वेदों में चन्द्रमा को ऋतुओं का विधाता (निर्माण-कर्त्ता) बताया गया है। जैसा कि निम्नलिखित ऋचा में लिखा है—

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥ (ऋग्वेद १०-८५-१०)

कश्चित्पूर्वं गच्छति सूर्यः। अन्यस्तमनुचरति चन्द्रमाः। एवं पूर्वापरं पौर्वापर्येण मायया स्वप्रज्ञानेन एतौ आदित्यचन्द्रौ चरतः गच्छतो दिवि। तौ शिशू। शिशुवदभ्र-मणाज्जायमानत्वाद्वा शिशू इत्युच्येते। शिशू सन्तौ क्रीडन्तौ अन्तरिक्षे विहरन्तौ अध्वरं परियातः यज्ञं प्रति गच्छतः। तयोः अन्यः आदित्यः विश्वानि भुवना भुवनानि अभिचष्टे अभिपश्यति। ऋतून् वसन्तादीन्, अन्यः चन्द्रमाः, विदधत् कुर्वन् मासावर्ध-

---

१. 'पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमान इति' (ऋ० सं० २-३-१६-३) इति पञ्चर्तुतया। 'पञ्चर्तवः संवत्सरस्ये'ति च ब्राह्मणम्। हेमन्त-शिशिरयोः समासेन। (नि. ४।४।२७।)

२. 'इयर्ति ऋतुः' (अमरकोश की टीका में क्षीरस्वामी) 'अर्तेश्च तुः' (उणादि १–७१)

मासांश्च कुर्वन् पुनः जायते। यद्यप्युभयोरपि पुनर्जनिरस्ति तथापि सूर्यस्य सर्वदा प्रवृद्धेरुदयो नाभिप्रेतः। चन्द्रस्य तु ह्रासवृद्धि–सद्भावात्पुनः पुनर्जायत इत्युक्तिर्युक्ता। "चन्द्रमा वै जायते पुनः' इत्यादिश्रुतेः। (सायणभाष्य)

भाष्यानुसार इस मन्त्र का अर्थ यह है कि—ये दोनों बालक अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा अपने प्रज्ञान के द्वारा आकाश में पूर्व से पश्चिम अथवा आगे-पीछे चलते हैं। बालक इनको इसलिए कहा गया है कि ये दोनों ही बालक की तरह (खेलते हुए) भ्रमण करते हैं अथवा उदय होते ही घूमने लगते हैं। ये दोनों बालक बनकर खेलते हुए यज्ञ में जाते हैं। इन दोनों में से एक अर्थात् सूर्य सब लोकों को देखता है और दूसरा अर्थात् चन्द्रमा वसन्तादि ऋतुओं को बनाता हुआ बार-बार उत्पन्न होता रहता है। यद्यपि सूर्य-चन्द्रमा दोनों बार-बार उत्पन्न होते हैं तथापि सूर्य सदा एकरूप रहता है और चन्द्रमा बढ़ता-घटता रहता है, अतः उसकी बार-बार उत्पत्ति कही गई है।

परन्तु इस ऋचा का वास्तविक तात्पर्य समझने से सूर्य और चन्द्रमा दोनों ऋतुओं के विधाता हैं; क्योंकि सूर्य की ऋताग्नि में चन्द्र के सोमरस का मिश्रण होने से ही ऋतुएं बनती हैं। बात यह है कि चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है, अतः सोमरस तो चन्द्रमा की गति के अनुसार पृथिवी को प्रतिदिन समान रूप में प्राप्त होता रहता है, पर सूर्य का प्रभाव पृथिवी पर सदा एक-सा नहीं पड़ता। उत्तरायण में सीधी पड़ने के कारण सूर्य की तीव्र किरणें सोम के प्रभाव को क्रमशः कम करती चली जाती हैं, अतः क्रमशः उष्णता बढ़ती जाती है; और दक्षिणायन में क्रमशः सूर्य के दूर होते जाने के कारण सोम का प्रभाव अधिक होता जाता है, अतः उष्णता क्रमशः कम होती जाती है। इस उष्णता तथा शीत की घटा-बढ़ी के कारण ही ऋतुएँ बनती हैं। यह है ऋतुओं का सामान्य विज्ञान। अब आगे ऋतुओं के विशेष विज्ञान पर विचार किया जायगा।

तीन ऋतुओं का पक्ष

तीन ऋतुओं के पक्ष में तो एक-एक ऋतु का एक-एक चातुर्मास्य होता है। फाल्गुन से लेकर ज्येष्ठ तक चार महीनों की ग्रीष्म ऋतु, आषाढ़ से लेकर आश्विन तक वर्षा ऋतु और कार्तिक से लेकर माघ तक हेमन्त ऋतु होती है। इनमें से प्रत्येक का विज्ञान इस प्रकार है।

[१]ग्रीष्म—जिस ऋतु में रस (जल) सूखता है उस ऋतु को ग्रीष्म कहते हैं।

[२]वर्षा—जिसमें पर्जन्य अर्थात् [३]गरजता बादल अथवा इन्द्र जल सींचता है, उसे वर्षा कहते हैं।

[४]हेमन्त—जिस ऋतु में हिम (शीत अथवा बर्फ) रहता है उसे हेमन्त कहते हैं। हिम शब्द हिंसार्थक 'हन्'[५] धातु से अथवा वृद्ध्यर्थक 'हि'[६] धातु से बनता है। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार कमल आदि कई लताओं के विनाशक होने से और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार जौ, गेहूँ आदि का पोषक होने से ठण्ड या ओस हिम कहा जाता है और वह जिसमें हो उस ऋतु को हेमन्त कहते हैं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि एक संवत्सर में चार-चार महीने के तीन समय ऐसे आते हैं जिनमें क्रमशः जल सूखता है, जल बरसता है और धान्य तथा प्राणी आदि सभी पुष्टि प्राप्त करते हैं, वेही तीनों समय क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त नामक तीन ऋतुएँ कहलाती हैं।

---

१. ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः (निरुक्त ४।४।२७)

२. 'वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः' (निरुक्त ४।४।२७)

३. 'पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ' (अमर० नानार्थवर्ग १४६)

४. 'हेमन्तो हिमवान्' (निरुक्त ४।४।२७)

५. 'हन्तेर्हि च' (उणादि १-१-४७) इति मक्।

६. 'हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा।' (निरुक्त ४।४।२७)

छः ऋतुओं का पक्ष

छः ऋतुओं के पक्ष में एक-एक ऋतु दो-दो[१] मासों की होती है। ऊपर उन मासों के प्रचलित नाम लिखे जा चुके हैं। इन प्रचलित नामों का विज्ञान मास-प्रकरण में बतलाया जायगा। यहाँ केवल मासों के उन वैदिक नामों पर विचार किया जाता है जो ऋतुओं से सम्बन्ध रखते हैं।

वसन्त[२] में मधु[३] (चैत्र) और माधव[४] (वैशाख) मास, ग्रीष्म[५] में शुक्र[६] (ज्येष्ठ) और शुचि[७] (आषाढ़) मास, वर्षा[८] में नभस्[९] (श्रावण) और नभस्य[१०] (भाद्रपद) मास, शरत्[११] में इष[१२] (आश्विन) और ऊर्ज[१३] (कार्तिक) मास, हेमन्त[१४] में सहस्[१५] (मार्गशीर्ष) और

---

१. 'द्वौ द्वौ मार्गादिमासौ स्यादृतुः' (अमर० काल वर्ग १३)

२. 'मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू' (यजुःसंहिता १३।२५।)

३. 'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः।' (अमरकोश, कालवर्ग १५)

४. 'वैशाखे माधवो राधः।' (अमरकोश, कालवर्ग १६)

५. 'शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू।' (यजुः संहिता १४।६)

६. 'ज्येष्ठे शुक्रः' (अमरकोश, कालवर्ग, १६)

७. 'शुचिस्त्वयमाषाढे।' (अमरकोश, कालवर्ग, १६)

८. 'नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू' (यजुः संहिता १४।१५)

९. 'श्रावणे तु स्यात् नभाः' (अमरकोश, कालवर्ग, १६)

१०. 'स्युर्नभस्यप्रौष्ठपदभाद्रभाद्रपदाः समाः' (अमरकोश, कालवर्ग, १७)

११. 'इषश्चोर्जश्च शारदावृतू' (यजुः संहिता १४।१६)

१२. 'स्यादाश्विन इषोऽप्याश्वयुजोऽपि' (अमरकोश, कालवर्ग १७)

१३. 'कार्तिके बाहुलोर्जौ' (अमरकोश, कालवर्ग, १७)

१४. 'सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू' (यजुः संहिता १ः।२७)

१५. 'मार्गशीर्षः सहाः' (अमरकोश, कालवर्ग, १४)

सहस्य[१] (पौष) मास और शिशिर[२] में तपस्[३] (माघ) और तपस्य[४] (फाल्गुन) मास होते हैं।

पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त महीनों के नामों में मधु-माधव, शुक्र-शुचि, नभस्-नभस्य, इष, ऊर्ज, सहस्-सहस्य और तपस्-तपस्य इन नामों में इष और ऊर्ज, के अतिरिक्त (जिनमें केवल अर्थ-साम्य है) और सर्वत्र एक-एक ऋतु के दो-दो मासों में शब्द और अर्थ दोनों की समानता है। इस पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से यह बात सिद्ध होती है कि वसन्त का मधु से, ग्रीष्म का शुक्र से, वर्षा का नभस् से, शरद् का इष् और ऊर्ज् से, हेमन्त का सहस् से और शिशिर का तपस् से अवश्यमेव कोई सम्बन्ध है। आगे वैज्ञानिक सरणि से इन्हीं तत्त्वों के अनुसार प्रत्येक ऋतु का विचार किया जाता है।

वसन्त

मधु और माधव दोनों शब्द मधु से बने हैं। मधु[५] का अर्थ एक प्रकार का रस है जो वृक्ष, लता तथा प्राणियों को मत्त करता है। उस रस की जिस ऋतु में प्राप्ति होती है, उस ऋतु को वसन्त ऋतु कहते हैं। अतः हम यह देखते हैं कि इस ऋतु में विना ही वृष्टि के वृक्ष, लता आदि पुष्पित होते हैं और प्राणियों में भी मदन-विकार का प्रादुर्भाव देखा जाता है। इसी कारण क्षीरस्वामी ने वसन्त शब्द की 'वसन्त्यस्मिन् सुखम्-अर्थात् जिसमें प्राणी सुख से रहते हैं' ऐसी

---

१. 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' (अमरकोश, कालवर्ग, १५)

२. 'तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू' (यजुः संहिता १५।५७)

३. 'तपा माघे' (अमरकोश, कालवर्ग, १५)

४. 'स्यात् तपस्यः फाल्गुनिकः' (अमरकोश, कालवर्ग, १५)

५. 'मधु सोममित्यौपमिकम्। माद्यतेरिदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव' (निरुक्त ४।१।८)

व्युत्पत्ति की है। तात्पर्य यह है कि जिस ऋतु में प्राणियों को ही नहीं, किन्तु वृक्ष, लता आदि को भी आह्लादित करने वाला मधुरस प्रकृति द्वारा प्राप्त होता है उस ऋतुको वसन्त कहते हैं।

ग्रीष्म

इसी प्रकार शुक्र और शुचि शब्द 'शुच्' शब्द से बने हैं। 'शुच्' का अर्थ है जलना या सूखना। जिस ऋतु में पृथ्वी का रस (जल) सूखता या जलता है उस ऋतु का नाम ग्रीष्म है। अतएव हम देखते हैं कि ग्रीष्म ऋतु में वसन्त के उत्पन्न फल, पुष्प आदि में जल की अधिकता से जो कोमलता होती है उसे छोड़कर वे परिपक्व हो जाते हैं और पृथ्वी भी शुष्क हो जाती है। सारांश यह है कि वसन्त में वृक्ष, लतादि को जो मधुरस अथवा सोमरस मिलता है वह ग्रीष्म में अग्नितत्त्व की उग्रता से परिपक्व अथवा शुष्क हो जाता है। अतः ग्रीष्म उस ऋतु का नाम है जो पदार्थों को सुखाती अथवा परिपक्व करती है।

वर्षा

इसी प्रकार नभा और नभस्य शब्द 'नभस्' से बने हैं। 'नभस्' शब्द के यद्यपि यास्क ने अनेक विग्रह किये हैं, तथापि उन सबका तात्पर्य यही होता है कि रसों के अथवा प्रकाश के पहुँचानेवाले आदित्य को किंवा जिस के कारण प्रकाश का प्रतिबन्ध होता है उस तत्त्व (तम) को नभस् कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस पदार्थ के द्वारा रस अर्थात् जल पहुँचाया जाता है अथवा जो प्रकाश को

---

१. 'शुक् शोचतेः। शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः' (निरुक्त २।५।१४)

२. 'नभ आदित्यो भवति। नेता रसानाम्। नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा भन एवं स्याद्विपरीतः। न न भातीति वा।' (निरुक्त २।४।१४)

आच्छादित करता है उस तत्त्व का नाम नभस् है। वह तत्त्व जिस ऋतु में प्रधान रहता है उस ऋतु को वर्षा-ऋतु कहते हैं। सारांश यह है कि आठ[1] महीने तक जो जल सूर्य की किरणों से भाप बनकर आकाश में अव्यक्तरूप से स्थित था उस को व्यक्तरूप में लाकर जल का स्वरूप देने वाले तत्त्व को अथवा सूर्य को आच्छादित करने वाले तत्त्व को 'नभस्' कहते हैं। यह तत्त्व जिस ऋतु में काम करता है उस ऋतु का नाम वर्षा है।

शरद्

इष् और ऊर्ज् इन दोनों शब्दों का यद्यपि निघण्टु, (२।७।१४) में अन्न ही अर्थ किया है तथापि व्याख्याकारों[2] ने 'इष्' का अर्थ अन्न और 'ऊर्ज्' का अर्थ दुग्ध, घृत आदि रस माना है। इन्हीं 'इष्' और 'ऊर्ज्' शब्दों से इष और ऊर्ज बने हैं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जिस ऋतु में अन्न और घृत-दुग्धादि का परिपाक और प्राप्ति होती है उस ऋतु को शरद् कहते हैं। शरद् शब्द की निरुक्त में जो व्युत्पत्ति[3] की गई है, उससे उपर्युक्त वस्तु के अतिरिक्त यह भी सिद्ध होता है कि जिस ऋतु में ओषधियाँ (फसलें) पक जाती हैं अथवा जल (मैल को छोड़कर) शीर्ण हो जाता है अर्थात् स्वच्छ हो जाता है उसे शरद् ऋतु कहते हैं।

---

१. अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।

स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते। (श्रीमद्भागवत १०।२०।५)

२. 'सा नो मन्द्रेषमूर्जं दधाना' (ऋ० ६।७।५) की व्याख्या' इषम् अन्नम्, ऊर्जम् पयोघृतादिरूपं रसं च' (निरुक्तविवृति पृ० ४८२, मुकुन्दझावख्शीकृत, निर्णयसागरसंस्करण)।

३. शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति, शीर्णा आप इति।' (निरुक्त ४।४।२५)

हेमन्त

'सहस् शब्द' का अर्थ निघण्टु (२।६।१७) में बल किया गया है, क्योंकि सहन करना भी एक प्रकार से बल का कार्य है। सहा: और सहस्य शब्द इसी 'सहस्' शब्द से बने हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस ऋतु में अन्न-पानादि के उपयोग से बल की वृद्धि होती है उस ऋतु को हेमन्त कहते हैं। हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि अन्न-पानादि, अन्य ऋतुओं की अपेक्षा, हेमन्त में अधिक बल-प्रद होते हैं और प्राणियों की कार्यक्षमता भी हेमन्त में अधिक हो जाती है।

शिशिर

इसी प्रकार तपा: और तपस्य शब्द 'तपस्' शब्द से बने हैं। 'तपस्' शब्द 'तप सन्तापे' धातु से बना है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस ऋतु में बढ़ी हुई गरमी वृक्षों के पत्रादिक को पकाकर गिराती[1] है, अथवा शीत को शमन करती है, वह ऋतु शिशिर कहलाती है। अतएव शिशिर की व्युत्पत्ति 'शीर्यन्ते पर्णानि अस्मिन्निति शिशिरः' यह भी की जाती है।

सारांश

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि काल अथवा समय के द्वारा जो भिन्न-भिन्न परिणाम वर्ष के विभिन्न विभागों में प्रतीत होते हैं वे इन्हीं ऋतु-नामक काल के अवयवों के कारण होते हैं। वे सब परिणाम जब अपना-अपना रूप दिखाकर अपनी पुनरावृत्ति करने लगते हैं तब सब ऋतुएँ समाप्त हो जाती हैं और नवीन संवत्सर का आरम्भ हो जाता है। अतः काल के स्वरूप को यथार्थ रूप में प्रकट करने वाली ऋतुएँ ही हैं। अतएव भारतीय व्रतोत्सवादि में ऋतुओं को प्रधानता दी गई है। कोई व्रतोत्सव

---

१. 'शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा' (निरुक्त १।३।१०)

ऐसा नहीं होता जो एक वर्ष एक ऋतु में हो और दूसरे वर्ष किसी दूसरी ऋतु में, जैसे कि 'मुहर्रम' आदि मुसलमानी त्योहार कभी किसी ऋतु में होते हैं और कभी किसी में।

४–मास

मास[1] शब्द का अर्थ होता है चन्द्र-सम्बन्धी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि चान्द्रमास ही मुख्य है और चन्द्रमा से ही मास का ज्ञान होता है। अतएव वेद में चन्द्रमा[2] को मास का बनाने वाला बताया गया है। इसी चन्द्रवाचक 'मास्' शब्द का 'स्' को 'ह्' होकर फारसी का चन्द्रवाचक 'माह' शब्द बना है।

इसी कारण मासों के चैत्रादि प्रचलित नाम पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा जिस नक्षत्र पर रहता है उसके अनुसार बनाए गये हैं। जैसा कि अमरकोश के निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी मासे तु यत्र सा।
नाम्ना स पौषो माघाद्याश्चैवमेकादशापरे॥

अर्थात् जिस पूर्णिमा के दिन पुष्य नक्षत्र रहता है उस पूर्णिमा का नाम पौषी है और वह[3] पूर्णिमा जिस मास में हो उस मास को पौष मास कहते हैं। इसी तरह माघादिक अन्य ग्यारह मास भी हैं।

---

१. 'माश्चन्द्रस्तस्यायं मासः' (क्षीरस्वामी)

२. 'अरुणो मासकृद्वृकः' (ऋक्संहिता १।७।२३) 'वृकश्चन्द्रमा भवति, विवृतज्योतिष्को वा, विकृतज्योतिष्को वा, विक्रान्तज्योतिष्को वा' (निरुक्त ५।४।२०)

३. 'सास्मिन् पौर्णमासीति' (पाणिनि सू० ४।२।२१) इत्यनेन पौषीशब्दात् अण्प्रत्यये विहिते पौषशब्दः सिध्यति।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि—

चैत्र—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा चित्रा नक्षत्र पर हो।

वैशाख—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा विशाखा नक्षत्र पर हो।

ज्येष्ठ (जेठ)—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा ज्येष्ठा नक्षत्र पर हो।

आषाढ—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा उत्तराषाढा नक्षत्र पर हो।

श्रावण—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र पर हो।

भाद्रपद—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र पर हो।

आश्विन—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा अश्विनी नक्षत्र पर हो।

कार्तिक—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा कृत्तिका नक्षत्र पर हो।

मार्गशीर्ष—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा मृगशिरा नक्षत्र पर हो।

पौष—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र पर हो।

माघ—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्र पर हो।

फाल्गुन—उस मास को कहते हैं जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र पर हो।

यह तो है चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार मासों का निरूपण।

किन्तु ऋतुओं के पूर्वोक्त वैदिक विज्ञान के अनुसार मासों का विवरण निम्नलिखित प्रकार से होना चाहिये—

चैत्र—इसका नाम मधु है; क्योंकि इस मास में मधुरस उत्पन्न होता है, जिससे वृक्षादि पुष्पित एवं फलित होते हैं।

वैशाख—इसका नाम माधव है; क्योंकि इस मास में चैत्र मास से प्राप्त मधु का परिपाक होता है।

जेठ—इसका नाम शुक्र है; क्योंकि इस मास में सन्ताप (सूर्य की उष्णता) बढ़ता है।

आषाढ़—इसका नाम शुचि है; क्योंकि इस मास में सूर्य के सन्ताप से उत्पन्न परिणाम की प्रतीति होती है अर्थात् आम्रादि फल पक जाते हैं और उष्णता अतिमात्रा में बढ़कर वृष्टि के आरम्भ की सूचना देने लगती है।

श्रावण—इसका नाम नभस् है; क्योंकि इस मास में जल के प्रतिबन्धक तत्त्वों का विनाश होता है।

भाद्रपद—इसका नाम नभस्य है; क्योंकि इस मास में जल के प्रतिबन्धक तत्त्वों के विनाश का परिणाम प्रतीत होता है।

आश्विन—इसका नाम इष है; क्योंकि इस मास में नवीन अन्न परिपक्व होता है।

कार्तिक—इस मास का नाम ऊर्ज है; क्योंकि इस मास में परिपक्व अन्न-तृण आदि की प्राप्ति से गौ-आदि प्राणियों में घृत-दुग्ध आदि रसों का परिपाक होता है।

मार्गशीर्ष—इस मास का नाम सहस् है; क्योंकि इस मास में बल की अभिवृद्धि होती है।

पौष—इस मास का नाम सहस्य है; क्योंकि इस मास में प्राणियों का बल स्थिर होता है।

माघ—इस मास का नाम तपस् है; क्योंकि इस मास में ताप की क्रमशः वृद्धि होती है जिससे शीत-काल के शस्य (फसल) का परिपाक आरम्भ होता है।

फाल्गुन—इस मास का नाम तपस्य है; क्योंकि इस मास में अन्न-परिपाक का स्पष्ट परिणाम (जौ, गेहूँ, चने आदि का परिपाक) होता है।

५—पक्ष

पक्ष दो हैं—शुक्ल और कृष्ण। शुक्लपक्ष को पूर्वपक्ष और कृष्णपक्ष को अपरपक्ष भी कहते हैं।

पक्ष-विज्ञान

यद्यपि शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष दोनों में विचार करने से अँधेरा और उजेला समान ही रहता है; जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

'सम प्रकाश तम पाख दोउ'

अर्थात् महीने के दोनों पखवाड़ों में उजियाला और अँधेरा समान ही रहता है, तथापि जिस पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं की वृद्धि होने से प्रकाश प्रतिदिन अधिकाधिक होता जाता है उस पक्ष को स्वच्छता की वृद्धि के कारण शुक्लपक्ष कहते हैं और जिस पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं के ह्रास के कारण प्रतिदिन अन्धकार की वृद्धि होकर कालिमा अधिकाधिक होती जाती है उस पक्ष को कृष्णपक्ष कहते हैं, इस बात को सभी लोग जानते हैं।

६—तिथि

आरम्भ में लिखा जा चुका है कि भारतवर्ष में दो प्रकार की तिथियाँ काम में आती हैं—सौर तिथि और चान्द्र तिथि।

सौर तिथि—सौर तिथि दो प्रकार से मानी जाती है। एक प्रकार यह है कि—जिस दिन सूर्य की संक्रान्ति लगती है, उस दिन प्रथम तिथि मानी जाय। दूसरा प्रकार यह है कि संक्रान्ति के दूसरे दिन से प्रथम तिथि मानी जाय। ये तिथियाँ बंगाल और पंजाब में विशेषरूप से काम आती हैं और अन्यत्र भी शास्त्रीय दिनांक अथवा सौर तिथि के नाम से चलती हैं। परन्तु व्रतोत्सव आदि में इन तिथियों का उपयोग नहीं होता। अतः प्रकृत पुस्तक में सौर तिथियों पर विशेष लिखना ग्रन्थ-विस्तार मात्र होगा।

चान्द्र तिथि—धार्मिक कार्यों में चान्द्र तिथि ही सारे भारतवर्ष में काम में आती है। प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया आदि के नाम से जिनको हम पहिचानते हैं वे ये ही चान्द्रतिथियाँ हैं।

तिथि-विज्ञान

तिथियों का विज्ञान समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि जिस दिन सूर्य और चन्द्रमा एक बिन्दु पर आजाते हैं उस तिथि को अमावस्या कहते हैं और जिस तिथि को सूर्य और चन्द्रमा बिल्कुल आमने सामने रहते हैं उस तिथि को पूर्णिमा या पौर्णमासी कहते हैं। साधारण गणना के अनुसार इन तिथियों में (अमावस्या और पूर्णिमा में) पूरे पन्द्रह दिन का अन्तर रहना चाहिए, किन्तु प्रत्येक तिथि पूरे एक-एक अहोरात्र अर्थात् २४ घंटे या ६० घड़ी में समाप्त नहीं होती। इस कारण कभी तो अमावस्या से पूर्णिमा और पूर्णिमा से अमावस्या १५ दिनों में आती है, कभी १४ दिनों में और कभी १६ दिनों में। कभी-कभी १३ दिनों में भी आ जाती है।

कारण यह है कि ऊपर लिखे अनुसार तिथियाँ सूर्य और चन्द्रमा

---

१. अमा सह वसतोऽस्यां चन्द्राकौं' (अमरकोश की टीका में क्षीरस्वामी) अमावस्यदन्यतरस्याम् (पा० सू० ३।१।१२२)

की गति से सम्बन्ध रखती हैं। अतः जब सूर्य और चन्द्रमा की गति का अन्तर अधिक रहता है तब चन्द्रमा १५ दिनों की अपेक्षा १४ दिनों में ही सूर्य के सामने से साथ अथवा साथ से सामने आजाता है और यदि गति का अन्तर मन्द रहता है तो १६ दिन ले लेता है। यही तिथियों का बढ़ना अथवा घटना कहलाता है।

अब इस बात को और भी स्पष्ट करके समझिए। पहले कहा जा चुका है कि अमावस्या के दिन चन्द्रमा और सूर्य एक राशि पर समान अंशादि में रहते हैं, अतएव अमावस्या को सूर्येन्दुसंगम[1] भी कहते हैं। चन्द्रमा को पुनः उसी स्थान पर पहुँचने में लगभग २७ दिन लगते हैं। इधर प्रायः इतने ही दिनों में सूर्य अपनी एक राशि समाप्त कर पाता है। इस तरह सूर्य की दूसरी राशि पर जाकर चन्द्रमा पुनः उसके साथ संमिलित होता है। अर्थात् जैसे चैत्र की अमावस्या को दोनों मीन राशि पर थे तो वैशाख की अमावस्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा दोनों मेष राशि पर होने चाहिए। अब आप समझ सकते हैं कि सूर्य से दुबारा मिलने के लिए चन्द्रमा को पूरी तेरह राशियों का चक्कर लगाना पड़ेगा, जो उपर्युक्त प्रकार से लगभग ३० दिन में पूरा होगा। साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि एक राशि में तीस अंश होते हैं। इस तरह अमावस्या से अमावस्या अथवा पूर्णिमा से पूर्णिमा तक चन्द्रमा को (१२ + ३० = ३६०) तीन सौ साठ अंश चलना पड़ता है। इन ३६० अंशों को यदि तीस तिथियों में विभक्त करें तो एक तिथि के हिस्से में लगभग १२ अंश आते हैं। सारांश यह है कि चन्द्रमा के सूर्य से १२ अंश हटने का नाम एक तिथि है। यह १२ अंश कभी तो, जब चन्द्रमा शीघ्र चलता है तब, ५४ घड़ी में ही समाप्त हो जाते हैं और कभी, जब चन्द्रमा मंद चलता है, तो ६५ घड़ी तक ले लेते हैं। अर्थात् कभी तो २४ घंटे के बजाय १२ अंश साढे इक्कीस या बाईस घंटों में ही समाप्त हो जाते

---

१. 'अमावस्या त्वमावास्या दर्शः सूर्येन्दुसंगमः' (अमरकोश, काल वर्ग)

हैं और कभी चौबीस के बजाय छब्बीस घंटों में समाप्त होते हैं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सूर्य से चन्द्रमा जब १२ अंश आगे बढ़ा तब शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा समाप्त हुई, जब २४ अंश आगे बढ़ा तब द्वितीया समाप्त हुई, इत्यादि क्रम से अहोरात्र की जितनी घड़ियों पर प्रत्येक १२ अंश समाप्त होते रहते हैं, तदनुसार ही प्रतिपदा, द्वितीयादि तिथियाँ भी समाप्त होती रहती हैं। इसी को बोलचाल की भाषा में कहते हैं कि आज प्रतिपदा इतनी घड़ी है, आज द्वितीया इतनी घड़ी है—इत्यादि।

तिथियों की क्षय-वृद्धि

अब यदि चन्द्रमा शीघ्र चलता रहा और उसने दो-दो घण्टे अपनी गति में न्यून किये तो १२ दिनों में २४ घण्टे कम होंगे और इसी तरह एक अहोरात्र के पूर्व, बारहवें दिन ही चन्द्रमा की गति का (१२ अंश वाला) १३वाँ भाग समाप्त हो जायगा और १३ वें दिन चौदहवाँ भाग आरम्भ हो जायगा। इसको हम त्रयोदशी का क्षय कहेंगे, क्योंकि साधारण गणना के अनुसार तो प्रत्येक अहोरात्र में चन्द्रमा के १२ अंश ही समाप्त होने चाहिये और इस तरह १३वें अहोरात्र में १३वाँ भाग आना चाहिए, किन्तु जब हम देखते हैं कि १३वें भाग को १३वें अहोरात्र में कोई स्थान नहीं है, उस दिन तो प्रातःकाल से ही १४वाँ भाग आरम्भ हो गया है, तब १२वें अहोरात्र में ही १३वें भाग के समाप्त हो जाने के कारण त्रयोदशी का क्षय कहा जाता है।

इसी तरह यदि चन्द्रमा मन्दगति से चला और उसने अपना एक १२-१२ अंश वाला भाग २४ घण्टों के बजाय २६ घण्टों में समाप्त किया तो ये दो-दो घण्टे बचते-बचते अपने यथासंख्य अहोरात्र से आगे बढ़ जायेंगे। उदाहरणार्थ—यदि १२-१२ अंशों का चतुर्थ भाग चौथे अहोरात्र के सूर्योदय के समय आरम्भ होकर भी चौथे अहोरात्र में समाप्त न होकर ५वें अहोरात्र में कुछ अवशिष्ट रह जायगा तो इसे

हम चतुर्थी की वृद्धि कहेंगे, क्योंकि वह भाग चतुर्थ अहोरात्र में तो रहा ही, किन्तु पञ्चम अहोरात्र के सूर्योदय के समय भी वही रहा और यह नियम है कि सूर्योदय के समय १२-१२ अंशों वाले भाग में से जिस संख्या का भाग चल रहा होगा वही उस दिन की तिथि मानी जाती है, इस दृष्टि से पहले सूर्योदय में भी चतुर्थी रही और दूसरे दिन के सूर्योदय में भी चतुर्थी रही। इस तरह दो चतुर्थियाँ हो गईं। इसका नाम तिथि-वृद्धि है।

क्षय-वृद्धि क्यों ?

यहाँ साधारण लोग यह शंका कर सकते हैं कि इतने सूक्ष्म विज्ञान में प्रविष्ट होकर तिथियों की क्षय-वृद्धि मानने की अपेक्षा इस झंझट को छोड़ ही दिया जाय और तारीखों से काम लिया जाय तो क्या हानि है ? भारतीय व्रतोत्सवों की वैज्ञानिक महत्ता को न समझनेवाले मोटी बुद्धि के लोग ही नहीं, किन्तु पाश्चात्त्य काल-गणना के पक्षपाती कई एक अंग्रेजीदां भी ऐसी शंकाएँ करके लोगों को चक्कर में डाल देते हैं।

इस शंका का कारण यह है कि उन्हें पता नहीं कि भारतीयों के समस्त व्रतों और उत्सवों में यह बात ध्यान में रक्खी गई है कि सूर्य और चन्द्रमा दोनों की स्थिति प्रतिवर्ष उस-उस व्रत और उस-उस उत्सव के समय जैसी-की-तैसी ही रहे, क्योंकि ये दोनों अग्नि और सोम के आकर हैं और सारा जगत् अग्नीषोमात्मक है, अतः इन दोनों की अनुकूलता प्रतिकूलता पर ही प्राणियों के इष्ट-अनिष्ट (भला-बुरा) आधार रखते हैं, अतएव ऋषियों ने ज्यौतिषसम्बन्धी सब निर्णय प्रायः इन्हीं दोनों के आधार पर किये हैं।

आप देख सकते हैं कि इस तिथि-विज्ञान के प्रभाव से ही हमारी कोई जन्माष्टमी ऐसी नहीं होती, जिसमें अर्धरात्रि के समय चन्द्रोदय

न हो, कोई होली या राखी ऐसी नहीं होती जिस दिन पूर्णचन्द्र न हो, कोई दिवाली ऐसी नहीं होती जिसमें चन्द्र-दर्शन होता रहे और दीपावली करनी पड़े, इत्यादि।

यह बात भारतीयों के अतिरिक्त और किसी भी देश के व्रत-उत्सवों में नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ कोई एक्समस (ईसाई त्यौहार बड़ा दिन, जो जनवरी की २५ तारीख को होता है) ऐसा नहीं हो सकता कि जिसमें चन्द्रमा की अवस्था निश्चित हो। अर्थात् सन् १९४८ में एक्समस के दिन चन्द्रमा जिस स्थिति में था (खण्डित अथवा पूर्ण) वैसा ही सन् १९४९ में भी रहे। दूसरे त्यौहारों की भी यही दशा है।

इतना ही नहीं, हमारे इस तिथि-विज्ञान के कारण एक अपढ़ ग्रामीण भी बता सकता है कि आज अमावस्या है—चन्द्रमा नहीं उगेगा, आज अष्टमी है—चन्द्रमा आधा होगा, आज पूर्णिमा है—चन्द्रमा पूरा होगा—इत्यादि। परन्तु तारीखों के अनुसार यह बात किसी भी दशा में नहीं बताई जा सकती।

अब यदि तिथियों की क्षय-वृद्धि न मानी जाय तो चौदह दिन में होने वाली अथवा सोलह दिन में आने वाली अमावस्या अथवा पूर्णिमा को कोई नहीं बता सकेगा और धार्मिक कार्य जो पूर्णचन्द्र की तिथि में करने के हैं (शरत्पूर्णिमा आदि) वे कभी आधे चन्द्र की स्थिति में और कभी विना चन्द्र-दर्शन के ही होंगे तथा जो विना चन्द्र-दर्शन के करने के कार्य हैं (दिवाली आदि) वे पूरी चाँदनी में करने पड़ेंगे।

इसलिये भारतीय व्रतोत्सवों को समझने के लिए तिथियों की क्षय-वृद्धि के इस विज्ञान को समझना अत्यावश्यक है, अन्यथा सुधार के स्थान में बिगाड़ हो जावेगा। 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' = बनाने गए थे गणेश जी और बन गया बन्दर' वाली दशा होगी।

७–वार

वार शब्द का अर्थ अवसर अर्थात् 'नियमानुसार[1] प्राप्त समय' होता है। राजस्थान में 'ओसरा और 'वारा' शब्द ठीक इसी के अर्थ के द्योतक हैं। तदनुसार प्रकृत में 'वार' शब्द का अर्थ यह हुआ कि जो अहोरात्र (सूर्योदय से आरम्भ करके २४ घंटे अथवा ६० घड़ी–अर्थात् पुनः सूर्योदय पर्यन्त) जिस ग्रह के लिए नियमानुसार प्राप्त है, या यों कहिए कि जो ग्रह जिस अहोरात्र का स्वामी है, उसी ग्रह के नाम से वह दिन पुकारा जाता है। जैसे जिस अहोरात्र का स्वामी रवि है वह रविवार, जिस अहोरात्र का स्वामी सोम है वह सोमवार इत्यादि।

वारविज्ञान

अब विचार यह करना है कि अहोरात्रों के स्वामियों का रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि यह क्रम किस प्रकार निश्चित हुआ और वे उस अहोरात्र के स्वामी क्यों माने जाते हैं? क्रम के विषय में यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह क्रम खगोल (आकाश) में ग्रहों की स्थिति के अनुसार है, क्योंकि खगोल में इन ग्रहों की स्थिति का क्रम इस प्रकार[2] है—सबसे ऊपर शनि, उसके नीचे गुरु, गुरु के नीचे मंगल, मंगल के नीचे सूर्य, सूर्य के नीचे शुक्र, शुक्र के नीचे बुध और बुध के नीचे चन्द्रमा। सारांश यह है कि चन्द्रमा पृथिवी से सर्वाधिक समीप है और शनि पृथ्वी से सर्वाधिक दूर। सूर्य सबका मध्यवर्त्ती है। तदनुसार यदि पृथिवी की ओर से गिना जाय तो चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, गुरु और शनि यह क्रम होता है और शनि की ओर से गिना जाय तो शनि, गुरु, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध

---

१. देखिए 'वारोऽङ्गराजस्वसुः' (साहित्यदर्पण)

२. मन्दा-मरेज्य-भूपुत्र-सूर्य-शुक्रे-न्दुजे-न्दवः।
परिभ्रमन्त्यधोऽधःस्थाः सिद्धविद्याधरा घनाः॥
(सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो. ११)

और चन्द्रमा यह क्रम होता है, किन्तु वारों का उक्त क्रम इन दोनों में से किसी प्रकार का नहीं है।

इस शंका का समाधान यह है कि खगोलीय क्रम के अनुसार ग्रहों की होराएँ होती हैं, पूरा अहोरात्र नहीं। प्रत्येक होरा[1] २½ घड़ी अथवा ६० मिनट की होती है। होरा शब्द से ही इंगलिश (Hour आवर) शब्द बना है, जिसे आजकल हिन्दी में 'घंटा' और गुजराती में 'कला' के नाम से बोलने लगे हैं। इस तरह एक अहोरात्र में २४ होराएँ होती हैं। उनमें से पहली होरा उस अहोरात्र के स्वामी की होती है और बाद में उसी पूर्वोक्त खगोलीय क्रम के अनुसार क्रमागत निम्नवर्त्ती ग्रह की होरा आती रहती है। जैसे यदि पहली होरा शनि की हुई तो उसके निम्नवर्त्ती ग्रहों के हिसाब से शनि, गुरु, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्र इस प्रकार होराएँ होती चली जावेंगी। तदनुसार तीसरे पर्याय की समाप्ति के बाद (७×३=२१) बाईसवीं होरा पुनः शनि की होगी। तदनन्तर उसी क्रम से तेईसवें और चौबीसवें घंटे में गुरु और मंगल की होराएँ रहेंगी और पचीसवें[2] घंटे में अर्थात् दूसरे दिन के प्रातःकाल सूर्य की होरा होगी। इस होराक्रम के अनुसार शनि के दूसरे दिन सूर्य की, तीसरे दिन चन्द्र वा सोम की, चौथे दिन मंगल की, पांचवें दिन बुध की, छठे दिन गुरु की, सातवें दिन शुक्र की और तब फिर आठवें दिन प्रातःकाल पुनः शनि की होरा आ जावेगी। यही है वारों का क्रम। बात यह है कि जिस दिन प्रातःकाल जिस ग्रह की होरा होती है वही उस अहोरात्र का स्वामी होता है और वह अहोरात्र उसी का वार (अर्थात्

---

१. वारप्रवृत्तिसमयाद्धोराः सार्धघटीद्वयम्। (सूर्यसिद्धान्त की टीका में सुधाकर द्विवेदी द्वारा उद्धृत प्राचीन कारिका)

२. सात-सात की आवृत्ति के चौथे पर्याय में आई हुई यह पचीसवीं संख्या उक्त खगोलक्रम से चौथे-चौथे के हिसाब से पड़ती है। अतएव लिखा है—

'सूर्यादधःक्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपाः।' (सू. सि. भूगोलाध्याय श्लो. ७०)

नियमप्राप्त अवसर) होने के कारण उसके नाम से पुकारा जाता है।

खगोलीय क्रम में ऊपर से नीचे वाले ग्रह का क्रम प्राप्त होना भी उपपत्तियुक्त है, क्योंकि जब ऊपर का ग्रह अपना समय समाप्त कर लेगा तो गोल दायरे में उससे नीचे के ग्रह का समय अपने आप ही आ जाता है और उक्त क्रम की बात भी ठीक हो जाती है।

अब एक प्रश्न और अवशिष्ट रह जाता है कि उक्त क्रम मान लेने पर भी यदि ऊपर से चलें तो पहला वार शनि होना चाहिए और नीचे से चलें तो चन्द्र होना चाहिए, रवि तो किसी प्रकार पहला वार नहीं होता, किन्तु ज्यौतिष की गणना में रवि को ही प्रथम वार माना गया है। यह क्यों ?

इसका उत्तर भास्कराचार्य ने यह दिया है—

लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव।
मधोः सितादेर्दिनमासवर्षयुगादिकानां युगपत् प्रवृत्तिः ॥ (सि. शि.)

अर्थात् लङ्का नगरी (दक्षिणी निरक्ष[1] वृत्त अथवा दक्षिणी ध्रुव) में सर्वप्रथम सूर्योदय हुआ सूर्यवार को इस कारण चैत्रशुक्ल प्रतिपदा से दिन, मास, वर्ष और युगादिकों की एक साथ प्रवृत्ति हुई है। तात्पर्य यह कि काल-गणना का आरम्भ ही रविवार से आरम्भ हुआ है, अतः यह सर्वप्रथम वार माना जाय तो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिये।

सूर्यवार का सृष्टि का आरम्भ-दिवस होना उक्त आप्तवाक्य के अतिरिक्त युक्तिसिद्ध भी है, क्योंकि इस जड (शीतप्रधान) प्रकृति में जीवन-संचार करने वाला सूर्य ही है—सूर्य की गर्मी पाकर ही सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं और जीवित रहते हैं, अतः प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करने वाली काल-शक्ति द्वारा सृष्टि के आरम्भक भगवान् सूर्य के अतिरिक्त और किसको प्रथम वार (अवसर) दिया जा सकता है। अतः वार-

१. इसके विशेष विवरण के लिए देखिये—विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा का 'इन्द्रविजय' नामक ग्रन्थ।

गणना का रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि यह क्रम सर्वथा वैज्ञानिक है।

इसी वैज्ञानिकता के कारण धार्मिक व्रतोत्सवों और शुभ कार्यों में तिथियों और नक्षत्रों के साथ वारों को भी प्राशस्त्यसूचक माना जाता है और अनिष्ट ग्रहों के लिए तत्तद्वारों का व्रत और श्रावण आदि में सोमवारादि के व्रत भी किए जाते हैं।

८—नक्षत्र

२७ नक्षत्रों के नाम ये हैं:—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा भाद्रपदा, रेवती।

उत्तराषाढ़ा के चौथे चरण (अन्तिम चौथे भाग) और श्रवण के पहले पन्द्रहवें भाग को अभिजित् नक्षत्र के नाम से पुकारते हैं। इसकी गणना पञ्चशलाकाचक्र, सप्तशलाकाचक्र तथा अन्य कई कार्यों में की जाती है। इसको मिलाने से नक्षत्रों की संख्या २८ हो जाती है। इसका स्थान उत्तराषाढ़ा और श्रवण के बीच में है।

नक्षत्र-विज्ञान

ज्यौतिषी लोग जानते हैं कि प्रत्येक ग्रह खगोल की परिधि में पूरा चक्कर लगाने के बाद पुनः उसी स्थान पर आ जाता है, जहाँ से वह चला है। इस तरह एक-एक ग्रह की गति का एक अण्डाकार मार्ग बन जाता है, जिसे उस ग्रह का क्रान्तिवृत्त कहते हैं। इस वृत्त के १२ विभागों का नाम मेषादि १२ राशियाँ हैं। इस वृत्त में स्थान-स्थान पर कुछ ऐसे ताराओं के झुण्ड आते हैं जो अपनी कक्षा में स्थिर रहते हैं। उन्हीं तारा-समूहों को अश्विनी आदि नक्षत्रों के नाम से पुकारते हैं।

प्रत्येक ग्रह को इन ताराओं के झुण्डों के पास होकर गुजरना पड़ता है, इस बात को प्रत्येक खगोलवेत्ता भली प्रकार जानता है।

पञ्चाङ्ग में जो प्रतिदिन नक्षत्र लिखे रहते हैं वे इन्हीं तारा-व्यूहों के पास चन्द्रमा की स्थिति के परिचायक होते हैं, अर्थात् जिस दिन चन्द्रमा जिस ताराव्यूह के समीप होता है उस दिन वह उसी नक्षत्र पर समझा जाता है।

सुविधा के लिये ग्रहों के उक्त पूरे वृत्त को अश्विनी आदि सुपरिचित २७ तारा-व्यूहों के हिसाब से २७ विभागों में विभक्त कर लिया गया है। चन्द्रमा की गति के अनुसार पूर्वोक्त पूरे वृत्त का एक २७ वाँ भाग जितने समय में समाप्त होता है अथवा यों कहिए कि चन्द्रमा अपने वृत्त के २७ वें भाग को जितने समय में समाप्त कर लेता है और एक ताराव्यूह से द्वितीय ताराव्यूह तक जाता है, उसे उस-उस नक्षत्र का भाग कहते हैं। यह भाग भी तिथि के समान कभी २४ घण्टे या ६० घड़ियों से अधिक समय में पार किया ज़ाता है और कभी कम समय में। इस तरह जब उक्त सत्ताईसों भाग समाप्त हो जाते हैं तब चन्द्रमा आकाश में पुनः उसी स्थान पर आ जाता है।

पहले यह बताया जा चुका है कि चन्द्रमा और सूर्य का ही प्राणियों के जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ता है और नक्षत्रों के अनुसार ही खगोल में चन्द्रमा की ठीक-ठीक स्थिति प्रतीत होती है; अतः चन्द्रमा के वर्तमान प्रभाव को जानने के लिये पञ्चाङ्ग के नक्षत्रों का जानना अत्यावश्यक है और इसीलिये भारतीयों के प्रत्येक धार्मिक कार्य में वेदों के समय से लेकर अब तक इन चान्द्र नक्षत्रों की प्रधानता मानी जाती रही है। नक्षत्र-शुद्धि के बिना विवाहादि नहीं होते। अनेक व्रतोत्सव भी नक्षत्रों के अनुसार होते हैं। आगे आप देखेंगे कि कई भारतीय व्रतोत्सवों में नक्षत्रों की भी वैसी ही प्रधानता है जैसी तिथियों की।

संवत्सरारम्भ

समय

चैत्रशुक्ल प्रतिपदा

काल-निर्णय

इसमें सूर्योदय-व्यापिनी प्रतिपदा लेनी चाहिए। दोनों दिन सूर्योदय में प्रतिपदा हो या दोनों ही दिन सूर्योदय में प्रतिपदा न हो तो पहले[1] दिन ही करना चाहिए।

यदि अधिक मास आ जावे तो भी प्रथम चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही संवत्सरारम्भ मानना चाहिए; क्योंकि ऐसा अधिक मास अगले वर्ष में ही गिना जाता[2] है।

विधि

इस दिन घरों[3] पर ध्वजा लगाना, पञ्चाङ्ग-श्रवण, तैलाभ्यङ्ग और मिश्री तथा काली मिर्च-सहित नीम के पत्ते खाये जाते हैं। पञ्चाङ्गों में

---

१. 'वत्सरादौ वसन्तादौ वलिराज्ये तथैव च।
पूर्वविद्धैव कर्त्तव्या प्रतिपत् सर्वदा बुधैः॥' (निर्णयसिन्धौ वृद्धवशिष्ठवचनम्)

२. 'निष्कर्षस्तु 'शुक्लादेर्मलमासस्य सोन्तर्भवति चोत्तरः।' इत्यादिवचनात् अग्रिमवर्षान्तःपातान् मलमासमारभ्यैव वर्षप्रवृत्तेः शुक्रास्तादाविव मलमास एव कार्य इति वयं प्रतीमः' (निर्णयसिन्धौ)

३. 'प्राप्ते नूतनवत्सरे प्रतिगृहं कुर्याद्ध्वजारोपणम्,
स्नानं मङ्गलमाचरेद् द्विजवरैः साकं सुपूज्योत्सवैः॥
देवानां गुरुयोषितां च शिशवोऽलङ्कारवस्त्रादिभिः
सम्पूज्यो गणकः फलं च शृणुयात्तस्माच्च लाभप्रदम्॥'

जो श्लोक लिखे रहते हैं उनमें नीम के पत्ते के साथ मिश्री के स्थान पर नमक[1] और हींग, जीरा तथा अजवायन लिखे हैं। तैलाभ्यङ्ग[2] इस दिन अनिवार्य माना जाता है।

धर्मशास्त्रों में इस दिन महाशान्ति करने का और ब्रह्माजी[3] के एवं वर्ष, मास, ऋतु, पक्ष, दिवस आदि कालावयवों के पूजन का भी विधान है।

इस दिन आरोग्यव्रत[4] और तिलकव्रत भी किये जाते हैं।

समय-विज्ञान

ऊपर लिखा जा चुका है कि ऋतुओं के परिवर्त्त का नाम संवत्सर है। अब देखना यह है कि इस चक्र का आरम्भ कब से होना चाहिए, क्योंकि जो गोल या चक्र के आकार की वस्तु होती है उसका कहीं

---

१. 'पारिभद्रस्य पत्राणि कोमलानि विशेषतः।
सपुष्पाणि समादाय चूर्णं कृत्वा विधानतः॥
मरिचं लवणं हिङ्गु जीरकेण च संयुतम्।
अजमोदायुतं कृत्वा भक्षयेद्रोगशान्तये॥' (अन्यत्र)

२. 'वत्सरादौ वसन्तादौ बलिराज्ये तथैव च।
तैलाभ्यङ्गमकुर्वाणो नरकं प्रतिपद्यते॥' वशिष्ठः (निर्णयसिन्धौ)

३. 'तत्र कार्या महाशान्तिः सर्वकल्मषनाशिनी।
सर्वोत्पातप्रशमनी कलिदुःखप्रणाशिनी॥
आयुःप्रदा पुष्टिकरा धनसौभाग्यवर्धिनी।
मङ्गल्या च पवित्रा च लोकद्वयसुखावहा॥
तस्यामादौ च सम्पूज्यो ब्रह्मा कमलसंभवः।' इत्यादि
(मयूखकार श्रीनीलकण्ठभट्ट के पुत्र श्रीशंकरभट्ट-विरचित व्रतार्क में)

४. उक्त व्रतार्क में ही।

कोना नहीं होता, अतएव उसका आरम्भ या समाप्ति कहीं भी समझे जा सकते हैं। फिर क्या कारण है कि चैत्रशुक्ल प्रतिपदा को ही संवत्सर का आरम्भ हो—यह प्रश्न हो सकता है।

उत्तर यह है कि यों तो धर्मशास्त्रों में ब्रह्मपुराण का—

'चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।
शुक्लपक्षे समग्रं तु तदा सूर्योदये सति॥'

अर्थात् ब्रह्माजी ने चैत्रमास में शुक्ल-पक्ष के प्रथम दिन सूर्योदय होने पर जगत् की सृष्टि की है।

यह वाक्य उद्धृत किया है, जिससे यह विदित होता है कि सृष्टि का आरम्भ इसी दिन हुआ है, अतः इस तिथि को संवत्सरारम्भ का दिन कहते हैं। तदनुसार ही यह उत्सव है।

परन्तु यह वाचनिक निर्णय कहा जा सकता है, वैज्ञानिक अर्थात् सोपपत्तिक नहीं। इसलिए नीचे इस पर वैज्ञानिक विचार किया जाता है—

ऐतिहासिकों का कथन है कि वैदिक-काल में संवत्सरारम्भ अनेक प्रकार से माना जाता था—कभी किसी ऋतु से और कभी किसी ऋतु से। उनका कहना है कि कभी मार्गशीर्ष मास से संवत्सरारम्भ होता था, अतएव इस मास का नाम 'आग्रहायण' (अग्रे हायनं यस्य) अथवा 'आग्रहायणिक' कहा जाता है। इसी प्रकार शरत् और वर्षा से भी संवत्सरारम्भ होता था, इसी कारण संवत्सर का संस्कृत में 'शरद्' और 'वर्ष' भी नाम है। अनेक पाश्चात्त्य और पौरस्त्य ऐतिहासिक विद्वानों का ऐसा मत है। संभव है, अत्यधिक प्राचीनकाल में ऐसा होता रहा हो।

किन्तु जहाँ तक हमने सोचा है, भारतवर्ष के लिए वसन्तारम्भ से ही वर्ष का आरम्भ माना जाना वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इसका एक कारण तो यह है कि वसन्त ऋतु नवीन पत्र-पुष्पों द्वारा प्रकृति के

नव श्रृङ्गार का आरम्भ-समय है। हम देखते हैं कि प्रत्येक वृक्ष-लता आदि इस समय अपने पुराने जीर्ण-शीर्ण पत्रादिकों को छोड़ कर वर्षभर के लिए पुनः नवीनता धारण करते हैं; इसलिए प्रकृति को नवीनता-प्रदान करने वाली इस ऋतु में वर्ष का आरम्भ माना जाय यह उचित ही है।

दूसरा कारण यह भी है कि सूर्य, निरयन पक्ष के अनुसार और सायन पक्ष के अनुसार भी, अपने राशि-चक्र की प्रथम राशि मेष पर इसी ऋतु में आता है।

तीसरा और वैज्ञानिक कारण यह है कि पूर्वोक्त काल-विज्ञान में उल्लिखित ऋतु-विज्ञान के अनुसार वर्ष भर की छः ऋतुएँ, उष्ण और शीत के हिसाब से, तीन-तीन ऋतुओं के दो समूहों में बाँटी जा सकती हैं। उनमें से उष्णता-प्रधान तीन ऋतुएँ हैं—वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा। अन्य शेष तीन शीत-प्रधान हैं—शरद्, हेमन्त और शिशिर। यही उष्ण और शीत, जिनको वेदों में अग्नि और सोम के नाम से कहते हैं, जगत् के जीवों के जीवन के प्रधान हेतु हैं, अतएव 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' कहा जाता है।

इन दोनों में शीत प्रकृति का स्वाभाविक रूप है, अतएव मृत शरीर शीतल हो जाता है और उष्णता जीवन का लक्षण है। यदि प्रकृति में उष्णता न आवे तो प्राणियों की उत्पत्ति न हो। अतएव इस मृत प्रकृति को जीवनप्रदान करने के कारण ही सूर्य, जो उष्णता का आकर है, मार्तण्ड[1] कहा जाता है। ऋतुओं में उष्णता का आरम्भ वसन्त ऋतु से ही होता है, इसलिए भी वसन्त में ही वर्ष का आरम्भ उचित प्रतीत होता है और इसी विज्ञान को लेकर सम्भवतः उपर्युक्त

---

१. 'मृतेण्ड एष एतस्मिन् यदभूत्ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः'

(श्रीमद्भागवत ५।२०।४४)

पुराणवाक्य में ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि का आरम्भ इस दिन माना गया है। जिसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि प्रकृति पहले सर्वाङ्गशीतल थी, ऋतुपरिवर्त्तन में वसन्त ने उसे सबसे पहले उष्णता दी और उसी दिन से सृष्टि का आरम्भ हुआ। बात भी ठीक है, क्योंकि बिना उष्णता के तो जीवन का आरम्भ हो ही नहीं सकता। अतः वसन्त ऋतु में ही वर्षारम्भ भारतवर्ष की ऋतुओं के अनुसार उचित प्रतीत होता है।

चैत्र-मास ही क्यों ?

इस वसन्त ऋतु में भी दो मास हैं—चैत्र और वैशाख। उनमें से चैत्र में वर्षारम्भ होने का एक कारण तो यही हो सकता है कि यह वसन्त ऋतु का प्रथम मास है और बिना किसी विशेष कारण के प्रथम मास का अतिक्रमण करके द्वितीय मास में संवत्सर का आरम्भ करने में कोई मुख्य हेतु नहीं। दूसरे, पुष्प-पल्लवादि निकलते भी इसी मास में हैं, क्योंकि मधु-रस उनको इस मास में ही प्राप्त होता है। माधव (वैशाख) में तो मधु-रस का परिणाममात्र होता है। इसलिए चैत्र में संवत्सरारम्भ माना जाना भी उचित ही है।

शुक्ल-पक्ष और प्रतिपदा ही क्यों ?

अब प्रश्न यह होता है कि चैत्र-मास वसन्त का आरम्भ है तो उसके कृष्ण-पक्ष में वर्षारम्भ न होकर शुक्ल-पक्ष में क्यों होता है ? इसका उत्तर शुक्लादि मास माननेवालों के लिए तो सहज ही है; क्योंकि उनके यहाँ चैत्र का आरम्भ ही वहीं से है; परन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि कृष्ण-पक्ष से चैत्र का आरम्भ माननेवाले भी वर्षारम्भ चैत्र-शुक्ल से ही मानते हैं। इसका कारण यही है कि सभी धार्मिक कार्यों में चन्द्रमा का उतना ही महत्त्व माना गया है जितना कि सूर्य का। दूसरे, जीवन के आधारभूत वृक्ष-लतादि को सोमरस-प्रदान करनेवाला

भी चन्द्रमा ही है, अतएव चन्द्रमा को ओषधि[1] और वनस्पतियों का राजा भी कहा जाता है। सो अभिवर्धमान चन्द्र में ही नवीन संवत्सर का आरम्भ कृष्ण-पक्ष से मासारम्भ माननेवालों को भी उचित प्रतीत हुआ यह स्वाभाविक ही है।

इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रतिपदा ही वर्षारम्भ का दिन क्यों माना गया है, क्योंकि वही दिन चन्द्रमा की प्रथम कला के आरम्भ का है। उसे छोड़कर किसी दूसरे दिन वर्षारम्भ मानना अनुपपन्न था, क्योंकि तब तो चन्द्रमा अपूर्ण अथवा पूर्ण ही प्राप्त होता जो आरम्भ का नहीं, किन्तु मध्य का अथवा अन्त का समय होता है।

विधि-विज्ञान

भारतीय त्योहारों का यह नियम है कि जो विधियाँ इन त्योहारों में प्रयुक्त होती हैं, वे सभी प्रायः शारीरिक और मानसिक लाभ पहुँचाने की दृष्टि से रखी गई हैं न कि केवल पारलौकिक दृष्टि से ही। इस नियम के अनुसार संवत्सरोत्सव के दिन जो तैलाभ्यङ्ग और मिश्री, काली मिर्च आदि के साथ नीम के कोमल पत्तों के खाने का विधान है यह भी सर्वथा वैज्ञानिक है।

रोगोत्पत्ति के विषय में यह बात ध्यान में रखने की है कि अधिकांश रोग चर्म-सम्बन्धी मलिनता से तथा उदर की अशुद्धि से उत्पन्न होते हैं।

उनमें से चर्म-सम्बन्धी विकारों को निवृत्त करने में तिल के तैल का अभ्यङ्ग विशिष्ट स्थान रखता है। अतएव आयुर्वेदवालों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वाग्भट ने लिखा है—

'अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥'

---

१. 'ओषधीशो निशापतिः' (अमरकोश दिग्वर्ग १४)

अर्थात् प्रतिदिन अभ्यङ्ग करना चाहिए। वह बुढ़ापा, थकावट तथा वायु को निवृत्त करनेवाला, दृष्टि बढ़ानेवाला, प्रसन्नता, पुष्टता, आयु और निद्रा देनेवाला तथा त्वचा की सुन्दरता एवं दृढ़ता करनेवाला है। अभ्यङ्ग की प्रशंसा चरक-संहिता में तो और भी विस्तार से लिखी है।

"स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्।
भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढः क्लेशसहो यथा॥
तथा शरीरमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वक् च जायते।
प्रशान्तमारुताबाधं क्लेशव्यायामसंसहम्॥
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम्।
त्वच्यश्च परमभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः॥
न चाभिघाताभिहतं गात्रमभ्यङ्गसेविनः।
विकारं भजतेऽत्यर्थं बलकर्मणि वा क्वचित्॥
सुस्पर्शोपचिताङ्गश्च बलवान् प्रियदर्शनः।
भवत्यभ्यङ्गनित्यत्वान्नरोऽल्पजर एव च॥
खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः।
दृष्टिः प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति॥
न च स्याद् गृध्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न च।
न सिरास्नायुसंकोचः पादाभ्यङ्गेन पादयोः॥

अर्थात् जिस तरह चिकनाई लगाने से घड़ा और चिकनाई चुपड़ने से चमड़ा तथा उपाङ्ग (वांगने) से (गाड़ी की) धुरी दृढ़ एवं कष्ट सहन करनेवाले हो जाते हैं वैसे ही शरीर अभ्यङ्ग से दृढ़, अच्छी त्वचावाला, वातपीड़ा से निवृत्त और कष्ट तथा व्यायाम को अच्छी तरह सहन करनेवाला हो जाता है। यतः सबसे अधिक वायु स्पर्शेन्द्रिय में रहता है और स्पर्शेन्द्रिय त्वचा के आश्रित है और अभ्यङ्ग त्वचा के लिए सबसे अधिक हितकारी है, अतः मनुष्य को अभ्यङ्ग का अभ्यास करना

चाहिए। अभ्यङ्गसेवन करनेवाले का शरीर चोट खाने पर भी अथवा कहीं जोर करने पर भी विकारी नहीं होता। नित्य अभ्यङ्ग करने से मनुष्य के अङ्ग सुस्पर्श (मुलायम) हो जाते और बढ़ते हैं, वह बलवान् सुन्दर और कम बुढ़ापेवाला हो जाता है। खुरदरापन, अकड़ना, रूखापन, श्रम, पैर सो जाना तथा वायु शान्त हो जाता है और दृष्टि प्रसन्नता (स्वच्छता) को प्राप्त हो जाती है। पैरों का अभ्यङ्ग करने से पैरों में गृध्रसी वायु, पैरों का फूटना और सिराओं तथा स्नायुओं का संकोच नहीं होता।"

आप ही बतलाइए, वत्सरारम्भ में इससे अधिक उपयोगी बाह्योपचार और क्या हो सकता है। अभ्यङ्ग को अनिवार्य करने का मुख्य कारण यह है कि इस प्रथम दिन से ही अभ्यङ्ग का अभ्यास हो जाय, जिससे मनुष्य बाह्य-मल-संक्रम और चर्मरोगों से बचा रहे।

इसी प्रकार ज्वरादि रोगों की निवृत्ति के लिए निम्ब का उपचार भी प्रसिद्ध है। इसके लिए किसी प्रकार का प्रमाण देना ग्रन्थ-विस्तार मात्र ही होगा।

किन्तु इतना लिख देना आवश्यक है कि नीम अत्यन्त कड़ुआ होता है और अत्यन्त कड़ुए रस वाली वस्तु वायु[1] उत्पन्न करती है। कड़ुआ नीम वायु न करे इसलिए उसमें मिश्री मिला दी जाती है, जो मधुर रस के कारण वायु को शान्त करती है। इसी तरह मधुर रसवाली वस्तु कफ उत्पन्न करती है, उसको शान्त करने के लिए उसमें चिरपरी[2] वस्तु कालीमिर्च मिला दी जाती है, जिससे यह मिश्रित प्रयोग त्रिदोषघ्न

---

१. 'कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति। मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति॥'
(चरकसंहिता विमानस्थान १–७)

२. 'मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति।' (वही)

बनकर सर्वरोगनिवारक हो गया है। ऐसी वस्तु का संवत्सरारम्भ में सेवन करना हितकारी है यह स्पष्ट ही समझा जा सकता है। जो लोग मिश्री न मिलाकर नमक मिलाते हैं उनके मिश्रण में भी लवण वातनाशक, कफजनक और मिर्च कफनाशक है। सो वह भी उचित ही है।

इसके अतिरिक्त उत्सवसंबन्धी ध्वजारोपण और संवत्सर के कालज्ञान के लिए पञ्चाङ्गश्रवण की, जो इस उत्सव के अङ्ग हैं, उपपत्तियाँ तो स्पष्ट ही हैं, क्योंकि ध्वजारोपण ऐश्वर्य तथा विजय का सूचक है, जो संवत्सर के आरम्भ में सभी को सर्वात्मना अभीष्ट है और पञ्चाङ्गश्रवण इसलिए है कि प्रतिदिन काल-ज्ञान करके ही सब कार्य करने चाहिए, जिसका अभ्यास प्रथम दिन से ही हो जावे।

ब्रह्मा जी के पूजन की उपपत्ति भी स्पष्ट ही है, क्योंकि संवत्सरारम्भ ही सृष्टि के आरम्भ का दिन है और परमात्मा की तीन विभूतियाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश में से ब्रह्मा ही सृष्टि के अधिष्ठाता देवता हैं, अतः इस दिन परमात्मा की ब्रह्मा के रूप में आराधना उचित ही है। दूसरे, नवीन वर्ष में प्रत्येक प्राणी चाहता भी यही है कि नवीन-नवीन वस्तुएँ खूब उत्पन्न हों, जिससे देश समृद्धिशाली बने। सो उसके लिए भी परमात्मा की सृष्टिकर्ता के रूप में ही आराधना अपेक्षित है। संवत्सरादि कालावयवों की पूजा तो उस दिन होनी ही चाहिए, क्योंकि संवत्सर, जिसका आरम्भ हो रहा है, वह स्वयं कालावयव रूप ही है।

कथा के विषय में

(इस पुस्तक में व्रतों और त्योहारों की कथाएँ भी सरल भाषा में दी जा रही हैं। इस विषय में हम इतना निवेदन कर देना चाहते हैं कि पुराणों की यह शैली है कि साधारण जनों की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए इन कथाओं में प्रायः 'रोचनार्था फलश्रुतिः' के न्याय से प्रत्येक व्रत अथवा उत्सव की अत्यन्त प्रशंसा रहती है। आधुनिक शिक्षित इससे उद्विग्न-से हो जाते हैं, पर शिक्षित पाठकों को भी तात्पर्य

पर दृष्टि रखनी चाहिए—उन्हें सोचना चाहिए कि कथा-लेखक जिस कार्य में प्रवृत्त कर रहे हैं वह पूर्ण धार्मिक और विज्ञानानुमोदित है। साधारण जनता को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रशंसा की अधिकता ही उत्तम कार्यों की ओर आवर्जित कर सकती है, अतः आधुनिक शिक्षितों को कार्य के फल पर विचार कर कथा के नाम से घबड़ना नहीं चाहिए।)

संवत्सरोत्सव की कथा

श्रीभगवान् ने कहा कि चैत्र मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन सूर्योदय के समय ब्रह्मा जी ने समग्र जगत् को उत्पन्न किया तथा काल की गणना भी आरम्भ की। ब्रह्माजी ने सब देवताओं की सभा करके उनको ग्रह, ऋतु, मास, पक्ष ये सब प्रदान किये। अत एव इस दिन ब्रह्माजी की तथा उक्त कालावयवों की उपासना करते हैं। सृष्टि के आरम्भ से जो यह धर्म हमारे पूर्वजों ने और उनके भी पूर्वजों ने चलाया है वह बड़े प्रयत्न से किया जाना चाहिए।

इस दिन महाशान्ति करनी चाहिए, जिससे सब पापों का नाश हो, सब उत्पातों की शान्ति हो और कलियुग के दुःख नष्ट हों। यह शान्ति आयु की देनेवाली, पुष्टि करनेवाली, धन सौभाग्य बढ़ानेवाली, मंगल, पवित्र और लोक तथा परलोक में सुख देनेवाली है।

संवत्सरोत्सव के दिन सर्वप्रथम पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, धूप, वस्त्र, अलंकार, भोजन, होम, भेंट, ब्राह्मणों की तृप्ति इत्यादि के द्वारा ब्रह्माजी का पूजन करना चाहिए। फिर काल के अवयवरूप देवताओं का पृथक्-पृथक् पूजन करना चाहिए।

कालावयव देवता ये हैं—ब्रह्मा, काम, निमेष, त्रुटि, लव, क्षण, काष्ठा, कला, नाड़ी, मुहूर्त, रात्रि, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युगादि, ग्रह, नक्षत्र, राशि, करण, योग और वर्ष के स्वामी।

तदनन्तर अनुचरों सहित कुलनाग, मनु, इन्द्र, दक्षकन्याएँ, सुभद्रा, जया, शस्त्र, अस्त्र, बुद्धि, धनद (कुवेर), नलकूबर (कुवेर के पुत्र), निधि, भद्रकाली, सुरभि, वेद-वेदाङ्ग और वेदान्त विद्याओं के अधिदेवता, नाग, यज्ञ, सुपर्ण, गरुड, समुद्र, उत्तर कुरु, नवखंड, पाताल, सात नरक, वराहावतार, सात लोक, पञ्चमहाभूत, प्रकृति-पुरुष, अभिमान (अहंकार), पर्वत, गंगा आदि नदियाँ, सप्तर्षि, पुष्करादितीर्थ, छन्द, कामधेनु, ऐरावत, उच्चैःश्रवा, धन्वन्तरि, गणेश, स्वामी कार्तिकेय, विघ्न, स्कन्दग्रह, स्कन्दमाता, ज्वरादिरोग, बालखिल्य ऋषि, केशव, अगस्त्य, नारद, व्यासादिक, अप्सरा, सोमप और असोमप देवता, तुषित, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, अश्विनीकुमार, द्वादश साध्य, उनचास मरुत्, विश्वकर्मा, अनुचरों सहित आठ लोकपाल, आयुध, वाहन, कवच, आसन, दुंदुभि, दैत्य, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, पितृ, प्रेत तथा अन्य सूक्ष्म और भावगम्य देवता एवं परमात्मा विष्णु इन सब देवताओं का चतुर्थी विभक्ति और अन्त में नमः शब्द लगाकर पूजन करना चाहिए।

फिर पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख बैठाकर अर्घ्य, पुष्प, धूप, माला, वस्त्र इत्यादि से और दक्षिणा से इतिहास-पुराणों के जानने वाले ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करना चाहिए।

तब पूर्वोक्त मन्त्रों से यविष्ठ नाम के अग्नि का आवाहन कर सब देवताओं की तृप्ति के लिए होम करना चाहिए। इसके बाद ब्राह्मण-भोजन करवा के, सुहृत् सम्बन्धी और बान्धवों को जिमाकर स्वयं भोजन करना चाहिए तथा महान् उत्सव करना चाहिए।

इस तरह करने से नवीन संवत्सर का आरम्भ सब सिद्धियों का देनेवाला होता है।

समाप्त

(इस प्रतिपदा को नवरात्रारम्भ भी होता है, किन्तु उसका विवरण शारद नवरात्र (आश्विन-शुक्ल प्रतिपदा) के निर्णय में देखिये)।

अभ्यास

(१) संवत्सरोत्सव का समय बताइए।

(२) संवत्सरोत्सव में क्या-क्या विधियाँ होती हैं ?

(३) संवत्सरोत्सव वसन्त ऋतु में क्यों होता है।

(४) चैत्र कृष्ण प्रतिपदा में संवत्सरोत्सव न होकर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा में क्यों होता है ?

(५) संवत्सरोत्सव के दिन अभ्यङ्ग के क्या गुण हैं ?

(६) संवत्सरोत्सव की विधि में नीम के पल्लव और अन्य वस्तुएँ क्यों खाई जाती हैं ?

(७) संवत्सरोत्सव की कथा सुनने से क्या लाभ है ?

(८) संवत्सरोत्सव के दिन ब्रह्मा तथा कलावयवों की पूजा क्यों की जाती है ?

रामनवमी

समय

चैत्रशुक्ल नवमी

कालनिर्णय

इस उत्सव में मध्याह्नव्यापिनी नवमी ली जाती है। दोनों दिन मध्याह्न में नवमी हो तो दूसरे दिन व्रत करना चाहिए, क्योंकि अष्टमी-विद्धा नवमी का निषेध है। ऐसा लिखा है कि यदि दूसरे दिन मध्याह्न के एकदेश में भी नवमी आ जाती हो तो दूसरी ही लेनी चाहिए।

वैष्णवलोग उदय-व्यापिनी नवमी ग्रहण करते हैं। इनके यहाँ दूसरे दिन ६ घड़ी से कम होने पर ही पूर्वविद्धा की जाती है। दशमी का क्षय होने पर दूसरे दिन एकादशी का व्रत आ जाने के कारण स्मार्त्तलोग अष्टमीविद्धा ही करते हैं, परन्तु वैष्णवों के यहाँ तो पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसार रामनवमी दूसरे ही दिन होती है। रामनवमी के साथ पुनर्वसु नक्षत्र का होना प्रशस्त माना गया है। (देखिए धर्मसिन्धु और निर्णयसिन्धु, द्वितीय परिच्छेद, रामनवमीनिर्णय)।

विधि

(१) रामनवमी के दिन रात्रि में जागरण, दिन में उपवास अथवा व्रत किया जाता है। (२) मन्दिरों में पञ्चामृत-स्नानादि और महोत्सव होते हैं। (३) सर्वतोभद्र-मण्डल पर सुवर्ण की रामप्रतिमा स्थापित करके उसका सविधि पूजन हवन आदि करके दान का भी विधान है।

अवतार-विज्ञान

रामनवमी भगवान् राम के जन्मदिवस का उत्सव है। भगवान् राम परब्रह्म के अवतार माने जाते हैं। इसलिए जब तक अवतार-विज्ञान समझ में न आवे तब तक इस उत्सव का महत्त्व नहीं समझा जा सकता।

अवतार शब्द का अर्थ—संस्कृत में ऊपर से नीचे उतरने को अवतार कहते हैं। किन्तु यहाँ अवतार का अर्थ ईश्वर का उतरना है—जिसका अभिप्राय यह है कि व्यापकरूप में विद्यमान परमेश्वर जब प्रकट रूप में हमारी आँखों के सामने उतर आता है तो उसे हम ईश्वर का अवतार कहते हैं।

इस बात को समझने के लिए प्रथम तीन बातों के समझने की आवश्यकता है (१) ईश्वर क्या है, (२) उसका उतरना अथवा प्रकट होना क्या है और (३) उसके प्रकट होने का प्रयोजन क्या है।

ईश्वर क्या है—इस परिदृश्यमान जगत् के मूलतत्त्व के विषय में अनेक मत हैं। उन सब का विवरण न तो यहाँ सम्भव है और न इस लघुग्रन्थ के लिए उपयुक्त ही है, किन्तु वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता और वेदान्तदर्शन के ऊपर भिन्न-भिन्न आचार्यों के विचार-विमर्शों से यह बात पूर्णतया सिद्ध है कि इस जगत् का मूलतत्त्व सर्वशक्तिसम्पन्न[1] अनादि[2] अनन्त[3] सत्य ज्ञान[4] और आनन्दस्वरूप[5] अथवा सच्चिदानन्द-

---

१. 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। श्वेताश्वतर (६।८)

२. 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।' श्वेताश्वतर (६।९) 'अनादि मत्परं ब्रह्म।' गी० (१३।१२)

३. 'नित्यो नित्यानाम्।' श्वेताश्वतर (६।१३)

४. 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्दवल्ली १)

५. 'एतमानन्दमय मात्मानमुपसंक्रामति।' (तै० उ० ब्र० व० ८)

स्वरूप है। अतएव वह चेतन[1] है, जड़ नहीं। उसी का अंश[2] जीव है।

जीव का और उस मूलतत्त्व का वही सम्बन्ध है जो दीपक आदि में विद्यमान प्रकट अग्नि का और पृथ्वी, काष्ठ, पाषाणादि में व्याप्त अप्रकट अग्नि का अथवा बल्ब में विद्यमान बिजली का और सब संसार में व्याप्त बिजली का, यद्वा एक लोटे में भरे पानी का और आकाश में अप्रकटरूप से विद्यमान बाष्परूप जल का।

सारांश यह है कि जीवात्मा में जो कुछ थोड़ी-बहुत शक्ति दिखाई देती है वह सब उसी अनन्तशक्तिसम्पन्न परमात्मा का अंश होने के कारण है और जो इस शक्ति का मूलस्रोत है, सब[3] प्राणी जिससे पैदा होते हैं, जिससे जीते हैं और जिसमें अन्त में फिर मिल जाते हैं वही परमात्मा या ईश्वर है।

अवतार क्या है?

ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि—जीव में परिमित शक्ति है और परमात्मा में अपरिमित। इसलिए जीव के समस्त कार्य अपनी शक्ति के अनुसार कभी सफल और कभी असफल देखे जाते हैं और सफल होते भी हैं किसी हद तक परिमितरूप में ही, किन्तु परमात्मा के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि जिसकी शक्ति अनन्त है उसके लिए असफलता का प्रश्न ही क्या? असफलता तो इसीलिए होती है कि हमारा ज्ञान अथवा क्रिया

---

१. 'चेतनश्चेतनानाम्' (श्वे० ६।१३)
'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्' (गी० १३।१७)

२. 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता १५।७)
'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र)
'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' (गो० तुलसीदास) इत्यादि

३. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'
(तैत्तिरीय उपनिषत्)

सीमित होने से हम या तो भूल कर बैठते हैं अथवा अल्पशक्ति होने के कारण थक जाते हैं। अतएव जीव के द्वारा सफलतापूर्वक किये जाने-वाले कार्यों को संसार में संभव कहा जाता है और जिनको जीव या तो नहीं कर सकता या जिनमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता उनको असंभव कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार जहाँ तक जीव की शक्ति से काम हो सकता है अथवा यों कहिए कि जहाँ तक संभव कार्यों का सम्बन्ध है तहाँ तक महान् से महान् पुरुष को भी पुरुष ही माना जाता है, अवतार नहीं। किन्तु जो काम पुरुष की शक्ति से बाहर हैं, जिनको पुरुष असंभव मानता है, उन कामों को भी मानव-इतिहास ने कभी-कभी संभव होते हुए देखा है। जब कभी किसी के ऐसे असंभव काम दृष्टिगोचर होते हैं तो उन कामों के कर्त्ता को अवतार कहा जाता है, क्योंकि उसके वे कार्य ऐसे होते हैं जिनकी किसी पुरुष के कार्यों से तुलना नहीं हो सकती और उससे उत्कृष्ट कार्य करने की तो बात ही उठाना व्यर्थ है। अतएव श्रीमद्भागवत में लिखा है कि—

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० १० श्लो० ३४)

अर्थात् शरीररहित परमात्मा के शरीरधारियों में अवतार उन-उन पराक्रमों से जाने जाते हैं, जिनसे किसी दूसरे के कार्य की तुलना अथवा अधिकता नहीं हो सकती और अतएव जो पराक्रम देहधारियों में संगत नहीं होते। सारांश यह है कि जिन कार्यों को कोई भी देहधारी किसी भी प्रकार करने में असमर्थ है, उनके कर्त्ता को अवतार कहा जाता है।

अतएव हमारे यहाँ बड़े-बड़े आचार्यों, बड़े-बड़े विद्वानों चक्रवर्ती राजाओं तथा अन्य महापुरुषों को भी कभी अवतार नहीं माना गया।

अवतार केवल उन्हीं को माना जाता है जो मानव की शक्ति से सर्वथा परे के कार्य करते हैं। जैसे भगवान् राम के अवतार में अहल्या का उद्धार, समुद्र पर सेतुबन्धन आदि और भगवान् कृष्ण के अवतार में गोवर्धनोद्धारण, मृत गुरुपुत्र का आनयन आदि। इसी मानव-शक्ति को अतिक्रान्त करने वाली शक्ति के कारण हम उन अवतारों की आराधना, उपासना आदि करते हैं, न कि महापुरुषों की, क्योंकि जो मानवोचित परिमित शक्ति रखते हैं वे पुरुष हमें शक्ति प्रदान कर सकें यह तो संभव है नहीं, फिर उनकी आराधना या उपसना करके हम क्या लाभ उठा सकते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि मानवरूप में प्रतीत होने पर भी जिनमें उस अनन्तशक्तिमान् परब्रह्म की अलौकिक, अतएव मानवदृष्टि में असम्भव कार्य करनेवाली शक्तियाँ प्रकट होती हैं, वे ही अवतार कहलाते हैं।

अवतारों के भेद—ये अवतार पूर्ण, अंश, कला, आवेश और अधिकारी इस तरह पाँच प्रकार के होते हैं।

१. **पूर्णावतार**—उसे कहते हैं, जिसकी शक्ति की परमात्मा के ही समान कोई मर्यादा अथवा सीमा न हो। ऐसे अवतार के चारित्रों में समय-समय पर असंभव और साधारण मानव के लिए अनुचित-सी प्रतीत होनेवाली लीलाओं का भी अपरिमित रूप में समावेश रहता है; जैसे कि कृष्णलीलाओं में।

राम भी पूर्णावतार हैं, परन्तु वे मर्यादास्थापनार्थ अवतीर्ण हुए हैं, उन्हें मानव-जीवन का आदर्श स्थापित करना है, अतः उनमें असंभव और अनुचित-सी प्रतीत होनेवाली घटनाएँ बहुत कम हैं, किन्तु हैं अवश्य; जैसे—समुद्र बन्धन, ताडका वध, बालि-वध आदि।

२. **अंशावतार**—उसे कहते हैं जिसमें किसी विशेष कार्य मात्र के लिए विशेष प्रकार की शक्ति का उद्भव होता है; जैसे नृसिंह, वामन आदि।

३. कलावतार—उसे कहते हैं, जिसमें अंशावतारों से भी कम शक्ति का आविर्भाव होता है—जैसे सनकादि, मनु, कश्यप आदि।

४. आवेशावतार—उसे कहते हैं जिसमें रहता तो मानवत्व ही है, किन्तु कभी-कभी ईश्वरावेश के कारण उनके द्वारा अद्भुत काम भी किये जाते हैं—जैसे नारद, पृथु आदि।

५. अधिकारी अवतार—उन्हें कहते हैं जो अपने नियत कार्य के लिए ही ईश्वरत्व का प्रयोग करते हैं, उसके अतिरिक्त नहीं। जैसे वेदव्यास का पुराणादिनिरूपण में ही ईश्वरत्व का अधिकार है, अन्यत्र वे महापुरुष रूप में ही दिखाई देते हैं।

६. कहीं-कहीं इन भेदों का मिश्रण भी रहता है।

अवतार क्यों होते हैं?

अवतार प्रकट होने का सर्वप्रसिद्ध प्रयोजन तो वही है जो भगवद्गीता में बताया गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

तात्पर्य यह है कि जब धर्मग्लानि होती है और अधर्म उठ खड़ा होता है तब सत्पुरुषों की रक्षा और दुष्कर्मकर्त्ताओं के विनाश के लिए भगवान् का अवतार होता है। परन्तु श्रीमद्भागवत में इस बात को अधिक स्पष्ट रूप में निरूपण किया गया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार अवतार के मुख्य चार प्रयोजन हैं—प्रथम भक्तयशःस्थापन, दूसरा भक्त-प्रार्थना

---

१. 'केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥

२. अपरे वासुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्॥

से जगत् का कल्याण और असुरों का वध, तीसरा पृथ्वी का भार उतारना और चौथा इस जगत् में अविद्या, काम और कर्मों के द्वारा क्लेश पानेवाले लोगों के लिए श्रवण और स्मरण के योग्य लीलाएँ कर जाना—जिनके श्रवण स्मरण से जीवों के उक्त क्लेश निवृत्त हों।

इनमें से भी भक्तलोग तो अवतार का प्रयोजन चतुर्थ ही मानते हैं; क्योंकि भगवान् के लिए भूभार-हरण, दुष्ट-वध आदि कोई ऐसे कार्य नहीं हैं; जिन्हें वे प्रकट हुए विना न कर सकें। भगवान् की काल-शक्ति इतनी प्रबल है कि सर्वदा अपना कार्य करती रहती है। उसके सामने कोई टिक नहीं पाता, अतः मुख्य प्रयोजन भगवान् के अवतार का यही है कि यदि वे प्रकट न होते तो भक्तजन न उनके चरितों को सुन पाते और न स्मरण ही कर पाते, क्योंकि मूलरूप में तो भगवान् का वर्णन वाँणी और मन की शक्ति से परे है, फिर उनका श्रवण और किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं है। यही बात भगवद्गीता के 'परित्राणाय साधूनाम्' इस पद से सूचित होती है, अन्यथा साधुओं का शारीरिक परित्राण तो भगवान् अपनी अनन्त-शक्ति से भी कर सकते हैं, परन्तु वास्तव में साधुओं के साधुत्व की रक्षा विना भगवान् के प्रकट हुए नहीं हो सकती। कारण, जब भगवान् प्रकट न हों तो साधु किनका ध्यान करें, किनका पूजन करें और किनका गुण-गान करें।

---

१. भारावतारणायान्ये भुवो नाम इवोदधौ ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवाऽर्थितः ॥

२. भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥'

(श्रीमद्भागवत स्कं० १ अ० ८ श्लो० ३२ से ३५)

३. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥' (तैत्तिरीयोपनिषद् ४।१)

अतः यह सिद्ध है कि वे अपने भक्तों के आराधन, पूजन और गुण-गान आदि के विषय बन सकें, जिससे साधु सचमुच साधुजन हो सकें इसी के लिए भगवान् के अवतार हुआ करते हैं।

समय-विज्ञान

ऋतु—भारतवर्ष की सर्वोत्तम ऋतुएँ दो हैं—वसन्त और वर्षा; और भगवान् हैं पूर्ण पुरुषोत्तम, उनके उपयोग में सर्वोत्तम वस्तुएं ही आसकती हैं, इसलिए उनका प्रादुर्भाव इन्हीं ऋतुओं में होना उचित है। इसीलिए भगवान् राम का प्राकट्य वसन्त में और भगवान् कृष्ण का प्राकट्य वर्षा में हुआ है।

मास—ऊपर बताया जा चुका है कि वसन्त ऋतु में दो मास होते हैं चैत्र और वैशाख। उनमें से वैशाख कुछ अधिक उष्ण हो जाता है और पुष्पों की अपेक्षा उस मास में फलों की ही अधिकता होती है। वसन्त का वह सौरभ और उल्लास वैशाख में कहाँ जो चैत्र में होता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में चैत्र ही कुसुमाकर (वसन्त का एक नाम) है वैशाख तो उसका पिछलगुआ ही है। इसी कारण चैत्र का नाम मधुमास है। सो मधुमय भगवान् राम का प्राकट्य ऐसे ही मास में होना चाहिए यह स्वभावसिद्ध है।

पक्ष—एक मास में दो पक्ष होते हैं—कृष्ण और शुक्ल। उनमें से शुक्ल पक्ष ही मास का प्रकाशमय भाग होता है और भगवान् राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं एवं मर्यादा है प्रकाश की वस्तु, क्योंकि मर्यादानुसार किये जानेवाले कामों में अन्धकार को स्थान ही नहीं—वे सब काम तो प्रकाश में ही होते हैं। अतः भगवान् राम का जन्म शुक्ल पक्ष में होना उचित ही है।

तिथि—कालविज्ञान में बताया जा चुका है कि तिथियों का सम्बन्ध सूर्य और चन्द्रमा से है। सूर्य से चन्द्रमा जितने-जितने अंश पृथक् होता जाता

है या यों कहिए कि चन्द्रमा की कलाओं में जितना वृद्धिक्षय होता जाता है, उसी के अनुसार तिथियों की गणना की जाती है। सारांश यह कि चन्द्रमा का तिथि से अटूट सम्बन्ध है और चन्द्रमा जीवन तथा शांति का प्रतीक है, अतएव उसे शीतरश्मि ही नहीं किन्तु सुधाकर भी कहा जाता है। अब देखिए कि अष्टमी को चन्द्रमा की अर्धावस्था होती है। वह अर्धावस्था मानो जनता के सुख और शांति का प्रतीक है। पूर्ण अशान्ति में तो जनता का अभाव हो जायगा और पूर्ण शान्ति में जनता को किसी वस्तु की अपेक्षा ही नहीं रहेगी, क्योंकि इन दोनों ही अन्तिम अवस्थाओं में मानव की मनोवृत्ति कार्य करने में असमर्थ हो जाती है। सारांश यह है कि जब शांति और अशान्ति का लगभग बराबर सा भाग होता है या यों कहिए कि सत्पुरुषों और दुष्टों का बराबर सा बल रहता है और शान्ति की वृद्धि का समय होता है उस समय भगवान् का प्रादुर्भाव होता है। अतएव भगवद्गीता में—

'पारित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।'

यह कहा गया है। इसमें आप देखेंगे कि शान्ति और अशान्ति दोनों के पलड़े बराबर सूचित हो रहे हैं। अष्टमी की ठीक यही स्थिति है, क्योंकि उस दिन प्रकाश और अन्धकार दोनों समान-से रहते हैं। अब आइए नवमी पर, शुक्लपक्ष की नवमी के दिन प्रकाश की कला वर्धमान रहती है और अन्धकार की कला क्षीयमाण रहती है, अतः शान्ति के वर्धक और अशांति के विनाशक भगवान् राम का जन्म ऐसी ही तिथि को होना उचित है, जबकि शान्ति और समृद्धि की कला बढ़े और अशान्ति और अभाव की कला क्षीण हो।

मध्याह्न—भगवान् राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं और मर्यादा प्रकाश की ही वस्तु है, क्योंकि मर्यादा में कोई बात छिपाने की नहीं होती, यह ऊपर कहा जा चुका है, अतः भगवान् राम का प्रादुर्भाव ठीक मध्याह्न

के समय, जब कि प्रकाश पूर्ण प्रौढि में रहता है, हुआ, जो सर्वथा युक्त्यनुकूल है।

सारांश

इस काल-विज्ञान का सारांश इन शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्राणी के हृदय को प्रफुल्लित करनेवाली ही नहीं, किन्तु प्रकृति के नये साज-शृङ्गार को रचानेवाली वसन्त ऋतु, उसमें भी सुरभित सुमन-समूह से सुशोभित मधुरता-मय मधुमास और उसका भी चारुतम चन्द्रिका से चमत्कृत शुक्ल पक्ष, एवं उसमें भी चन्द्रमा के प्रकाश की वर्धमान कला के दिन प्रकाशमय मध्याह्न के समय प्रकट होना वास्तव में ही मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनुरूप है। उनके प्राकट्य के लिए इससे अधिक उपयुक्त और कौन सा समय हो सकता था।

विधि-विज्ञान

रामनवमी के दिन की जानेवाली उपर्युक्त विधियों में से उपवास और जागरण तप हैं, पञ्चामृत-स्नान, प्रतिमार्चन तथा हवन यज्ञ हैं और प्रतिमादान, ब्राह्मण-भोजनादि तो दान हैं ही। सो

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।'

इस भगवद्गीता की प्रतिज्ञा के अनुसार ये तीनों पावन कर्म इस दिन किये जाते हैं। अब इनमें से प्रत्येक पर विचार करिए—

उपवास—कई लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि भगवान् के जन्म दिन पर तो खूब माल-ताल उड़ाने चाहिए और मौज करनी चाहिए। उसके बजाय उपवास और जागरण क्यों? इसका उत्तर यह है कि भगवान् राम या कृष्ण को लौकिक पुरुष मानकर ये उत्सव नहीं मनाये जाते, किन्तु परब्रह्म परमात्मा समझ कर। परब्रह्म के लिए भगवद्गीता कहती है कि 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म (परमात्मा) दोषरहित

और सब के लिए समान है। सो उसकी प्राप्ति भी निर्दोष और समत्व में स्थित पुरुष को ही हो सकती है। इसी दोष-निवृत्ति के लिए उपवास है। देहदोषनिवृत्ति के लिए, जिसका मुख्य आधार उदरशुद्धि है, भोजन न करना आवश्यक माना जाता है। इसी प्रकार दोषाधायक इन्द्रियप्रवृत्ति को रोकने के लिए उपवास में इन्द्रिय-संयम रखना भी आवश्यक है। अतएव उपवास की विधि में कहा जाता है कि—

> असकृज्जलपानाच्च सकृत्ताम्बूलचर्वणात्।
> उपवासः प्रणश्येत दिवास्वापाच्च मैथुनात्॥

अर्थात् बार-बार जल पीने से, एक बार भी ताम्बूल चबाने से, दिन में सोने और मैथुन से उपवास नष्ट हो जाता है।

इतना ही नहीं, उपवास के दिन झूठ बोलना, जुआ खेलना—इत्यादि अनुचित कार्य भी वर्जित हैं। यह सब इसलिए कि—मनुष्य मन, वाणी और शरीर से पवित्र होकर इन उत्सवों को मनावे और वह सब उपवासरूप तप के द्वारा होता है।

इसी प्रकार रात्रि में जागरण भी तप है, क्योंकि निद्रा भी अन्न के समान मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताओं में से है। जिस प्रकार अन्न के त्याग का नाम उपवास है उसी प्रकार निद्रा के त्याग का नाम जागरण है। तपस्वी के लिए निद्राविजय भी अत्यन्त आवश्यक है। अतएव कहा जाता है कि—

> आसनदृढ आहारदृढ निद्रादृढ जो होय।
> गुरू कहे रे बालका मरे न बूढा होय॥

अतः भगवत्प्राकट्य के दिन तपस्या की पूर्णतार्थ आसनदृढ और निद्रादृढ होकर भगवत्कीर्तन करना भी बताया गया है।

यहाँ यह भी अवश्य समझ लेना चाहिए कि ऋषियों ने ऐसे तप के लिए किसी को विवश नहीं किया है, किन्तु यथाशक्ति अभ्यास की ओर उनकी दृष्टि है। अतएव उपवास में परिपूर्ण निराहार न कर सके तो फलाहार, दुग्ध-पानादि करे यह विधान है। किन्तु आजकल के कई शौकीनों की तरह उपवास के दिन भी विविध पक्वान्न खाना तो शास्त्रविहित नहीं माना जा सकता। संयम और सात्त्विकता न रहे तो उपवास करना व्यर्थ है। इसी प्रकार जो पूर्णरात्रि जागरण न कर सके उसे भी प्रहर (तीन घंटे) अथवा आधे प्रहर तो अवश्य ही जागरण कीर्तनादि करने चाहिए।

पञ्चामृतस्नान—इस कार्य में इन पांच वस्तुओं का उपयोग होता है—(गाय के) दूध, दही, घी तथा मधु (शहद) और शर्करा (मिश्री अथवा चीनी)। इनमें से दूध, दही और घी के गुणों का वर्णन श्रावणी के प्रकरण में पञ्चगव्य के प्रसंग में विस्तृत रूप से किया गया है (पाठक वहाँ से देख लें; पुनरुक्तिभय से यहाँ छोड़ दिया गया है।) मधु और शर्करा के गुण संक्षेप से ये हैं।

वातलं गुरु शीतं च रक्तपित्तकफापहम्।
संधातृ छेदनं रूक्षं कषायमधुरं मधु॥
(चरकसंहिता, सूत्रस्थान अ. २७ श्लो. २४४)

अर्थात् शहद वायु करने वाला, भारी, ठंडा, रक्तपित्त और कफ को मिटाने वाला है। वह घावों का जमाने वाला (जमे हुए कफ आदि का) काटने वाला, रूक्ष और कसैला तथा मीठा है।

तृष्णाऽसृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः। (चरक सू. २७। २४१)

अर्थात् सब शर्कराएँ प्यास, रुधिर, पित्त और दाह (निवृत्त करने) में प्रशस्त हैं। उपवास से पित्त बढ़ता है, अतः उसके निवृत्त करने

के लिए ये दोनों आवश्यक हैं। किन्तु शहद वातल है, अतः वायु मिटाने वाला दही ('दधि वातजित्' अष्टाङ्गहृदय सूत्र ५।२९) पञ्चामृत में रखा गया है और उपवास करने वालों के लिए दूध तो अमृत है। गाय के दूध और घी का तो कहना ही क्या 'गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे' (अष्टाङ्ग० सूत्र०५।४१)।

सारांश यह कि भूलोक के इन पांचों अमृतों को उपवास के दिन प्राशन करने के लिए रखकर ऋषियों ने अत्यन्त लोकोपकार किया है।

प्रतिमार्चन और हवन—ऊपर कहा जा चुका है कि प्रतिमार्चन एक प्रकार का यज्ञ है। इसे अब स्पष्ट करके समझिए। भगवद्गीता के अनुसार यज्ञ की परिभाषा यह होती है कि जो क्रिया प्रसव (नवीन वस्तु के उत्पादन) का साधन है और इष्टकामना को पूर्ण करनेवाली है, वह यज्ञ है। अतएव भगवान् ने कहा है कि—

'अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।

अर्थात् यज्ञ के द्वारा तुम प्रसव (नवीन-नवीन वस्तुओं का उत्पादन) करोगे और यही तुम्हारे अभीष्ट मनोरथों का पूर्ण करनेवाला हो।'

भगवत्प्रतिमार्चन भी इन दोनों शर्तों को पूरा करता है, अतः वह भी एक प्रकार का यज्ञ है, क्योंकि भगवत्प्रतिमा भगवान् का प्रतिरूप है, जिस प्रकार कि ध्वन्यात्मक वर्णों का प्रतिरूप लिपिरूप वर्ण हैं। जैसे विना लिपि के केवल ध्वन्यात्मक वर्णों से व्यावहारिक भाषा का काम नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना प्रतिमा के उपासना, आराधना और सेवा-पूजा का भी काम नहीं चल सकता। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रतिमा का अर्चन अपने ही कल्याण के लिए है, न कि भगवान् की आकाङ्क्षा-पूर्ति के लिए, क्योंकि जगत्स्वामी को हम क्या

---

१. उपवासाध्वभाष्यस्त्रीमारुतातपकर्मभिः।
क्लान्तानामनुपानार्थं पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ॥ (चरकसंहिता सूत्र० २७।२२०)

दे सकते हैं ? अतः उनकी सेवा से हम अपना ही भला करते हैं, उसके द्वारा हमारे मनोरथ पूर्ण होते हैं और आध्यात्मिक विकास का प्रसव होता है—यह आराधकों से छिपा नहीं है।

हवन भी इसी कारण यज्ञ है, क्योंकि वह भी हवन की जानेवाली वस्तु को परमाणुरूप में विभक्त करके उसकी वृद्धि करता है और मनोरथ को भी पूर्ण करता है। अतः ये दोनों यज्ञ इस दिन अवश्य करने चाहिए।

दान के विषय में तो विशेष लिखना व्यर्थ है। दान की महिमा जगत्प्रसिद्ध है। हाँ, यह अवश्य है कि वह भगवद्गीता के अनुसार—

'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥'

अर्थात् जो दान, 'देना चाहिए' यह समझकर अनुपकारी के लिए, देश, काल और पात्र में दिया जाता है वह दान सात्त्विक है।'

ऐसा सात्त्विक दान देना चाहिए, राजस–तामस नहीं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सत्पात्र को ही दान देना सफल है, कुपात्र को नहीं।

कथा

महर्षि अगस्त्य ने कहा—हे सुतीक्ष्ण ! सब अनुष्ठानों का सार, सब दानों में उत्तमोत्तम रहस्य मैं तुमको कहूँगा। चैत्रमास में नवमी के शुक्लपक्ष में दिन के समय पवित्र पुनर्वसु नक्षत्र में, जिस समय लग्न में गुरु और पाँच ग्रह उच्च के थे उस समय, मेष के सूर्य और कर्कलग्न में कौशल्या के गर्भ से परब्रह्म परमात्मा प्रकट हुए। (जैसा कि इस श्लोक में लिखा है)

---

१. यज्ञ, दान, तप के विषय में विशेष विवरण के लिए परिशिष्ट में दिया हुआ लेखक का 'यज्ञ, दान, तप' नामक लेख देखिए।

'उच्चस्थे ग्रहपञ्चके सुरगुरौ सेन्दौ नवम्यां मधो-
लग्ने कर्कटके पुनर्वसुदिने मेषं गते पूषणि ।
निर्दग्धुं निखिलाः पलाशसमिधो मेध्यादयोध्यानृपा-
दाविर्भूतमभूतपूर्वमतुलं यत्किञ्चिदेकं महः ॥

पांच ग्रह उच्च राशियों पर थे, बृहस्पति चन्द्रमा के साथ था, चैत्र की नवमी, कर्कलग्न, पुनर्वसु नक्षत्र और मेष का सूर्य था उस समय राक्षसरूपी काष्ठों को निःशेष जलाने के लिए पवित्र अयोध्यापति (महाराज दशरथ) से अभूतपूर्व, अद्वितीय जो एक तेज है वह प्रगट हुआ।

हे मुनि! उस दिन मनुष्यों को रघुनाथ जी में तत्पर होकर उपवास, व्रत और रात्रि में जागरण करना चाहिए। नियम लेने का श्लोक यह है—

'उपोषणपरो राम ! पारणं च परेऽहनि ।
धर्मार्थकाममोक्षार्थं करिष्ये नवमीव्रतम् ॥

हे राम! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए (आज) उपवास में तत्पर मैं दूसरे दिन पारणा कर के नवमी का व्रत करूंगा।'

इस तरह नियम लेकर पवित्र उत्सव के साथ जागरण-सहित श्री रामनवमी का व्रत करना चाहिए।

दशमी के दिन प्रातःकाल सन्ध्यादिक संपूर्ण कर्म करके एवं धन के अनुसार विधिपूर्वक श्रीरामजी का पूजन कर के दिव्य खीर के द्वारा यत्नपूर्वक ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए। फिर ब्राह्मणों को ताम्बूल और भक्तिपूर्वक दक्षिणा से संतुष्ट करना चाहिए। गऊ, भूमि, तिल, सोना और सोने के आभरण इत्यादि से श्रीराम के भक्त ब्राह्मणों को परम आनन्द से प्रसन्न करे। इस तरह भक्ति से जो रामनवमी का व्रत करता है, वह अनेक जन्म से सिद्ध अपने पापों को भस्म करके विष्णु

के परमपद को प्राप्त होता है। सब प्राणी उसकी पूजा करते हैं और वह भी राम के सदृश हो जाता है।

जो मूर्ख और अधम मनुष्य श्रीरामनवमी के दिन भोजन करता है वह त्रिलोक के पाप का भक्षण करता है। जो श्रीरामनवमी का अनादर करके कोई काम करता है वह जब तक सूर्य, चद्रमा और तारा रहते हैं तब तक परम पतितता को प्राप्त होता है।

जो सब व्रतों में श्रेष्ठ श्रीरामनवमी के व्रत को न करके अन्य व्रतों को करता है उसको उनका फल प्राप्त नहीं होता। सब व्रतों की सिद्धि के लिए इस रामनवमी का व्रत करना चाहिए। गुप्त तथा प्रगट किए हुए अनेक पाप और महापाप श्रीरामनवमी के व्रत से नष्ट हो जाते हैं। हे मुनि! मनुष्य भक्तिपूर्वक एक नवमी का उपवास करके कृतकृत्य हो जाता है। हे मुनिश्रेष्ठ! जो मनुष्य रामनवमी के दिन विधिपूर्वक श्रीराम की प्रतिमा का दान करता है वह मुक्ति हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं।

सुतीक्ष्ण ऋषि ने पूछा—हे मुने! श्रीराम की प्रतिमा के दान का कैसा विधान है? मैं भक्त हूँ, इसलिए आप कृपा करके विस्तार से वर्णन करिए।

अगस्त्य जी ने कहा—एक पल भर (४ तो०) सोने से, उसके आधे (२ तोले) अथवा उसके भी आधे (१ तोले) से श्रीराम की प्रतिमा बनानी चाहिए। राम के लिए चाँदी का पलंग बनाना चाहिए और वहाँ नील-पीत आदि वर्णवाले अक्षतों से सुन्दर सर्वतोभद्र-मण्डल बनाना चाहिए। उस पर कमलनयन देवेश श्रीरामचन्द्र की स्थापना करनी चाहिए। फिर पंचामृत से स्नान कराके प्रतिष्ठा और पूजन करना चाहिए। पञ्चपल्लवों से युक्त छिद्र रहित कुम्भ स्थापन करना चाहिए। वस्त्र और उपवीत सहित उस मृण्मय (मट्टी के) अथवा ताम्रमय

(तांबे के) कुम्भ के ऊपर श्रीरामचन्द्र जी की गन्ध-पुष्पादिक से पूजा करनी चाहिए। तब प्रयत्न-पूर्वक नारिकेलादिक फलों से अर्घ्य देना चाहिए। इसके बाद नैवेद्य समर्पण करके आरती उतारनी चाहिए। इस तरह पूजा करने के अनन्तर जागरण करना चाहिए। पूजा के मन्त्र निम्नलिखित हैं—

'राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनामसंतुल्यं रामनाम वरानने॥
जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः॥
जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
जयतो भरतशत्रुघ्नौ राघवेणानुपालितौ॥'

इस तरह विधि समाप्त करके वेद-वेदाङ्ग के जाननेवाले ब्राह्मण को प्रतिमा-सहित उस कुम्भ का दान करे। मन, वाणी और देह के अनेक प्रकार के पापों से ग्रस्त प्राणी भी श्रीरामचन्द्रजी के जागरण को देखकर तत्काल पवित्र हो जाता है। रामनवमी के दिन भगवान् के स्मरण से पाप का नाश होता है, दर्शन से सब मनोरथ पूर्ण होते हैं, नमस्कार से पुष्टि होती है और उपवास से भगवत्पद की प्राप्ति होती है।

हे मुनि! कार्तिक की पूर्णिमा में स्कन्द-यात्रा करने से जो फल प्राप्त होता है वह श्री रामनवमी के व्रत से प्राप्त होता है। कुरुक्षेत्र, भृगुक्षेत्र, द्वारका और प्रभास की यात्रा में जो फल कहा गया है वह श्रीरामनवमीव्रत से प्राप्त होता है। कुरुक्षेत्र में करोड़ों सूर्य-ग्रहणों में हजार बार सुवर्ण देने का जो फल होता है, वह श्रीरामनवमी के व्रत से होता है। काशी, प्रयाग और गङ्गा में तथा द्वादशज्योतिर्लिङ्गों की यात्रा में जो फल प्राप्त होता है वह फल इस व्रत से प्राप्त होता है।

सैकड़ों और हजारों करोड़ पाप एक रामनवमी के उपवास से दग्ध हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं।

यह रामनवमी यदि सोमवार, बुधवार और पुनर्वसु नक्षत्र से युक्त हो तो करोड़ कुलों को मुक्ति देनेवाली होती है। निर्धन वैष्णवों को भी, अपनी आत्मा को जोखिम में डाल करके भी, अपनी देह-शुद्धि के लिए यह रामचन्द्रजी का व्रत करना चाहिए। कभी सागर भी सूख जाता है, हिमालय भी क्षीण हो जाता है, परन्तु रामनवमी से प्राप्त लोकों का कभी क्षय नहीं होता।

रामनवमी के दिन नाचने, गाने, जागरण करने, भक्तिपूर्वक पुस्तक-पाठ करने और रामभक्तों के पूजन करने से राम के लोक की प्राप्ति होती है। जैसे किसान लोग साखों (फसलों) की वृद्धि के लिए वृष्टि चाहते हैं, वैसे पितर लोग श्रीरामनवमी का व्रत चाहते हैं। श्रीरामनवमी का उपवास करने से सैकड़ों, हजारों और करोड़ों पाप नष्ट हो जाते हैं। जो रामनवमी की कथा का श्रवण, कथन और संस्मरण करता है, वह ऋद्धिमान्, वृद्धिमान्, धर्मवान्, कीर्तिमान् और सुखी होता है।

अभ्यास

(१) रामनवमी कब होती है ?

(२) रामनवमी का निर्णय किस प्रकार करेंगे ?

(३) ईश्वर क्या है और अवतार शब्द का यहाँ क्या अभिप्राय है ?

(४) अवतार क्यों होता है और अवतार कितने प्रकार के होते हैं ?

(५) रामनवमी का काल-विज्ञान समझाइए।

(६) भगवान् के जन्मदिवस पर मालटाल न उड़ाकर उपवास क्यों करना चाहिए ?

(७) पञ्चामृत में कौन-कौन वस्तुएँ होती हैं ? उनके गुण बताइए।

(८) प्रतिमार्चन और हवन का महत्त्व समझाइए।

हनुमज्ज्रयन्ती

समय—चैत्र शुक्ला पूर्णिमा अथवा कार्तिककृष्णा चतुर्दशी

कालनिर्णय

हनुमज्जयन्ती के समय के विषय में मत भेद है—उत्सवसिन्धु, व्रतरत्नाकर और वाल्मीकीयरामायण से कार्तिककृष्णा चतुर्दशी[1] सिद्ध होता है, किन्तु कुछ विद्वान् चैत्रशुक्ला पूर्णिमा मानते हैं। लोक में भी चैत्रशुक्ला पूर्णिमा ही अधिक प्रचलित है। ऐसी दशा में निश्चित निर्णय असम्भव है। जो लोग जैसा मानने हैं, मानते रहें। यह तिथि सायंकालव्यापिनी लेनी चाहिए, क्योंकि हनुमान् जी का जन्म रात्रि में माना जाता है।

---

१. उत्सवसिन्धु में लिखा है—

> ऊर्जस्य चासिते पक्षे स्वात्यां भौमे कपीश्वरः।
> मेषलग्नेऽञ्जनीगर्भाच्छिवः प्रादुरभूत् स्वयम् ॥

व्रतरत्नाकर में भी दूसरे शब्दों में ऐसा ही लिखा है।

वाल्मीकीय रामायण (उत्तरकाण्ड अ. ३५ श्लोक ३१) में लिखा है कि—हनुमान् जी जन्मते ही सूर्य को पकड़ने के लिए कूदे।

> यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः।
> तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम् ॥

जिस दिन ये सूर्य को पकड़ने के लिए कूदे उसी दिन राहु अब भी सूर्य को पकड़ना चाहता है।

जिससे यह सिद्ध होता है कि हनुमान् जी के जन्म के दूसरे दिन अमावस्या थी, क्योंकि सूर्यग्रहण अमावस्या को होता है।

विधि

जयन्तीमनानेकी विधि रामनवमी के प्रसङ्ग में लिखी जा चुकी है। तदनुसार ही व्रत, उपवास और पञ्चामृतस्नानादि इस दिन भी करना चाहिए। शृङ्गार में तैल सिन्दूर आदि और नैवेद्य में चना (भीगा हुआ अथवा भुना हुआ) गुड़ और बेसन के लड्डू अथवा बूँदी (मोतीचूर) के लड्डू अवश्य रहने चाहिए।

हनुमान् जी बलवानों में प्रधान मानेजाते हैं। मल्लविद्याविदों के तो वे इष्टदेव ही हैं। अतः उस दिन व्यायामप्रदर्शन अवश्य होना चाहिए।

कालविज्ञान

ऊपर लिखा जा चुका है कि हनुमज्जयन्ती के विषय में मतभेद है, अतः कालविज्ञान पर कुछ नहीं लिखा जा सकता।

विधिविज्ञान

पञ्चामृत के गुण तो रामनवमी और जन्माष्टमी के प्रसंग में देखिए। शृङ्गार में तैल और सिन्दूर हनुमान् जी के स्वरूप के अनुरूप ही हैं। नैवेद्य में बेसन और बूँदी दोनों पक्वान्न चने से बनते हैं और चना तो स्वयं चना है ही, नैवेद्य में चना रखने का एक कारण तो स्पष्ट ही है कि चना वानरजाति का प्रिय पदार्थ है, आज भी मथुरा-वृन्दावन आदि में वानरों को चना तथा गुड़ दिया जाता है। दूसरे आयुर्वेद के अनुसारः—

चणकः शीतलो रूक्षः पित्तरक्तकफापहः।
लघुः कषायो विष्टम्भी वातलो ज्वरनाशनः॥ (भावप्रकाश)

चना शीतल, रूखा, रक्तपित्त और कफ को मिटाने वाला, हल्का-कसैला, विष्टम्भी (मल रोकने वाला), वायु करने वाला है और भीगा हुआ अथवा हरा चना तो—

आर्द्रोऽतिकोमलो रुच्यः पित्तशुक्रहरो हितः। (भावप्रकाश)

अत्यन्त कोमल, रुचि बढ़ाने वाला, पित्त, शुक्र को मिटाने वाला और पथ्य होता है।

इसी प्रकार गुड़ भी बड़ा लाभकारी है। आयुर्वेद कहता है—

गुडो वृष्यो गुरुः स्निग्धो वातघ्नो मूत्रशोधनः।

गुड़ शक्ति देने वाला, भारी, चिकना, वायु को नष्ट करने वाला और मूत्र को शुद्ध करने वाला है। आप देखेंगे कि चना वायु करता है और गुड़ वायु मिटाता है अतः इन दोनों का योग हो जाने से दोष निवृत्त होकर गुण की वृद्धि होती है। ऐसी वस्तु ही बल के प्रधान देवता को अर्पण करके लेनेवालों को भी लाभप्रद होगी इसी दृष्टि से हनुमान् जी के नैवेद्य में गुड़, चना प्रधान रखा गया है। बूँदी के लड्डू अथवा बेसन के लड्डू भी यही गुण रखते हैं, अतः इसी दृष्टि से उनका भी उपयोग है।

अभ्यास

(१) हनुमज्जयन्ती किस दिन होती है? दिन के विषय में मतभेद का निरूपण करिए। दोनों में से आपको कौन दिन पसन्द है? क्यों?

(२) हनुमज्जयन्ती के दिन क्या-क्या करना चाहिए?

(३) हनुमान् जी को कौन नैवेद्य प्रिय है?

(४) नैवेद्य की सामग्री के गुण-दोषों का विवेचन करिए।

—•—

तिथि—तृतीया जया तिथि है और शुक्लपक्ष की जया तिथि[1] शुभ मानी जाती है। दूसरे, तृतीया गौरी[2] का दिन है और चतुर्थी गणेश जी का और ये ही दोनों सिद्धि देनेवाले तथा विघ्ननाश करनेवाले हैं, अतः इनकी तिथि में दान करना उचित ही है।

विधिविज्ञान

गङ्गास्नान—गङ्गाजल के विशेष माहात्म्य का वैज्ञानिक विवेचन तो गङ्गादशहरे के प्रसङ्ग में किया जायगा। यहाँ स्नान-मात्र का विवेचन किया जा रहा है। आयुर्वेद में स्नान के निम्नलिखित गुण बताये गये हैं—

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्।

कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित्॥

(वाग्भट, सूत्रस्थान अ. २ श्लोक १५)

अर्थात् स्नान अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, शुक्र बढ़ाने वाला, आयु के लिए हित, उत्साह और बल का देनेवाला, खुजली, मैल, थकावट, पसीना, ऊँघ, प्यास, जलन और पाप को परास्त करने वाला है। स्नान यद्यपि घर, कूआ, तालाब, नदी आदि पर किया जा सकता है, पर उनमें से नदी का स्नान बहुत प्रशस्त है।

चन्दन चढ़ाना—अक्षयतृतीया पर वसन्त की समाप्ति और ग्रीष्म ऋतु का आरम्भ होनेवाला है तथा आयुर्वेद[3] के अनुसार तो ग्रीष्म आरम्भ हो भी गया है। ग्रीष्म[4] में वायु का संचय होता है, सूर्य के

---

१. नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णाः स्युस्तिथयः पुनः।

पर्यायत्वेन विज्ञेया नेष्टमध्येष्टदा सिते॥ (पीयूषधारा में नारद का वचन)

२. चतुर्थी गणनाथस्य गौर्यास्तत्पूर्ववासरे। (पीयूषधारा में अग्निपुराण का वचन)

३. 'वैशाखज्यैष्ठौ ग्रीष्मः' (सुश्रुत सूत्र०, अ० ६ श्लोक १०।)

४. ता एवौषधयो निदाघे''वायोः संचयमापादयन्ति। (सु. सूत्र १२)

ताप से दाह बढ़ जाता है, प्यास बढ़ने लगती है और शरीर गरमी के कारण सूखने लगता है। इन सब को नियन्त्रित करने की शक्ति चन्दन में है। जैसा कि आयुर्वेद में कहा गया है:—

चन्दनं शीतलं रूक्षं तिक्तमाह्लादनं लघु।
श्रमशोषविषश्लेष्मतृष्णापित्तास्रदाहनुत्॥
(भावप्रकाश निघण्टु, कर्पूरादिवर्ग १३)

अर्थात् चन्दन ठंडा, रूखा, कड़ुआ, प्रसन्न करनेवाला और लघु है। उससे थकावट, सूखना, जहर, कफ, प्यास, रक्तपित्त और जलन मिटती हैं। भला ऐसी वस्तु को भगवान् को अर्पण करके ऐसे समय अपने उपयोग में कौन न लेना चाहेगा, अतः विशेष विस्तार की अपेक्षा नहीं है।

जल का घड़ा—गरमी में जल के घड़े का दान तो किसी प्रमाण या समर्थन की अपेक्षा रखता नहीं।

जौ और जौ का सत्तू—जौ के विषय में आयुर्वेद कहता है—

यवः कषायो मधुरः शीतलो लेखनो मृदुः······
कण्ठत्वगामयश्लेष्मपित्तमेदःप्रणाशनः।
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भलोहिततृट्प्रणुत्॥

अर्थात् जौ कसैला, मीठा, ठंडा, खुरचनेवाला और कोमल है। वह कंठ के रोग, चमड़ी के रोग, कफ, पित्त और मेद को नष्ट करता है तथा पीनस, श्वास, खाँसी, ऊरुस्तम्भ (जाँघों की जकड़न), रुधिर तथा प्यास को मिटाने वाला है।

पूजाविधि में कहा जाता है—'यवोऽसि धान्यराजोऽसि—अर्थात् तुम जौ हो तुम धान्यों के राजा हो' भगवान् कृष्ण ने भी श्रीमद्भागवत में उद्धव से कहा है—"ओषधीनामहं यवः—फल पकने पर जो पौधे काट लिए जाते हैं उनमें जौ मेरा रूप है" ऐसी पवित्र और ऋतु के अनुकूल वस्तु दान और पूजन में ली जाय इस विषय में कहना ही क्या है।

जौ के सत्तू के विषय में आयुर्वेद कहता है—

यवजाः सक्तवः शीता दीपना लघवः सराः।
कफपित्तहरा रूक्षा लेखनाश्च प्रकीर्त्तिताः।
ते पीता बलदा वृष्या बृंहणा भेदनास्तथा।
तर्पणा मधुरा रूक्षाः परिणामे बलावहाः।
कफपित्तश्रमक्षुत्तृट्व्रणनेत्रामयापहाः।
प्रशस्ता घर्मदाहाध्वव्यायामार्त्तशरीरिणाम्।

(भावप्रकाश निघण्टु कृतान्नवर्ग १६६–१६७)

जौ का सत्तू ठंडा, रूखा और खुरचने वाला होता है। सत्तू पीने से वीर्य बढ़ता है, शरीर पुष्ट होता है, सूखा मल कटता है और तृप्ति होती है। वह स्वाद में मधुर और रुचिकारक होता है और परिणाम में बल देता है। सत्तू कफ, पित्त, थकावट, भूख, प्यास, घाव और नेत्ररोगों को मिटाता है और गरमी, जलन तथा व्यायाम से पीडित प्राणियों के लिए प्रशस्त है।

ऐसी वस्तु इस ऋतु के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु के उचित पदार्थों जैसे पंखा, शर्बत अथवा ओले के लड्डू आदि का दान भी ऋतु के अनुकूल है इसमें तो किसी को कोई शंका हो नहीं सकती।

दान

ऊपर बताया जा चुका है कि अक्षयतृतीया स्नान और दान का पर्व है। उसमें से स्नान के गुण ऊपर बताये जा चुके हैं। दान के विषय में कहा जा सकता है कि इस उत्सव में जिन वस्तुओं का दान किया जाता है वे दान लेनेवाले को लाभप्रद हो सकती हैं; दानदाता को उनसे क्या लाभ? किन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रथम तो शास्त्रों का सिद्धान्त है कि जो कुछ दिया जाता है वही दानदाता को भी उसके प्रतिफल रूप में प्राप्त होता है, अतः जो जो प्रिय अथवा हितकारी

वस्तुएँ हों उनका अवश्य दान करना चाहिए। दूसरे, भगवान् कृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं कि—

यज्ञो दानं तपश्चैव पवनानि मनीषिणाम्।

अर्थात् यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं। श्रीमद्भागवत में भी लिखा है कि—

'शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याणि।'

अर्थात् धन दान और सन्तोष से शुद्ध होता है।

सारांश यह कि यदि अपने पास धन पर्याप्त है तो उसकी शुद्धि दान से होती है और यदि थोड़ा है तो वह सन्तोष से शुद्ध होता है। अतः यथाशक्ति दान अवश्य करना चाहिए। दान में वही वस्तुएँ देनी चाहिए, जो देश, काल और पात्र के अनुकूल हों। इसीलिए तो भगवान् ने दानदाताओं को 'बुद्धिमान्' कहा है। बुद्धिमान् देश, काल और पात्र का निर्णय कर सकता है, मूर्ख ऐसा नहीं कर सकता। वह दान भी देगा और उससे लाभ भी न उठा सकेगा।

इनमें से देश तो उन पवित्र स्थानों का नाम है जहाँ दान देने से फल अधिक होता है, जैसे गङ्गातट, भगवन्मन्दिर आदि और कालों के लिए ये सब व्रत उत्सव हैं ही। किन्तु पात्र का विचार और कर लेना चाहिए। धर्मशास्त्र कहते हैं:—

गोभूतिलहिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम्।
नापात्रे विदुषा किञ्चित् न हि भस्मनि हूयते॥

अर्थात् गाय, पृथ्वी, तिल, सोना आदि सत्कारपूर्वक पात्र को देना चाहिए। विद्वान् को चाहिए कि अपात्र को कुछ न दें, क्योंकि राख में होम नहीं किया जाता। कहने का सारांश यह कि अपात्र को दान करना राख में हवन करने के समान है।

अब यह भी समझ लीजिए कि पात्र कौन है। मनु महाराज कहते हैं—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तत् पात्रं ब्राह्मणाः विदुः ।

अर्थात् केवल विद्या अथवा केवल तप से पात्र नहीं होता, किन्तु जिस में सदाचार, विद्या और तप तीनों हों वही पात्र है ।

इस सब लेख का तात्पर्य यह है कि दान बड़ी उत्तम वस्तु है, अतः भारतीयपद्धति के अनुसार उपभोग्य वस्तुओं का पहले दान और पीछे उपभोग करना चाहिए। दान के लिए भी वस्तुओं का गुण अवगुण जानना आवश्यक है, क्योंकि तभी ऋतु के अनुकूल उत्तम वस्तुओं का दान में उपयोग किया जा सकता है। और यह तो समझ ही गए हैं कि दान देश, काल और पात्र को समझ कर करना चाहिए ।

परशुरामजयन्ती

इस दिन भगवान् परशुराम की जयन्ती भी मानी जाती है, अतः मन्दिरों में जयन्ती में होनेवाले पञ्चामृतस्नानादि भी किये जाते हैं। इन का विवरण रामनवमी में दिया जा चुका है ।

अभ्यास

(१) अक्षयतृतीया किस दिन होती है ?
(२) अक्षयतृतीया का निर्णय कैसे करेंगे ?
(३) अक्षयतृतीया के दिन क्या-क्या होता है ?
(४) स्नान और चन्दनलेप के गुण बताइये ?
(५) जौ और जौ के सत्तू में क्या गुण हैं ?
(६) दान क्यों देना चाहिए ? यहाँ देश-काल से क्या अभिप्राय है ?
(७) दान किसे देना चाहिए ?
(८) पात्र किन गुणों से होता है ?

नृसिंह चतुर्दशी

समय

वैशाखशुक्ल चतुर्दशी

समयनिर्णय

नृसिंहचतुर्दशी सूर्यास्त के समय चतुर्दशी तिथि हो उस दिन करनी चाहिए। दोनों दिन सूर्यास्त के समय चतुर्दशी हो या दोनों दिन न हो तो दूसरे दिन करना चाहिए। इस दिन शनिवार और स्वातिनक्षत्र हो तो अत्यन्त प्रशस्त है।

समयविज्ञान

वसन्त ऋतु के विषय में रामनवमी के प्रसंग में लिखा जा चुका है। उसका अन्तिम मास नृसिंह भगवान् के अवतार में इसलिए है कि भगवान् राम शान्त हैं और भगवान् नृसिंह उग्र हैं, अतः भगवान् के पालक स्वभाव के कारण परमरम्य वसन्त ऋतु के रहते हुए भी ग्रीष्म की उग्रता के आरम्भ के समीप उनका प्रादुर्भाव है। शुक्लपक्ष के विषय में तो रामनवमी के प्रसंग में कहा ही जा चुका है। शुक्लपक्ष की अन्तिम तिथि से पूर्व तिथि इसलिए है कि प्रकाश की पूर्णता होने के समय थोड़ा भी अन्धकार असह्य है। ऐसे समय अर्थात् सत्ययुग में तमोमय असुर का विनाश आवश्यक है—एतदर्थ कुछ अन्धकारयुक्त दिन लिया गया और रिक्तातिथियों (चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी) की अन्तिम तिथि तो हिरण्यकशिपु के कारण .उस समय संसार की परमरिक्तता (खाली हाथ हो जाने) की सूचना देती है, शनिवार और स्वाति नक्षत्र दुष्ट की समाप्ति के आवश्यक दिन हैं, क्योंकि ज्यौतिष के अनुसार

आरम्भ और समाप्ति शनिवार को ही करनी चाहिए और स्वातिनक्षत्र अपुनरागमन का दिन है। उस दिन गया हुआ फिर लौटता नहीं।

नृसिंहावतार

भगवान् के दस अथवा चौबीस अवतारों में से चार प्रधानतया अनुग्रहावतार हैं—राम, कृष्ण, नृसिंह और वामन। इसीलिए वैष्णवों में ये चार जयन्तियाँ विशेष मान्य हैं। इनमें से राम के चरित्र रामायण में और कृष्ण के चरित्र भागवत तथा महाभारत में वर्णित हैं। नृसिंह-चरित्र भी श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में विस्तार से वर्णित है। भगवान् नृसिंह भक्त प्रह्लाद की रक्षा और दुष्ट दैत्य हिरण्यकशिपु के वध के लिए अवतीर्ण हुए थे। प्रह्लाद की कथा से जनता अपरिचित नहीं है, अतः विस्तारभय से वह यहाँ नहीं लिखी जाती।

विधिविज्ञान

पञ्चामृतस्नानादि, पूजन सामग्री तथा उपवासादि का विज्ञान राम-नवमी के प्रसंग में लिखा जा चुका है। वही यहाँ भी समझें।

कथा

सूतजी ने कहा—देवताओं के देव, जगत् के गुरु और जगत् के स्वामी विष्णुभगवान् हिरण्यकशिपु को मारने के बाद शान्तकोप होकर सुख से बैठे थे। उस समय ज्ञानियों में श्रेष्ठ प्रह्लाद उनकी गोदी में जा बैठे और हाथ जोड़कर नृसिंह भगवान् से कहने लगे।

प्रह्लाद ने कहा—भगवान् विष्णु! नृसिंह स्वरूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। हे सर्वश्रेष्ठ! हे जगद्गुरु! मैं आपका भक्त हूँ

---

१. 'स्थाप्यं समाप्यं शनिभौमवारे'

२. 'चित्रास्वातिगता मेघाश्चित्रास्वातिगता नराः। न पुनर्गृहमायान्ति।'

अतः आप से पूछता हूँ। हे स्वामिन्, मेरी आप में अनन्य भक्ति किस कारण हुई और मैं आपका प्रिय कैसे हो गया? इसका कारण बताइए।

श्रीनृसिंह भगवान् ने कहा—हे महामति वत्स! मेरी भक्ति और मेरे प्रियत्व का जो कारण है उसे मैं कहता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो।

पूर्वकल्प में तुम एक ब्राह्मण थे, किन्तु पढ़े नहीं थे। तुम्हारा नाम वासुदेव था और तुम वेश्यागामी थे। उस जन्म में केवल मेरे व्रत को छोड़कर तुमने कुछ भी सुकृत नहीं किया। तुम्हें हमेशा वेश्या के संग की इच्छा रहती थी, किन्तु मेरे व्रत के प्रभाव से तुम्हारी मुझ में भक्ति हुई और तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो गये।

प्रह्लाद ने पूछा—हे श्रीविष्णु! मेरे पूर्वजन्म की चेष्टा वर्णन करिए। मैं किस कुल में उत्पन्न हुआ था, किस ब्राह्मण का लड़का था तथा वेश्या में आसक्त होते हुए वह व्रत मैंने कैसे किया? हे जगदीश्वर! यह सब विस्तार से मुझे बताइये।

श्रीनृसिंह ने कहा—पहले अवन्तिपुरी में वेदपारगामी एक ब्राह्मण था। उसका नाम था वसुशर्मा। वह तीनों लोकों में विख्यात था। वह ब्राह्मणश्रेष्ठ नित्य होम करता और सदा सब ब्राह्मणकर्मों में तत्पर रहता था। वसुशर्मा ब्राह्मण ने अग्निष्टोमादि यज्ञों के द्वारा सब देवताओं का यजन किया और किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं किया। उसकी स्त्री बड़ी सुशील थी और त्रिलोकी में विख्यात थी। वह बड़ी पतिव्रता, सदाचारिणी और पति की भक्ति में तत्पर थी। उस ब्राह्मण से उस स्त्री को पाँच पुत्र उत्पन्न हुए जो सदाचारी, विद्वान् और पिता की भक्ति में तत्पर थे। उन पाँचों लड़कों में तुम सबसे छोटे थे। तुम्हें वेश्या की सङ्गति की लालसा उत्पन्न हुई। वेश्या के संग के कारण तुमने मदिरापान किया और धनवानों के यहाँ से सोना भी चुराया।

नित्य तुम उस वेश्या के घर जाते थे। एक दिन उसके घर पर उसके साथ तुम्हारा झगड़ा हो गया। उस दिन तुम और वह वेश्या दोनों ने भोजन नहीं किया। अज्ञान के कारण सब व्रतों में उत्तम मेरा व्रत उस दिन (अपनेआप) हो गया और उस वेश्या को प्रसन्न करने के लिए तुम्हारा रात्रिजागरण भी हो गया। अनुनय-विनय करने पर भी वेश्या प्रसन्न नहीं हुई। इस तरह शरीर को शुद्ध करनेवाला जागरण वेश्या को भी हो गया। इस प्रकार अज्ञान के कारण अत्यन्त पुण्य फल देनेवाला मेरा यह व्रत तुम दोनों को हो गया, जिस व्रत के करने से देवत्व प्राप्त होता है।

सृष्टि के लिए ब्रह्माजी ने पहले यह व्रत किया था। इस व्रत के प्रभाव से उनने चराचर जगत् का निर्माण किया। शिवजी ने भी त्रिपुरासुर के वध की इच्छा से यह व्रत किया था। इस व्रत के प्रभाव से उनने त्रिपुरासुर को मारा। इसके अतिरिक्त अन्य बहुतेरे प्राचीन देवताओं, ऋषियों और बुद्धिमान् राजाओं ने यह उत्तम व्रत किया। इस व्रत के प्रभाव से उन सबको सिद्धि प्राप्त हुई।

इस व्रत के प्रभाव से वह वेश्या भी (दूसरे जन्म में) अप्सरा हुई और स्वर्ग में इच्छानुसार बहुत समय तक अनेक दिव्य भोगों को भोगकर मुझमें लीन हो गई। तुम्हारा भी मुझमें लय हो गया था, पर मेरे शरीर से पृथक् होकर जो तुमने जन्म ग्रहण किया यह अवतार कार्य के लिए हुआ है। अब सब कार्यों को समाप्त करके तुम भी शीघ्र ही मुझको प्राप्त होओगे।

मैंने तुम्हें यह सब कारण बताया। अब मैं इस व्रत के उत्तम माहात्म्य का वर्णन करता हूँ। सुनो। जो मनुष्य मेरे इस पवित्र व्रत को करेंगे, सैकड़ों करोड़ जन्मों तक भी उनका पुनर्जन्म नहीं होगा। इस व्रत के प्रभाव से पुत्रहीन पुत्रवान् होता है, दरिद्र को कुबेर के समान धन प्राप्त होता है, तेज की इच्छावाले को तेज, राज्य की इच्छावाले को राज्य और आयु की इच्छावाले को शिवजी के समान आयु प्राप्त होती

है। स्त्रियों के लिए यह व्रत पुत्र और सौभाग्य देनेवाला है, अवैधव्य करने वाला और पुत्रशोक का नाश करने वाला है। यह व्रत धन-धान्य देनेवाला और सब इच्छाओं का पूरा करनेवाला है। जिनने यह उत्तम व्रत किया है, उनको सब भूमि के स्वामी होने का सुख प्राप्त हुआ है। स्त्री हो अथवा पुरुष जो इस उत्तम व्रत को करते हैं उनको मैं इस लोक में भक्ति देता हूँ और परलोक में मुक्ति देता हूँ। हे वत्स! इस व्रत का फल अधिक क्या कहा जाय; क्योंकि मेरे व्रत के फल को न मैं कह सकता हूँ और न शिवजी कह सकते हैं। चतुर्मुख ब्रह्माजी भी इसका पार नहीं पा सकते, अतः मैंने थोड़ा सा कह दिया है। तुम और क्या सुनना चाहते हो?

प्रह्लाद ने कहा—भगवन्! आप की कृपा से यह व्रत और इसका श्रेष्ठ फल सुना, जो कि आप में मेरी भक्ति का कारण है। अब मैं इस व्रत की विधि सुनना चाहता हूँ। यह व्रत किस मास, किस पक्ष और किस तिथि को होता है?

श्रीविष्णु भगवान् ने कहा—हे महामति! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, इस व्रत की सब विधि मैं कहता हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। वैशाख में शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी के दिन मेरी जयन्ती का यह पापनाशक व्रत करना चाहिए। संसार से डरनेवाले मनुष्यों को प्रतिवर्ष यह व्रत करना चाहिए। यह व्रत मुझे संतोष देनेवाला, गुप्त से गुप्त और अतिश्रेष्ठ है। इसके करने से मनुष्यों को सहस्र द्वादशी व्रत का फल होता है। मैं झूठ नहीं कहता। स्वाति नक्षत्र का संयोग होने से यह व्रत करोड़ों हत्याओं को नष्ट कर देता है। इस योग के विना भी यह दिन पाप का नाश करने वाला है। मेरी जयन्ती के दिन व्रत अवश्य करना चाहिए, अन्यथा जब तक चन्द्र-सूर्य रहेंगे तब तक नरक में जाना पड़ता है। जैसे-जैसे कलियुग में पाप की प्रवृत्ति अधिक होगी वैसे-वैसे मेरे व्रत को लोग नहीं करने लगेंगे, क्योंकि जो नित्य पाप में लगे हुए

और विरुद्ध कर्म करने वाले पुरुष हैं उन दुरात्माओं की मेरा व्रत करने में बुद्धि होती ही नहीं।

वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को यह सर्वपापनाशक मेरा व्रत करना चाहिए। हे वत्स ! जिस मनुष्य को व्रत करना हो उसे दन्तधावन करके नीचे लिखे मन्त्र से नियम ग्रहण करना चाहिए—

नृसिंह देवदेवेश तव जन्मदिने शुभे।
उपवासं करिष्यामि सर्वभोगविवर्जितम् ॥
श्रीनृसिंह महोग्रस्त्वं दयां कृत्वा ममोपरि।
अद्याहं प्रविघास्यामि व्रतं निर्विघ्नतां नय ॥

व्रत करने वालों को उस दिन पापियों के साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिए और झूठ नहीं बोलना चाहिए। उस दिन व्रत करनेवाले महात्मा को स्त्री और जुआ का त्याग करके सब दिन मेरे स्वरूप का स्मरण करना चाहिए। तब मध्याह्न के समय नदी आदि के विमल जल में अथवा घर में, किंवा देवखात (प्रकृति के बनाए सरोवर) अथवा तालाब में स्नान करना चाहिए। स्नान करते समय मट्टी, गोबर, आँवले और सर्वपापनाशक तिल शरीर में लगाने चाहिए। फिर पवित्र वस्त्र पहन कर नित्यकर्म करे और भक्तिपूर्वक मेरा स्मरण करता हुआ घर आवे।

वहाँ गोबर से लीपकर अष्टदल कमल बनावे। उस पर रत्नसहित तांबे का घड़ा रक्खे, उसके ऊपर चावल भरा हुआ पात्र रक्खे, उस पात्र में लक्ष्मी जी सहित मेरी स्वर्ण की मूर्त्ति स्थापित करे। मूर्त्ति चार तोले, दो तोले, एक तोले अथवा आधे तोले की शक्ति के अनुसार बनानी चाहिए। तब पञ्चामृत स्नान करवाके पूजन करना चाहिए। लोभरहित कुलशील से युक्त, शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय अपने आचार्य ब्राह्मण को बुलाकर उसी से शास्त्र के अनुसार पूजन करवाने की प्रार्थना करे। आचार्य के वचन से यथाविधि स्वयं पूजन करे। पुष्पों के गुच्छों

से सुशोभित मण्डप बनावे। ऋतुकाल में उत्पन्न पुष्पों से मेरी षोडशोपचार पूजा करे। पूजन के समय मन्त्र अथवा भगवन्नाम इन दोनों में से कुछ भी कहा जा सकता है। पुराण के निम्नलिखित मंत्रों द्वारा गन्ध-पुष्पादि से पूजन करना चाहिए।

चन्दनं दिव्यकस्तूरीचन्द्रकुङ्कुममिश्रितम्।
ददामि तेस्तु तुष्टथर्थं नृसिंह परमेश्वर॥

इस मंत्र से गंध दान करे।

पुष्पैः कालोद्भवै रम्यैस्तुलसीप्रमुखैः प्रभो।
पूजयामि नृसिंह त्वां लक्ष्म्या सह नमोस्तु ते॥

इस मन्त्र से पुष्प चढ़ावे।

कालागुरुमयं धूपं सर्वदैवतवल्लभम्।
समर्पयामि ते विभो सर्वकामसमृद्धये॥

इस मंत्र से धूप दे।

दीपः पापहरः प्रोक्तस्तमोरात्रिविनाशकः।
दीपेन लभ्यते तेजस्तस्माद्दीपं ददामि ते॥

इस मंत्र से दीपदान करे।

नैवेद्यं लेह्यसंचोष्यभक्ष्यभोज्यसमन्वितम्।
ददाभि ते रमाकान्त सर्वपापक्षयं कुरु॥

इस मंत्र से नैवेद्य चढ़ावे।

नृसिंहाच्युतदेवेश लक्ष्मीकान्त जगत्पते।
अनेनार्घप्रदानेन तुष्टो भव ममोपरि॥

इस मंत्र से अर्घ दे।

पीताम्बर महाबाहो प्रह्लादभयनाशकृत्।
अनया पूजया देव यथोक्तफलदो भव॥

इस मंत्र से प्रार्थना करे।

रात्रि में गाने-बजाने के साथ जागरण करना चाहिए। पुराण की कथा पढ़नी अथवा सुननी चाहिए। तदनन्तर प्रातःकाल के समय आलस्यरहित हो स्नान करके उपर्युक्त विधि से मेरी फिर पूजा करनी चाहिए। मेरे आगे विष्णुश्राद्ध करे और दोनों लोकों की विजय की इच्छा से निम्नलिखित दान करे। सुवर्ण का सिंह देने से मुझे बड़ा संतोष होता है। फल की कामना वालों को गाय, पृथ्वी, तिल तथा सुवर्ण का दान करना चाहिए और सप्तधान्यसहित तथा बिछौनासहित शय्या दान करना चाहिए। मेरे संतोष के लिए शक्ति के अनुसार और भी दान देनी चाहिए। भक्ति से ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए और दक्षिणा देना चाहिए। निर्धनों को भी यह व्रत करना चाहिए। उनको दानादि शक्ति के अनुसार करना चाहिए।

मेरे व्रत में सब वर्णों को अधिकार है। मेरे भक्तों को तो यह व्रत तत्पर होकर विशेष रूप से करना चाहिए।

मद्वंशे ये नरा जाता ये जनिष्यन्ति चापरे।
तांस्त्वमुद्धर देवेश दुःखदाद्भवसागरात्॥
पातकार्णवमग्नस्य महादुःखगतस्य मे।
करावलम्बनं देहि शेषशायिन् जगत्पते॥
श्रीनृसिंह रमाकान्त भक्तानां भयनाशक।
व्रतेनानेन मे देव भुक्तिमुक्तिप्रदो भव॥

इन मन्त्रों से प्रार्थना करके देव का यथाविधि विसर्जन करे। फिर आचार्य को भेंट दे और ब्राह्मण को भी दक्षिणा से संतुष्ट करके विसर्जन करे। तदनंतर मेरा ध्यान करता हुआ बान्धवों के साथ भोजन करे।

इस पापनाशक व्रत (की कथा) को जो भक्ति से सुनता है उसकी

ब्रह्महत्या भी श्रवणमात्र से नष्ट हो जाती है। इस परमपवित्र और गुप्त व्रत का जो मनुष्य कीर्तन करता है उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं और उसे व्रत का फल प्राप्त होता है।

(व्रतार्क में नृसिंहपुराण से उद्धृत)

अभ्यास

(१) नृसिंहचतुर्दशी कब होती है ?

(२) नृसिंहावतार वैशाख मास शुक्लपक्ष और चतुर्दशी के दिन क्यों हुआ ?

(३) उस दिन शनिवार और स्वातिनक्षत्र क्यों प्रशस्त हैं ?

(४) चार जयन्तियाँ कौन-कौन सी हैं ?

(५) कथा का सारांश कहो।

गंगा दशहरा

समय

ज्येष्ठशुक्ला दशमी

काल-निर्णय

जिस दिन पूर्वाह्न में दशमी और आगे बताये जाने वाले दश योग हों उस दिन करना चाहिए। यदि दशमी दोनों दिन पूर्वाह्न में हो तो जिस दिन अधिक योग हों वह दिन लेना चाहिए। यदि ज्येष्ठ अधिक मास हो तो भी गंगादशमी प्रथम ज्येष्ठ में ही होती है, दूसरे में नहीं। दश योग ये हैं—(१) ज्येष्ठमास, (२) शुक्लपक्ष, (३) दशमीतिथि, (४) बुधवार, (५) हस्तनक्षत्र, (६) व्यतीपातयोग, (७) गरकरण, (८) आनन्दयोग (बुधवार के दिन हस्तनक्षत्र होने से आनन्दयोग माना जाता है), (९) कन्याराशि का चंद्रमा और (१०) वृषराशि का सूर्य। इन दश योगों में से दशमी और व्यतीपातयोग मुख्य हैं। (धर्मसिन्धु)

विधि

संकल्पपूर्वक गङ्गाजी में, अथवा किसी महानदी या नदी में, अन्यथा तालाब में दस बार गोते लगाकर सूखे वस्त्र पहनने के अनन्तर नित्य-नियम करके पितृतर्पण करे। फिर तीर्थ की पूजा करके घी से चुपड़े हुए दस मुट्ठी काले तिल अंजलि में लेकर जल में डाले। इसी तरह गुड़ से बने दस सत्तू के लड्डू भी डाले। तब तट पर ताँबे या मट्टी के घड़े पर रखी हुई सोना, चाँदी अथवा मृत्तिका की गङ्गाजी की प्रतिमा का पूजन करे। पूजा का मंत्र यह है—

नमो भगवत्यै दशपापहरायै गङ्गायै नारायण्यै रेवत्यै
शिवायै अमृतायै विश्वरूपिण्यै नन्दिन्यै ते नमो नमः ।

इस दिन गङ्गा के साथ नारायण, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, भगीरथराजा और हिमालय पर्वत का भी पूजन करना चाहिए।

गङ्गादशहरे को जो वस्तुएँ उपयोग में ली जायँ उनकी संख्या दस होनी चाहिए। पूजा में दस प्रकार के पुष्प, दशाङ्ग धूप, दस दीपक, दस प्रकार के नैवेद्य, दस ताम्बूल और दस फल होने चाहिए। दक्षिणा भी दस ब्राह्मणों को देनी चाहिए, किन्तु उन्हें दान में दिये जाने वाले जौ और तिल सोलह-सोलह मुट्ठी होने चाहिए। गोदान यदि करें तो, दस अथवा एक, यथाशक्ति हो सकता है। सोने अथवा चाँदी के मछली, कछुए और मेंढक बनाकर उनकी पूजा करके जल में डालने का भी इस दिन विधान है। ये सोने-चाँदी के न बन सकें तो आटे के भी बनाये जा सकते हैं। पूजा के अनन्तर दीपक गङ्गाजल में बहा देने चाहिए।

गङ्गामाहात्म्य-विज्ञान

भारतवर्ष का कौन हिन्दू ऐसा होगा जो भगवती गङ्गाजी की महिमा से परिचित न हो। गङ्गाजी पतितपावनी हैं। आज भी भारतवर्ष के कोने-कोने से सभी हिन्दू, फिर वे चाहे ब्राह्मण हों अथवा अन्त्यज, गङ्गास्नान के लिए बड़ी श्रद्धापूर्वक आते हैं और स्नान करके अपने को कृतकृत्य समझते हैं। गङ्गा की यह महिमा शास्त्रों से सिद्ध है। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि—

"यस्यां स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः पदे पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति ।

(श्रीमद्भा० स्कं० ५, अ० १७, श्लो० १०)

अर्थात् गङ्गा में स्नान करने के लिए आने वाले पुरुष के पैर-पैर पर अश्वमेध राजसूय आदि यज्ञों का फल दुर्लभ नहीं है।"

अन्य पुराण, महाभारत, रामायण आदि में भी गङ्गा का माहात्म्य भरा पड़ा है, जिसे यहाँ उद्धृत करना असंभव है।

आधुनिक विद्वानों ने भी गंगाजल की महिमा को स्वीकार किया है[1]।

---

१. गंगाजल की महिमा का कहना भी क्या है। उसके स्पर्शमात्र से कितने पाप दूर हो जाते हैं।

उसके स्वास्थ्यसम्बन्धी गुणों का प्राचीनकाल से उल्लेख मिलता है। चरक ने, जिनका काल आधुनिक विद्वानों द्वारा आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले माना जाता है, लिखा है—'हिमालय से निकलने वाले जल पथ्य हैं—**हिमवत्प्रभवाः पथ्याः**।' इसमें विशेष रूप से गङ्गाजल का ही संकेत है, क्योंकि इस वचन के आगे ही आता है—'**पुण्या देवर्षिसेविताः**।' वाग्भटकृत 'अष्टाङ्गहृदय' में, जिसका निर्माणकाल ईसवी सन् की आठवीं या नवीं शताब्दी माना जाता है, इसको स्पष्ट किया गया है—'**हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिराः**।' चक्रपाणिदत्त ने भी, जो सन् १०६० के लगभग हुए, लिखा है कि हिमालय से निकलने के कारण गंगाजल पथ्य है—**यथोक्तलक्षणहिमालयभवत्वादेव गाङ्गं पथ्यम्**।' 'भण्डारकर ओरियंटल इंस्टीटयूट, पूना' में अठारहवीं शताब्दी का एक हस्तलिखित ग्रन्थ है 'भोजनकुतूहल'। उसमें कहा गया है कि गङ्गाजल शीतल, स्वादु, स्वच्छ, अत्यन्त रुचिकर, पथ्य, भोजन पकाने योग्य, पाचनशक्ति बढ़ानेवाला, सब पापों को हरनेवाला, प्यास को शान्त तथा मोह को नष्ट करनेवाला, क्षुधा बढ़ानेवाला, और बुद्धि को बढ़ानेवाला होता है—

'शीतं स्वादु स्वच्छमत्यन्तरुच्यं पथ्यं पाक्यं पाचनं पापहारि।
तृष्णामोहध्वंसनं दीपनं च प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम्॥'

इस तरह गङ्गाजल के स्वास्थ्यसम्बन्धी गुणों पर बराबर अपने यहाँ जोर दिया गया है। इन्हीं गुणों पर मुग्ध होकर विदेशियों और अहिन्दुओं को भी इसे अपनाना पड़ा।

इब्नबतूता ने सन् १३२५–५४ में अफरीका तथा एशिया के कई देशों की यात्रा की थी। वह भारत भी आया था। वह अपने यात्रा-वर्णन में लिखता है कि "सुलतान मुहम्मद तुगलक के लिए गङ्गाजल बराबर दौलताबाद जाया करता था। इसके वहाँ पहुँचने में ४० दिन लग जाते थे।"

(गिब्स कृत अंग्रेजी अनुवाद पृ० १८३)

मुगल बादशाह अकबर को तो गङ्गाजल से बड़ा ही प्रेम था। अबुलफजल अपने 'आईने अकबरी' में लिखता है कि "बादशाह गङ्गाजल को 'अमृत' समझते हैं और उसका बराबर प्रबन्ध रखने के लिए उन्होंने योग्य व्यक्तियों को नियुक्त कर रखा है। वे बहुत पीते नहीं हैं, पर तब भी इस ओर उनका बड़ा ध्यान रहता है। घर में या यात्रा में वे गङ्गाजल ही पीते हैं। कुछ विश्वासपात्र लोग गङ्गातट पर इसी लिए नियुक्त रहते हैं कि वे घड़ों में गङ्गाजल भराकर और उस पर मुहर लगाकर बराबर भेजते रहें। जब बादशाह सलामत राजधानी आगरा या फतेहपुर सीकरी में रहते हैं तब गङ्गाजल सोरों से आता है और जब पंजाब जाते हैं तब हरिद्वार से। खाना पकाने के लिए वर्षाजल या यमुनाजल, जिसमें थोड़ा गंगाजल मिला दिया जाता है, काम में लाया जाता है।"

अकबर के धार्मिक विचार दूसरे प्रकार के थे, इसलिए उन्हें यदि गंगाजल में श्रद्धा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पर सबसे मजे की बात तो यह है कि कट्टर मुसलमान औरंगजेब का भी काम बिना गङ्गाजल के न चलता था। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर, जो भारत में सन् १४५९–६७ तक रहा था और जो शाहजादा दारा-शिकोह का चिकित्सक था, अपने 'यात्रा-विवरण' में लिखता है कि "दिल्ली और आगरा में औरङ्गजेब के लिए खाने–पीने की सामग्री के साथ गङ्गाजल भी रहता था। यात्रा में भी इसका प्रबन्ध रहता था। स्वयं बादशाह ही नहीं, दरबार के अन्य लोग भी गङ्गाजल का व्यवहार करते थे।" बर्नियर लिखता है कि "ऊँटों पर लदकर यह बराबर साथ रहता था। प्रतिदिन सवेरे नाश्ते के साथ उसको भी एक सुराही गङ्गाजल भेजा जाता था। यात्रा में मेवा, फल, मिठाई, गङ्गाजल, उसको ठण्डा करने के लिए शोरा और पान बराबर रहते थे।"

फ्रांसीसी यात्री टैवर्नियर ने भी, जो उन्हीं दिनों भारत आया था, लिखा है कि "इसके स्वास्थ्य सम्बन्धी गुणों को देखकर मुसलमान नवाब इसका बराबर व्यवहार करते थे।" कप्तान एडवर्ड मूर, जो ब्रिटिश सेना में था और जिसने टीपू सुलतान के साथ युद्ध में भाग लिया था, लिखता है कि "सवनूर (शाहनवर) के नवाब केवल गङ्गाजल ही पीते थे। इसको लाने के लिए कई ऊँट तथा आवदार रहते थे" (नैरेटिव पृ० २४८)।

श्री गुलामहुसेन ने अपने बंगाल के इतिहास 'रियाजु-स-सलातीन' में लिखा है कि "मधुरता, स्वाद और हल्केपन में गङ्गाजल के बराबर कोई दूसरा जल नहीं है, कितने ही दिनों तक रखे रहने पर भी यह बिगड़ता नहीं है।"

'श्री वेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, तिरुपती' की पत्रिका (अनाल्स) के खण्ड १ भाग ३ (सित० १९४०) में पूना के श्रीगोडे का 'मुसलमान शासकों द्वारा गङ्गाजल के व्यवहार' पर एक अच्छा लेख है। किसी भाव से सही, गङ्गाजल के व्यवहार से अहिन्दुओं का भी हित हुआ होगा।

टैवर्नियर के यात्रा-विवरण से यह भी पता लगता है कि उन दिनों हिन्दुओं में विवाह के अवसर पर भोजन के पश्चात् अतिथियों को गङ्गाजल पिलाने की चाल थी। इसके लिए बड़ी दूर से गङ्गाजल मँगाया जाता था। जो जितना अमीर होता था उतना ही अधिक गङ्गाजल पिलाता था। दूर से गङ्गाजल मँगाने में खर्च भी बहुत पड़ता था। टैवर्नियर का कहना है कि "शादियों में कभी-कभी इसमें दो-तीन हजार रुपये तक खर्च हो जाते थे।"

पेशवाओं के लिए बहँगियों (कावड़ों) में रखकर गङ्गाजल जाया करता था। मराठी पुस्तक 'पेशवाईच्या सावलींत' (पूना १९३७) से पता लगता है कि काशी से पूना ले जाने के लिए एक बहँगी गङ्गाजल का खर्च २० रुपया और पूना से श्रीरामेश्वरम् ले जाने के लिए ४० रुपया पड़ता था, जो बहुत नहीं कहा जा सकता। गढमुक्तेश्वर और हरिद्वार से भी पेशवाओं के लिए गङ्गोदक जाता था। श्रीबाजीराव पेशवा को बतलाया गया था "गङ्गाजल के सेवन से ऋण से मुक्त हो जायगे—श्रीतीर्थसेवन करून महाराज चिकर्त-परिहार व्हावा।"

समय-विज्ञान

ग्रीष्मऋतु, ज्येष्ठमास और शुक्लपक्ष—वैसे तो सामान्य बुद्धि से भी ग्रीष्मऋतु और उसमें भी प्रचण्ड उष्णता से युक्त ज्येष्ठमास शीतल जल में साधारण स्नान के लिए स्वभावतः उपयुक्त है, फिर गङ्गाजल में स्नान का तो कहना ही क्या, किन्तु गङ्गाजल वस्तुतः स्वाभाविक रूप में ग्रीष्म में ही प्राप्त होता है, क्योंकि ठेठ गङ्गोत्तरी से पिघले हुए हिम का जल इस ऋतु में ही आता है, अन्य ऋतुओं में तो हिम पिघलकर गंगाजी के यावन्मात्र जल में मिल सके यह संभावना ही कम है। ग्रीष्मऋतु के प्रथम मास के अन्त तक वह जल सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। आषाढ मास में तो वर्षा का आरम्भ हो जाने से शुद्ध जल पहुँ-चना असंभव है इसलिए ज्येष्ठ मास का अभिवर्धमान चन्द्रमा से युक्त

मरते समय गङ्गोदक देने की चाल तो सुदूर दक्षिण में भी थी। विजयनगर के राजा कृष्णराय को, जब वे सन् १५२५ में मृतप्राय थे, गङ्गोदक दिया गया और वे अच्छे हो गये। (विजयनगर, थर्ड डायनिस्टी, १९३५)।

भूटान युद्ध के अन्त होने पर तिब्बत के तूशी लामा ने वारेन हेस्टिंग्ज के पास एक दूत भेजकर गङ्गातट पर कुछ भूमि माँगी और वहाँ पर एक मठ तथा मन्दिर बनवाया, क्योंकि 'गङ्गा हिन्दुओं के लिए नहीं, बौद्धों के लिये भी पुनीत हैं।' यह मठ और भूमि जो 'भोट बगान' के नाम से प्रसिद्ध है, तूशीलामा ने श्रीपूर्णगिरी को दान की। इसके सम्बन्ध में आजकल कलकत्ता हाईकोर्ट में एक मुकदमा चल रहा है।

यदि कोई गङ्गा का इतिहास लिखे, जैसा कि श्री लुडविग ने नील नदी का लिखा है, तो कितना रोचक हो।

—एक किताबी कीड़ा

('सिद्धान्त' पत्रिका, वर्ष २ अंक ९)

शुक्लपक्ष ही इसका उपपन्न समय है, क्योंकि चन्द्रमा का जल से तथा सूर्य का अग्नि से सीधा सम्बन्ध है—यह पहले बताया जा चुका है।

दशमी और दश योग—कहा जा सकता है कि यदि अभिवर्धमान चन्द्र का ही जल की पवित्रता से सम्बन्ध है तो पूर्ण चन्द्रवाली पूर्णिमा इसके लिए उपयुक्त तिथि होनी चाहिए, दशमी नहीं। किन्तु ज्यौतिष शास्त्र के अनुसार यात्रा और सम्पूर्ण मंगल कार्यों के लिए द्वितीया तिथि को प्रशस्त माना गया है; जैसा कि पीयूषधारा में उद्धृत वशिष्ठ के वचन से सिद्ध है—

सप्ताङ्गचिह्नानि नृपस्य वास्तुव्रतप्रतिष्ठाखिलमङ्गलानि।
यात्राविवाहाखिलभूषणाद्यं कार्यं द्वितीयादिवसे सदैव॥

यही बात तृतीया, पञ्चमी तथा सप्तमी तिथि में भी है और द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी और सप्तमी इन शुभ तिथियों में जो-जो काम किये जाते हैं वे सब कार्य दशमी को सिद्ध होते हैं। जैसा कि उन्हीं ने लिखा है—

द्वितीयायां तृतीयायां पञ्चम्यां सप्तमीतिथौ।
उक्तानि यानि सिध्यन्ति दशम्यां तानि सर्वदा॥

यह बात पूर्णिमा में नहीं है, अतः तीर्थों में सर्वप्रथम भगवती-गङ्गा की यात्रा इसी दिन होनी चाहिए।

पूर्वोक्त दश योगों में से मास, पक्ष और तिथि का विज्ञान तो ऊपर लिखा ही जा चुका है। बुधवार और हस्तनक्षत्र का योग होने से आनन्दयोग होता है, जो नामानुसार फलदायक[1] है। अतः चार योगों की आनन्दप्रदता सिद्ध है। हस्तनक्षत्र स्नान के लिए शुभ[2] है। व्यतीपात योग तो पुण्यकाल प्रसिद्ध ही है। वृष का सूर्य द्वादशराशियों

---

१. फलदाः स्वनाम्ना (मुहूर्त्त चिन्तामणि, शुभाशुभ प्र० २४)

२. क्षौरवास्त्वभिषेकाश्च भूषणं कर्म भानुभे (पीयूषधारा में नारद का वचन)

में सबसे तीव्र होता है, क्योंकि मेषराशि तक तो वसंत ऋतु रहता है और मिथुनराशि के सूर्य में प्रायः वर्षा आरम्भ हो जाती है, अतः शुद्ध गङ्गाजल आने का यही समय है। कन्या का चन्द्र सूर्य से त्रिकोण में पड़ता है। सोमरस का अधिदेवता चन्द्र सूर्य से त्रिकोण में स्थित होकर बड़ा शुभ हो जाता है। गरकरण भी नामानुरूप दोषाधायक है, क्योंकि संस्कृत में गर विष को कहते हैं, अतः दोषनिवृत्यर्थ गङ्गास्नान ऐसे ही तिथ्यध[1] में हो यह उचित ही है।

विधि-विज्ञान

यह उत्सव मुख्यतया स्नान का है। गङ्गास्नान का और गङ्गाजल का माहात्म्य ऊपर लिखा जा चुका है। स्नान के आयुर्वेदानुसार गुण-धर्म भी अक्षय तृतीया के प्रसङ्ग में लिखे जा चुके हैं। किसी भी तीर्थ पर पितृतर्पण भी आवश्यक है ही, क्योंकि धर्मशास्त्रानुसार तीर्थयात्री से पितर लोग जलदान की आशा करते हैं। दान तो सभी धार्मिक उत्सवों में है ही। दान के विषय में भी पहले कहा जा चुका है और परिशिष्ट में तो विशेष रूप से लेख दिया गया है। अतः विस्तार व्यर्थ है। दान में तिल बड़े प्रशस्त हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"गो-भू-तिल-हिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम्।

गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण आदि वस्तुएँ सत्पात्र को सत्कारपूर्वक देनी चाहिए।" अतएव सबसे पूर्व गङ्गाजल में तिल डालने का विधान है। सत्तू तो इस ऋतु की वस्तु है ही यह पहले ही बताया जा चुका है।

प्रतिमापूजन का रहस्य यह है कि धर्मशास्त्रों के अनुसार सभी वस्तुओं के आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक स्वरूप होते हैं। गङ्गा का आधिभौतिक स्वरूप जल है और आध्यात्मिक स्वरूप फलदाता

---

१. स्मरण रखिये कि तिथ्यर्धों का नाम ही करण है।

है, जिसकी मूर्तिरूप में पूजा की जाती है। आधिदैविक स्वरूप के तो फलदान के समय प्रकट होने पर ही दर्शन होते हैं, अन्यथा नहीं। इसीलिए आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों को अभिन्न माना जाता है—'योध्यात्मिकोऽसौ पुरुषः सो सावेवाधिदैविकः'। उसी आध्यात्मिक स्वरूप की भावना से स्वयं गङ्गाजी के आधिभौतिक स्वरूप के विद्यमान रहते भी प्रतिमारूप में उनका पूजन बताया गया है।

पुराणों के अनुसार गंगाजी ब्रह्माजी के कमण्डलुजल से नारायण (वामन) के चरणप्रक्षालन द्वारा उत्पन्न होकर शिवजी के जटाजूट में धारण करने के अनन्तर सूर्य की किरणों द्वारा हिमालय पर आई हैं और राजा भगीरथ पर कृपा करके भारतभूमि पर प्रकट हुई हैं, अतः इस प्राकट्योत्सव के दिन इन सबका पूजन भी आवश्यक समझा गया है।

पूजा में वस्तुओं की संख्या दस रखने का रहस्य यह है कि मनुष्य के दशविध पाप हैं—तीन कायिक, चार वाचिक और तीन मानसिक; जैसा कि स्कन्दपुराणोक्त गंगास्तोत्र में निरूपण है—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च कायिकं त्रिविधं स्मृतम्॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिंतनम्।
वितथाभिनिवेशश्च मानसं त्रिविधं स्मृतम्॥

विना दी हुई वस्तु का ले लेना (चोरी), अविधिपूर्वक हिंसा और परस्त्रीसेवन ये कायिक अर्थात् शरीर से होनेवाले पाप हैं; कठोर वचन, झूठ, चुगली और असम्बद्ध बकवाद ये चार वाचिक अर्थात् वाणी से होनेवाले; एवं दूसरों की वस्तुओं की चाहना, मन में किसी की बुराई सोचना और व्यर्थ आग्रह ये तीन मानस पाप हैं।

इन दसों पापों की निवृत्ति अभीष्ट है, अतः सर्वपापहारिणी भगवती भागीरथी को सब वस्तुएँ दस संख्या में ही भेंट की जाती हैं और स्नान में गोते भी दस बार लगाये जाते हैं।

मच्छी, कछुए, मेंढक ये आधिभौतिक गंगाजी के भूषण अर्थात् प्रिय हैं, अतः पूजा के समय आध्यात्मिक गंगाजी के निमित्त उनका गंगाजल में प्रक्षेप बताया गया है, क्योंकि आध्यात्मिक देवता भी आधिभौतिक से ही संबद्ध है, जैसा कि शरीर से आत्मा।

अभ्यास

(१) गंगादशमी कब होती है ? दस योग कौन-कौन से हैं ? ज्येष्ठ अधिक मास हो तो गंगादशमी किस मास में करनी चाहिए ?

(२) गंगादशमी के स्नान की विधि का संक्षेप में वर्णन करिए।

(३) गंगा का माहात्म्य संक्षेप में कहिए; विदेशी और विधर्मियों का गंगा-जल के विषय में क्या अभिप्राय रहा ?

(४) गंगादशमी के लिए ग्रीष्मऋतु और ज्येष्ठ मास ही क्यों उपयुक्त है ?

(५) दस योगों में से जिनका विज्ञान आपको रुचिकर हो उनका संक्षेप में वर्णन करिए।

(६) प्रत्यक्ष गंगाजी के सम्मुख रहते हुए भी प्रतिमापूजन क्यों किया जाता है ? ब्रह्मा आदि अन्य देवताओं का इस दिन पूजन क्यों अभीष्ट है ? गंगाजी की पूजा में पूजा की वस्तुओं की संख्या दस क्यों है ? दस पाप कौन-कौन से हैं ?

नाग-पंचमी

समय

श्रावण शुक्ला पंचमी। कहीं श्रावण कृष्णा पंचमी को भी यह उत्सव मनाते हैं। मयूखकार नीलकण्ठभट्ट के पुत्र शंकरभट्ट ने अपने बनाये व्रतों की[1] पुस्तक में यह उत्सव भाद्रपद शुक्ला पंचमी को बताया है।

काल-निर्णय

यह पंचमी सूर्योदय से कम से कम ६ घड़ी जिस दिन हो और षष्ठी-सहित हो वह लेनी चाहिए। दूसरे दिन पंचमी ६ घड़ी से कम हो और पहले दिन चतुर्थी भी ६ घड़ी से कम हो तो पहले दिन करनी चाहिए, परन्तु यदि चतुर्थी छः घड़ी से अधिक हो तो दूसरे दिन ही करनी चाहिए।

विधि

इस दिन चाँदी[2], सोने, लकड़ी अथवा मट्टी के बने यद्वा दीवार[3] पर लिखे हुए नाग पूजे जाते हैं। जिनके यहाँ जैसी विधि चली आती हो

---

१. मासि भाद्रपदे याऽपि शुक्लपक्षे तु पंचमी।
सातिपुण्यतमा प्रोक्ता देवानामपि दुर्लभा॥

२. भूरिचन्द्रमयं नागमथवा कलधौतजम्।
कृत्वा दारुमयं वापि अथवा मृण्मयं प्रिये॥
पञ्चम्यामर्चयेद् भक्त्या नागः पञ्चफणः स्मृतः। (शंकरभट्ट : व्रतार्क)

३. अस्यां भित्त्यादिलिखिता मृण्मया वा नागा यथाचारं पूज्याः। (धर्मसिंधु)

वही विधि करनी चाहिए। पूजन में सुगन्धित पुष्प और हो सके तो कमल लेने चाहिए। नैवेद्य और ब्राह्मणभोजन में दूध अथवा खीर होनी चाहिए।

समय-विज्ञान

वर्षा ऋतु और श्रावण-भाद्रपदमास—यह सभी जानते हैं कि वर्षा ऋतु ही नागों के निकलने का समय होता है। शीतकाल में तो सर्प निकलते ही नहीं। प्रायः गर्मी में निकलते हैं और वर्षा में तो बिलों में जल भर जाने के कारण विवश होकर उन्हें बाहर निकल जाना पड़ता है इसलिए प्रत्यक्ष नागपूजनार्थ वही समय उचित है। उस समय कहीं-न-कहीं वे मिल ही जाते हैं।

शुक्लपक्ष और पंचमी—यद्यपि नागजाति अन्धकारप्रिय है, अतः कृष्ण पक्ष ही उनके अर्चन के लिए उपयुक्त होना चाहिए और इसी कारण कहीं-कहीं उत्सव कृष्णपक्ष में भी मनाया जाता है, पर शास्त्रानुसार शुक्लपक्ष ही उचित है। सामान्यबुद्धि से भी शुक्लपक्ष ही उचित प्रतीत होता है; क्योंकि कृष्णपक्ष की पंचमी को तो आरम्भ के कुछ घंटों में ही अन्धकार रहता है, फिर तो प्रकाश ही हो जाता है, किन्तु शुक्लपक्ष की पंचमी को उसके विपरीत स्थिति रहती है—अर्थात् अन्धकार ही अधिक रहता है। सो शुक्लपक्ष ही ठीक है।

पंचमी तो नागों की तिथि है, क्योंकि ज्योतिष के अनुसार पंचमी के तिथि के स्वामी नाग हैं। अग्निपुराण तो स्पष्ट ही कहता है कि—

शेषादीनां फणीशानां पञ्चम्यां पूजनं भवेत्।

(पीयूषधारा में अग्निपुराण का वचन)

अर्थात् शेष आदि सर्पराजों का पूजन पञ्चमी को होना चाहिए।

विधि-विज्ञान

विधि-विज्ञान में सबसे पहले तो यही प्रश्न है कि जिन सर्पों से जनता का अनिष्टमात्र होता है उन सर्पों का पूजन क्यों ? इसका उत्तर तो आधुनिक लोग यही देते हैं कि लिङ्गपूजा तथा नागपूजा जैसी वस्तुएँ अनार्यों से आई हैं। आर्यसंस्कृति से इनका कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु यह उत्तर विना सोचा-समझा है। सर्पों का भी पूजाविधान हमारे यहाँ सदा से है। 'नमोऽस्तु सर्पेभ्यः'० यह वैदिक मंत्र है, जिसमें स्पष्ट ही सर्पों को नमस्कार है। नारायणबलि आदि में इन मंत्रों से होम का विधान भी है। पुराणों में तो सर्पों की महिमा भरी पड़ी है।

बात यह है कि वैदिक सनातन धर्म में ईश्वरनिर्मित वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष नहीं है। उनके द्वारा जो अनिष्ट होता है वह ईश्वरकृत है। यदि ईश्वर को उनके द्वारा किसी की मृत्यु अभीष्ट नहीं होती तो वह उनमें जहर उत्पन्न ही क्यों करता। इससे सिद्ध है कि वे भी जो कुछ करते हैं उसमें ईश्वरप्रेरणा है ही। भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (१०–४५)

अर्थात् बुद्धि (सूक्ष्म अर्थों के समझने का सामर्थ्य), ज्ञान, असंमोह (सूझने में रुकावट न होना), क्षमा (गाली देने और पीटने पर भी चित्त में विकार न होना), सत्य (सुने और देखे को जैसा का तैसा कहना), दम (बाहरी इन्द्रियों की शान्ति), शम (भीतरी इन्द्रियों की शान्ति), सुख, दुःख, भव (उत्पत्ति),अभाव (न होना), भय, अभय, अहिंसा (किसी को दुःख न पहुँचाना), समता (समान चित्त होना),

संतोष, तप, दान, यश और अयश ये नाना प्रकार के भाव प्राणियों में मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।

ऐसी स्थिति में भगवान् जिस प्रकार सुख और अभय के देनेवाले हैं उसी प्रकार दुःख और भय के देनेवाले हैं। किसी बेचारे प्राणी का क्या सामर्थ्य है कि वह हमें दुःख अथवा भय पहुँचावे। अतः उसी भगवान् की शक्ति उन भयप्रद कीड़ों में भी समझकर शास्त्रकारों ने उनकी भी पूजा बताई है। अतः इसमें अनार्यभावना का कोई संबन्ध नहीं है।

प्रतिमापूजा का विज्ञान तो पहले लिखा ही जा चुका है। प्रत्यक्ष सर्प में भय, द्वेष आदि हो सकते हैं, पर प्रतिमा में यह कुछ नहीं है, अतः प्रतिमापूजन बताया गया है।

सुगन्धित पुष्प और दूध तो सर्पों के प्रिय हैं ही। इसमें किसी उपपत्ति की आवश्यकता नहीं।

कथा

शिवजी ने कहा—भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष में जो पंचमी होती है वह अत्यन्त पवित्र कही गई है। वह देवताओं को भी दुर्लभ है। हे वरानने ! इस पंचमी का व्रत बारह वर्षों तक करना चाहिए। चतुर्थी के दिन (मध्याह्न में) एक वार खाना चाहिए और पंचमी के दिन नक्त-व्रत (सायंकाल भोजन) करना चाहिए। हे प्रिये ! चाँदी, सोना, लकड़ी अथवा मट्टी का नाग बनाकर पंचमी के दिन पूजन करना चाहिए। नाग पाँच फणवाला बताया गया है। करवीर, शतपत्र (सौ पंखुरीवाला कमल), जाति और कमल पुष्पों से तथा सुगन्ध और धूपों से नागों की पूजा करनी चाहिए। फिर ब्राह्मणों को घी, खीर और मोदक (लड्डू) जिमाने चाहिए।

अनन्त, वासुकि, शेष, पद्म, कंबल, कर्कोटक, अश्वतर, धृतराष्ट्र,

शंखपाल, कालिय, तक्षक और पिंगल ये बारह नाग एक-एक महीने में कहे गये हैं।

व्रत के अन्त में पारण करना चाहिए और दूध से ब्राह्मण-भोजन करवाना चाहिए। सुवर्ण के भार से बनाया गया नाग, गौ तथा वस्त्र अपरिमित तेजस्वी व्यासजी के निमित्त दान करने चाहिए। इस तरह सदा भक्ति से युक्त होकर नागों का पूजन करे। पंचमी के दिन नागों की पूजा विशेषरूप से दूध और दूध की बनी वस्तु से करे।

(व्रतार्क में स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड से)

अभ्यास

(१) नाग-पञ्चमी कब होती है ?

(२) नाग किस वस्तु के बनाने चाहिए ? नागपूजन की क्या विधि है ?

(३) नागपूजन वर्षाऋतु और श्रावणशुक्ला पंचमी को क्यों होता है ?

(४) जगत् के अनिष्ट करने वाले सर्पों का पूजन क्यों ?

(५) बारह नाग कौन-कौन से हैं ?

(६) इस दिन ब्राह्मणभोजन किस पदार्थ से करवाना चाहिए।

रक्षाबन्धन और उपाकर्म

आरम्भिक

सम्पूर्ण भारत के चार राष्ट्रीय त्यौहार हैं—१ रक्षाबन्धन २ विजया दशमी, ३ दीपावली और ४ होली।

वेदों के समय से ही भारतीय समाज चार भागों में विभक्त रहा है, जिनको चार वर्ण कहते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चारों वर्णों में से ब्राह्मणों के प्रधान त्यौहार रक्षाबन्धन एवं उपाकर्म हैं, क्योंकि उपाकर्म उनके प्रधान कर्म वेदाध्ययन से सम्बन्ध रखता है और रक्षाबन्धन समग्र समाज की शुभाशंसा से, जो ब्राह्मणों का प्रधान कर्त्तव्य है। विजयादशमी क्षत्रियों का प्रधान त्यौहार है, क्योंकि उसमें अश्व और शस्त्रादि के पूजन मुख्य हैं; दीपावली वैश्यों का प्रधान त्यौहार है; क्योंकि इसमें लक्ष्मी-पूजन प्रधान है; और होली शूद्रों का प्रधान त्यौहार है, कारण, इसमें मनोविनोद की और सब वर्णों के पारस्परिक सम्पर्क की मुख्यता है। इतने पर भी उपर्युक्त सभी त्यौहारों में भारत के प्रत्येक व्यक्ति का समान ही समादर है, क्योंकि संघटित समाज के किसी भी अङ्ग का कार्य समग्र समाज का ही कार्य है। उक्त उत्सवों में से प्रथम दो उत्सव—रक्षाबन्धन और उपाकर्म—श्रावण की पूर्णिमा के दिन होते हैं। इनमें से उपाकर्म यद्यपि पूर्णिमा को ही नियत नहीं है, क्योंकि धर्मशास्त्रों में भिन्न-भिन्न वेदों के उपाकर्म के लिए भिन्न-भिन्न समय निश्चित हैं। तथापि श्रावण शुक्ल पूर्णिमा यजुर्वेदियों एवं अथर्ववेदियों का मुख्यकाल है तथा अन्य वेदवालों का भी गौणकाल तो है ही। इसलिए श्रावण शुक्ल पूर्णिमा ही उपाकर्म का भी प्रसिद्ध काल माना जाता है। इसी कारण उपाकर्म का निर्णय भी धर्मशास्त्र के निबन्धों

(धर्मसिन्धु आदि) में रक्षाबन्धन के साथ ही लिखा रहता है। तदनुसार हम भी यहाँ इन दोनों उत्सवों का विवरण साथ साथ ही दे रहे हैं।

१. रक्षा-बन्धन

समय—श्रावण की पूर्णिमा। (यह कर्म[1] सभी वर्णों के लिए है।)

कालनिर्णय—जिस दिन पूर्णिमा उदयकाल में ६ घड़ी से अधिक हो उस दिन भद्रा-रहित समय में करना चाहिए। ग्रहण या संक्रान्ति हो तो इस दिन उपाकर्म नहीं होता, किन्तु रक्षाबन्धन करने का निषेध नहीं है।

विधि—घर को शुद्ध गोमय[2] से लीप कर उसमें हल्दी आदि से चौक पूरके उस पर जल-पूर्ण कलश की स्थापना करनी चाहिए और तब पट्टे पर बैठ कर पुरोहित द्वारा—

'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥'

इस मन्त्र से रक्षाबन्धन किया जाना चाहिए।

आजकल बहिनों के द्वारा भी रक्षाबन्धन होता है। इसका मूल यह प्रतीत होता है कि आगे लिखी जाने वाली रक्षाबन्धन की कथा में इन्द्र को बृहस्पति और इन्द्राणी दोनों ने रक्षा बाँधी—ऐसा उल्लेख है। इससे

---

१. 'ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैरन्यैश्च मानवैः।
कर्तव्यो रक्षिताचारो द्विजान् संपूज्य शक्तितः॥' (निर्णयसिन्धु)

२. 'उपलिप्ते गृहमध्ये दत्तचतुष्के न्यसेत्कुम्भम्।
पीठे तत्रोपविशेद्राजाऽमात्यैश्च सुमुहूर्ते।
तदनु पुरोधा नृपते रक्षां बध्नीत मन्त्रेण॥
(निर्णयसिन्धु २ परिच्छेद, रक्षाबन्धनप्रकरण)

यह सिद्ध होता है कि सौभाग्यवती स्त्री के द्वारा भी रक्षाबन्धन होना चाहिए। बाद में शायद, लोगों ने यह सोचा हो कि अपनी स्त्री को दक्षिणा तो दी नहीं जा सकती, इसलिए दया की मूर्त्ति और दानपात्र सौभाग्यवती बहिन के द्वारा राखी बधवाई जाय और उसे दक्षिणा आदि से सन्तुष्ट करके शुभाशीर्वाद लिया जाय। लौकिक दृष्टि से यह उचित भी प्रतीत होता है।

मध्यकाल में तो यहाँ तक यह व्यवहार बढ़ गया कि राखी बाँधने से स्त्री-पुरुष परस्पर बहिन-भाई समझे जाने लगे। सुना जाता है कि चित्तौड़ की रानी कर्मावती ने सुप्रसिद्ध बादशाह अकबर के पिता हुमायूँ को, अपने ऊपर आपत्ति आने के समय, राखी भेज कर अपना भाई बनाया था और उसने उसकी रक्षा की थी। आजकल भी राखी बाँधने से कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष से बहिन का संबन्ध रखने वाली समझी जाती है।

समय-विज्ञान

इस प्रकरण के अन्त में उल्लिखित रक्षा-बन्धन के कथा-प्रसङ्ग से यह स्पष्ट है कि यह कर्म आयु और आरोग्य की वृद्धि के लिए किया जाता है। पूर्णचन्द्र सुधानिधि होने के कारण आयु और आरोग्य देने का प्रतीक है। ऐसा पूर्णचन्द्र पूर्णिमा को ही रहता है और पूर्णिमा का देवता[1] भी चन्द्रमा है, अतः इस कर्म के लिए पूर्णिमा ही उचित तिथि है।

इसी प्रकार श्रवण नक्षत्र के देवता[2] विष्णु भगवान् हैं और यह सर्व-

---

१. 'वह्निर्विधाताऽद्रिसुता गणेशः सर्पो विशाखो दिनपो महेशः।
दुर्गा यमो विश्वहरी च कामः शर्वो निशेशश्च पुराणदृष्टाः॥'
(मुहूर्त्तचिन्तामणि के शुभाशुभप्रकरण के ३ श्लोक की पीयूषधाराव्याख्या में वशिष्ठवचन)

२. श्रवणस्य गोविन्दो विष्णुः।
(मुहूर्त्तचिन्तामणि नक्षत्रप्रकरण के १ श्लोक की पीयूषधारा में)

विदित है कि विष्णु भगवान् सब जगत् के पालनकर्त्ता हैं। उनके अतिरिक्त आयु-आरोग्य आदि का दाता और है ही कौन ? इन दोनों (पूर्णिमा तिथि और श्रवण नक्षत्र) का योग केवल श्रावण मास में ही होता है, जैसा कि मासविज्ञान प्रकरण में बताया जा चुका है। अतः रक्षाबन्धन श्रावण की पूर्णिमा को उचित ही रक्खा गया है।

विधि-विज्ञान

गोमय अनेक प्रकार के कीटाणुओं को नष्ट करनेवाला होता है, इस लिए रक्षा-बन्धन कर्म में भूमि-लेपन के लिए उसका उपयोग अवश्य ही करना चाहिए। जब भारतवर्ष में प्लेग का अधिक प्रकोप था तब प्लेग के कीटाणुओं के विनाश के लिए अनेक डाक्टर लोग भी गोमय से घर लीपने का उपदेश दिया करते थे। अब भी डाक्टरों की सम्मति में शुद्ध गोबर 'एण्टी सेप्टिक' (कीटाणु-विनाशक) माना जाता है।

चौक पूरने में हल्दी या रोली का जो उपयोग किया जाता है वह मांगलिक और सौन्दर्याधायक तो है ही, साथ ही कीटाणु-विनाशक भी है, क्योंकि हल्दी तीव्र गन्धवाली और कटु होने से कई रोगाणुओं को नष्ट करनेवाली है। रोली भी हलदी से बनती है, अतः उसमें भी वे ही गुण हैं।

जल-पूर्ण कलश की मांगलिकता के विषय में तो कहना ही नहीं है, क्योंकि जल से भरे कलश को भारतीय सदा से शुभ मानते आये हैं। इसका कारण यह है कि जल-पूर्ण कलश वरुण देवता का प्रतीक है और वरुण देवता वेदों के अनुसार बन्धन-नाशक माने जाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित ऋचा से सिद्ध है—

> उदुत्तमं वरुण ! पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
> अथा वयमादित्य ! व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ (ऋ. सं. १-२-२५)

इस का अभिप्राय यह है कि—हे वरुणरूप आदित्य, आप हमारे

ऊपर, नीचे और बीच में जो पाश (बन्धन) हैं, उन को ढीले कर दीजिए। सो फिर बन्धन से छूटकर निरपराध हम दीनता-निवृत्ति के हेतु आपकी परिचर्या में (तत्पर) हो जावें।

अतः मृत्युपाश से छूटने तथा दीनता से मुक्त होने के लिए रक्षा-बन्धन में वरुणरूप आदित्य के प्रतीक जलपूर्ण कलश की पूजा की जाती है।

कलश-पूजन के अनन्तर रक्षा-सूत्र का बन्धन इस उत्सव की मुख्य विधि है। इस सूत्र के बन्धन का रहस्य यह है कि सूत्र या तन्तु किसी चीज को अविच्छिन्न करनेवाली वस्तु है। अत एव सुव्यवस्थित वस्तु को यह कहा जाता है कि 'एक सूत्र में बँधा हुआ है'। 'सूत्र और तन्तु' शब्दों की व्युत्पत्ति[1] से भी यही सूचित होता है कि जो उत्पन्न करने वाली वस्तु है उसे सूत्र और जो विस्तृत करनेवाली वस्तु है उसे तन्तु कहा जाता है।

सारांश यह है कि आयु-आरोग्य की अविच्छिन्नता रहे-इस आशीर्वाद के प्रतीकरूप में मांगलिक रक्षा-सूत्र, आशीर्वाद देने के अधिकारी और दानपात्र ब्राह्मण पुरोहितों एवं बहिन-भानजों द्वारा बाँधा जाता है, जो वास्तव में इस क्रिया के अनुरूप ही है।

कथा

युधिष्ठिर ने पूछा-हे अच्युत, मुझे रक्षा-बन्धन की वह विधि सुनाइए, जिस विधि से मनुष्य की दुष्ट प्रेत-पिशाचादि से रक्षा हो, जो सब रोगों को शान्त करनेवाली हो और सब दुःखों का नाश करने वाली हो।

---

१. 'सूयतेऽनेन सूत्रम्। तन्यतेऽनेन तन्तुः'

(क्षीरस्वामी, अमरकोष २ काण्ड, भूमिवर्ग २८)

श्री कृष्ण भगवान् ने कहा—हे पाण्डवश्रेष्ठ, पुराना इतिहास सुनिए, इन्द्राणी ने इन्द्र की आयु बढ़ाने के लिए जो कुछ किया था।

पुराने समय में बारह वर्षों तक देवता और असुरों में युद्ध हुआ। इस युद्ध में सब श्रेष्ठ देवताओं के साथ इन्द्र को असुरों ने जीत लिया। देवता सब अलंकारों से रहित हो गये। उनकी शोभा नष्ट हो गई। इन्द्र युद्ध छोड़कर देवताओं के साथ अमरावती (स्वर्ग की राजधानी) में पहुँचा, विजय की आशा तो उसने छोड़ ही दी, केवल प्राण-रक्षा में तत्पर रहने लगा।

इधर दैत्यराज ने त्रिलोकी को अपने वश में कर लिया। उसने आज्ञा दी कि इन्द्र देवसभा छोड़ दे और देवता एवं मनुष्य यज्ञादि न करें। सुरासुर मेरी ही पूजा करें। जो मेरे राज्य में ऐसा न कर सके वह अन्यत्र चला जावे।

दैत्यराज की इस आज्ञा से यज्ञ-क्रिया, स्वाहाकार, स्वधाकार और वषट्कार आदि सब कर्म नष्ट हो गये। उस समय वेद नहीं पढ़े जाते थे, देवता नहीं थे और उत्सव भी नहीं रह गये थे। सब कर्म संस्काररहित हो गए। धर्म का नाश होने से देवताओं के बल की हानि होने लगी। निर्बल देवराज इन्द्र अभिमान भरे दानवों को देखकर डरने लगे। यद्यपि इन्द्र का राज्य छूट चुका था तथापि (प्राण-रक्षा के लिए) उसने बृहस्पति को बुलाकर यह कहा—मैं वैरियों से घिर गया हूँ, इसलिए न यहाँ रहने के लिए समर्थ हूँ ओर न जाने के लिए। अब मैं विवश होकर प्राणान्त युद्ध करना चाहता हूँ, जो होना होगा सो होने दो।

सुरपति के इस वाक्य को सुनकर बृहस्पति ने कहा—हे पुरन्दर, यह पराक्रम का समय नहीं है। तुम कोप छोड़ दो, क्योंकि—

देशकालविहीनानि कार्याणि विपरीतवत्।
क्रियमाणानि नश्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् भवेत्॥

अर्थात् विना देश-काल के जो कार्य किये जाते हैं वे उलटे किये जानेवाले कार्यों की तरह नष्ट हो जाते हैं। ऐसा करने से महान् अनर्थ हो सकता है।

इन्द्र ने कहा—अधिक कहना व्यर्थ है। मैं तो बैरियों के साथ युद्ध करूँगा; क्योंकि—

नृणां कार्यसमारम्भे श्रेय एव विचिन्त्यताम्।

अर्थात् मनुष्यों के काम आरम्भ करने के समय (सभी को) अच्छा ही सोचना चाहिए। जो विचक्षण मनुष्य गुण-दोष दोनों को एक से समझ कर कार्यारम्भ करता है, उसके दोष अपने आप ही विमुख हो जाते हैं।

जब वे दोनों इस तरह वातचीत कर रहे थे तब (इन्द्र का उत्साह देखकर) बृहस्पति ने उससे कहा—अच्छा तो सुनिए, आज चतुर्दशी का दिन है! प्रातःकाल सब ठीक हो जायगा। मैं रक्षा का विधान करूँगा, जिससे कल्याण ही होगा।

इसके बाद पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल ही रक्षा का विधान किया गया।

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन मन्त्रेण बध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

इस मन्त्र से बृहस्पति ने श्रावण मास की पूर्णिमा के दिन रक्षा-विधान किया। इन्द्राणी के साथ बल और वृत्र असुरों के मारनेवाले इन्द्र ने बृहस्पति के उस वचन का पालन किया।

उसके बाद प्रातःकाल इन्द्राणी ने मंगलाचार करके इन्द्र के दाहिने हाथ में रक्षा की पोटली बाँधी (जिससे इन्द्र ने दानवों पर विजय पाई) ॥

अभ्यास

(१) रक्षाबंधन किस दिन होता है ?

(२) इस कर्म के लिए श्रावण की पूर्णिमा क्यों प्रशस्त है ?

(३) कलश और सूत्र की इस कर्म में प्रधानता क्यों है ?

(४) आजकल जो बहनों से राखी बँधाई जाती है उसका क्या कारण है ?

(५) रक्षाबन्धन की कथा का सारांश कहिए ।

उपाकर्म

समय-निर्णय

ऋग्वेदियों का उपाकर्म—श्रावण शुक्ल पक्ष में श्रवण नक्षत्र में होता है। यह मुख्य समय है।

उसमें न हो सके तो श्रावण शुक्ला पञ्चमी या हस्त नक्षत्र में करना चाहिए। श्रवण नक्षत्र यदि पहले दिन ६० घड़ी हो और दूसरे दिन ६ घड़ी या उससे अधिक हो तो पहले दिन न करके दूसरे दिन करना चाहिए, किन्तु यदि पहले दिन सूर्योदय में न हो और दूसरे दिन ६ घड़ी से कम हो तो केवल पंचमी या केवल हस्त नक्षत्र में ही करना चाहिए, क्योंकि इस कर्म में उत्तराषाढा के वेध का निषेध है। पञ्चमी और हस्त भी सूर्योदय के बाद कम-से-कम ६ घड़ीवाले लेने चाहिए और उससे कम हो तो पूर्व दिन करना चाहिए। श्रावण की पंचमी को न हो सके तो यह कर्म भाद्रपद की पञ्चमी अथवा हस्त नक्षत्र में भी किया जा सकता है। ऋग्वेदियों को यह कर्म पूर्वाह्ण में ही करना चाहिए।

यजुर्वेदियों के उपाकर्म—का श्रावण की पूर्णिमा मुख्य समय है। पूर्णिमा यदि पहले दिन सूर्योदय से २ घड़ी बाद आरम्भ हो और दूसरे दिन १२ घड़ी या उससे अधिक हो तो दूसरे दिन ही करना चाहिए। दोनों दिन सूर्योदय में पूर्णिमा हो तो पहले दिन ही करना चाहिए। पहले दिन २ घड़ी के बाद आरम्भ हो और दूसरे दिन ६ घड़ी से कम हो या क्षय हो गया हो तो भी पहले दिन करना चाहिए। यदि पहले दिन पूर्णिमा २ घड़ी बाद आरम्भ हो और दूसरे दिन ४ या ६ घड़ी हो तो तैत्तिरीय शाखावालों को दूसरे दिन और शेष सब यजुर्वेदियों को पहले दिन करना चाहिए।

सामवेदियों के उपाकर्म—का मुख्य काल भाद्रपद शुक्ल में हस्त-नक्षत्र है। संक्रान्ति-आदि के कारण उसमें न हो सके तो श्रावण के हस्त नक्षत्र में अथवा श्रावण की पूर्णिमा तिथि को करना चाहिए। यदि पहले दिन पूरे अपराह्ण में हस्त नक्षत्र हो तो पहले दिन करना चाहिए, अन्यथा दूसरे दिन। सामवेदियों का उपाकर्मकाल अपराह्ण है।

अथर्ववेदियों के उपाकर्म—का श्रावण की पूर्णिमा अथवा भाद्रपद की पूर्णिमा मुख्य समय है। उन्हें यह कर्म उदय से ६ घड़ी के बाद तक रहनेवाली पूर्णिमा को करना चाहिए।

उपाकर्म ग्रहण या संक्रान्ति के दिन नहीं होता। जिस दिन उपाकर्म करना हो उसकी पहली आधीरात से पिछली आधी रात तक के समय (आठ प्रहर=२४ घंटे) के अन्दर ग्रहण या संक्रान्ति नहीं होनी चाहिए।

उपाकर्म क्या है?

धर्मज्ञ लोगों को यह तो विदित ही है कि वैदिक युग में द्विजों के लिए वेद-पठन अनिवार्य था। जो लोग वेद-पठन करते थे वे वेदाध्ययन[1] के आरम्भ का उत्सव प्रतिवर्ष किया करते थे। यह उत्सव नवीन ओषधियों (जो फल पकने पर काट लिए जाते हैं अथवा सूख जाते हैं उन सब पौधों को ओषधियाँ कहते हैं) के उत्पन्न होने पर वर्षा ऋतु[2] में [3]श्रावणमास में किया जाता था। अतएव मिताक्षरा में लिखा है कि—

---

१. 'अधीयन्त इत्यध्याया वेदास्तेषामुपाकर्म उपक्रमम्...' 'अध्यायानामुपाकर्म' (याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय, १४२ की मिताक्षरा)।

२. 'तद्वार्षिकमित्याचक्षते' (आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।५) 'वर्षर्तौ भवं वार्षिकम्' (निर्णयसिन्धुः)

३. 'अध्यायानामुपाकर्म श्रावण्यां श्रवणेन वा।
हस्तेनौषधिभावे वा पञ्चम्यां श्रावणस्य तु॥' (या. स्मृ. आचारा. १४२)
'श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान्॥' (मनु ४।९५)

'यदा तु श्रावणे मासि ओषधयो न प्रादुर्भवन्ति ।
तदा भाद्रपदे मासि श्रवणनक्षत्रे कुर्यात् ॥'

इसका तात्पर्य यह है कि यह उत्सव श्रावण में किया जाना चाहिए, किन्तु यदि (वर्षा के अभाव से) ओषधियाँ उत्पन्न न हुई हों तो भाद्रपद में किया जाना चाहिए।

इसी वेदाध्ययन के आरम्भ के उत्सव का नाम उपाकर्म है। इसके बाद[1] साढ़े चार महीने तक प्रतिदिन वेदों का अध्ययन करके पौष या माघ मास के रोहिणी नक्षत्र में जल के तट पर जाकर वेदों का[2] उत्सर्जन (अध्ययनसमाप्ति का उत्सव) किया जाता था। जो लोग पौष या माघ में उत्सर्जन नहीं कर पाते थे वे उपाकर्म के दिन ही आरम्भ में उत्सर्जन करके तब उपाकर्म करते थे। आजकल[3] यही क्रम चल गया है। उत्सर्जन और उपाकर्म दोनों एक ही दिन कर लिए जाते हैं।

प्रायः यह कर्म गुरु अपने शिष्यों के साथ किया करते थे। उनके अभाव में अन्य ब्राह्मणों के साथ भी किया जाता था।

---

१. 'तत ऊर्ध्वं सार्धचतुरो मासान् वेदानधीयीत ।'
(पूर्वोक्त या. स्मृ. के श्लोक की मिताक्षरा)

२. 'पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा ।
जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्बहिः ॥' (या. स्मृ. आचा. १४३)
पौषे तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ (मनु. ४।९६)

३. उत्सर्जनकालस्तु नेह प्रपञ्च्यते । 'उपाकर्मदिनेऽथवा' इति वचनानुसारेण सर्वशिष्टानामिदानीमुपाकर्मदिन एवोत्सर्जनकर्मानुष्ठानाचारेण तन्निर्णयस्यानुपयोगात् ।'
(धर्मसिन्धु, २ परिच्छेद)

यह कर्म द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों) के लिए इस कारण अनिवार्य माना जाता था कि द्विज वेदों को भूल न जाँय। सालभर में कम-से-कम एक आवृत्ति तो अपने-अपने वेद की शाखा की हो जावे। अतएव उपाकर्म के संकल्प में भी 'अधीतानामध्येष्यमाणानां च छन्दसां यातयामतानिरासेनाप्यायनद्वारा' यह बोला जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'जो वेद मैंने पढ़े हैं और जो पढ़ूँगा उनकी पर्युषितता (बासीपन) निवृत्त करने और पुष्टि के लिए यह कर्म करता हूँ।' दुर्भाग्य से आज तो द्विजों की क्या बात, क्योंकि उनमें से क्षत्रिय और वैश्य तो प्रायः यज्ञोपवीत लेना ही छोड़ बैठे हैं, किन्तु ब्राह्मणों में से भी अनेक ऐसे हैं जो यह भी नहीं जानते कि उनके पूर्वज किस वेद की किस शाखा के अध्येता थे। ऐसी स्थिति में भी यह एक उत्सव ऐसा रह गया है कि जो द्विजों के वेदाध्ययन का और आश्रमों के उस पवित्र जीवन का स्मारक है।

इस उत्सव के विषय में लोग यह कह सकते हैं कि जब आज द्विजों में द्विजत्व का अभाव-सा हो गया है और वेदाध्ययन भी लुप्त-सा है, तब यह उत्सव क्यों मनाया जावे? इसका उत्तर यह है कि 'चित्तौड़ का किला' आदि कई युद्धस्मारक आज वर्तमान काल के युद्धादि में अनुपयोगी हैं तथापि स्मारकरूप में उनकी रक्षा आज भी हमारे प्राचीन पौरुष और महत्त्व का स्मरण करवाती है। यदि वे न होते तो आज हम शायद कुम्भा, सांगा और प्रताप आदि को भी भूल जाते अथवा राम-कृष्ण को तरह विदेशियों को यह कहने का अवसर आ जाता कि ये लोग केवल कवि-कल्पनामात्र हैं। इतना ही नहीं, इन स्मारकों के देखते ही हमारे हृदय में उस युग के दिव्यभाव पुनः ओजस्विता उत्पन्न करने लगते हैं।

ठीक इसी प्रकार यह उपाकर्मदिवस, हमारे उस प्राचीन आध्यात्मिक ऋषि-जीवन का दिव्य चित्र कम-से-कम एक दिन तो अवश्यमेव

उपस्थित कर देता है। यही बात अन्य राष्ट्रीय उत्सवों के विषय में भी लागू होती है। अतः प्राचीन भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रति जिनकी किञ्चिन्मात्र भी श्रद्धा है उन्हें वेदाध्ययनादि न करते हों तब भी, अवश्यमेव इन उत्सवों को सुरक्षित रहने देने की चेष्टा करनी चाहिए। ये उत्सव हजारों वर्षों से हमारी प्राचीन स्मृति को जागरित करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे, अतः इनकी रक्षा ही नहीं, किन्तु इनका यथार्थरूप से मनाना हमारा परम धर्म होना चाहिए।

विधि-विज्ञान

ऊपर बताया जा चुका है कि उपाकर्म वेदपारायण के आरम्भ और उत्सर्जन का उत्सव है। इसमें सबसे पहिले उपर्युक्त कामना से संकल्प करके शरीर, वाणी और मन की शुद्धि के लिए पंचगव्यप्राशन (गाय से सम्बन्ध रखनेवाली पाँच वस्तुओं का आचमन) किया जाता है। पंचगव्य की पाँच वस्तुएँ ये हैं—दूध, दही, घी, गोमूत्र और गोमय। इसके अतिरिक्त उसमें कुशा का जल भी मिलाया जाता है। ऐसा भी विधान है कि—संभव हो तो पीली गाय का दूध, नीली गाय का दही, काली गाय का घी, लाल गाय का गोमूत्र और सफेद गाय का गोमय ग्रहण करना चाहिए।

गाय के दूध, दही, घी, गोमूत्र और गोमय के गुण इस प्रकार हैं—

दूध—गाय के दूध के चरकसंहिता में दस गुण बताये गये हैं—

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥
तदेवंगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्।
प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम्॥

(चरक० सूत्र० २७, २१७–२१८)

अर्थात् गाय के दूध में दस गुण होते हैं। गाय का दूध स्वादिष्ट, ठण्डा, कोमल, घी वाला, गाढ़ा, चिकना, लिपटनेवाला, भारी, ढीला और स्वच्छ होता है। इन गुणों से युक्त गाय का दूध साधारणतया ओज (इन्द्रियों के बल) को बढ़ानेवाला तो है ही, परन्तु जीवन बढ़ाने वाली चीजों में सबसे श्रेष्ठ और रसायन (आयु, बल और बुद्धि को बढ़ानेवाला) है।

दही—दही के विषय में चरकसंहिता में लिखा है कि—

रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम्।
पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्गल्यं बृंहणं दधि॥
पीनसे चातिसारे च शीतके विषमज्वरे।
अरुचौ मूत्रकृच्छ्रे च कार्श्ये च दधि शस्यते॥

(च. सू. २७, २२५-२२६)

अर्थात् दही रुचि पैदा करनेवाला, अग्नि बढ़ानेवाला, शुक्र बढ़ाने वाला, चिकनाई लानेवाला, बल बढ़ानेवाला, पाचन के समय खटाई और गर्मी लानेवाला, मङ्गल करनेवाला और पुष्ट करनेवाला है और विशेष रूप से पीनस, अतिसार (दस्त लगना), शीतक, पुराने ज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र (सुजाक) और दुर्बलता के लिए प्रशस्त है।

घी—गाय के घी के विषय में लिखा है—

धीकान्तिस्मृतिकारकं बलकरं मेधाकरं शुद्धिकृद्
वातघ्नं श्रमनाशनं स्वरकरं पित्तापहं पुष्टिदम्।
वह्नेर्वृद्धिकरं विपाकमधुरं वृष्यं वपुःस्थैर्यदं
सेव्यं गव्यघृतोत्तमं बहुगुणं सद्यः समावर्त्तितम्॥
सर्पिर्गवां चामृतकं विषघ्नं
चक्षुष्यमारोग्यकरं च वृष्यम्।
रसायनं मन्दमतीव मेध्यं
स्नेहोत्तमं चेति बुधाः स्तुवन्ति॥ (योगरत्नाकर)

अर्थात् गाय का उत्तम घृत बुद्धि, कान्ति, स्मरणशक्ति को देनेवाला बल देनेवाला, वुद्धि देनेवाला, शुद्धि करनेवाला, वायु नाश करनेवाला, थकावट मिटानेवाला, स्वर को ठीक करनेवाला, पित्त मिटानेवाला, पुष्टि देनेवाला, अग्नि बढ़ानेवाला, विपाक में मधुर, शुक्र बढ़ानेवाला, शरीर की स्थिरता करनेवाला और तत्काल निकाला हुआ बहुत गुणकारी होता है।

गायों का घी अमृत है, जहर का नाश करनेवाला, नेत्रों का हितकारी, आरोग्य करनेवाला, शुक्र बढ़ानेवाला आयु, बल, बुद्धि बढ़ानेवाला, अत्यन्त स्मरणशक्ति बढ़ानेवाला और स्नेहों (चिकने पदार्थों) में अत्यन्त उत्तम है इस प्रकार विद्वान् लोग प्रशंसा करते हैं।

गोमूत्र[1]—की चरकसंहितादि सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों में बड़ी प्रशंसा

---

१. यकृत् और प्लीहा के बढ़ने से उदर रोग हो गया हो तो पुनर्नवा के काढ़े में आधा गोमूत्र मिलाकर पिलाया जाय, इससे उदर रोग अच्छा हो जायगा। इस सम्बन्ध में अक्कलकोट के डाक्टर चाटी अपना अनुभव इस प्रकार बतलाते हैं—'अपनी चालीस वर्ष की नौकरी में मैंने कितने ही जलोदर के रोगियों का इलाज किया है। उन्हें अंग्रेजी दवायें पिलायीं और पेट चीर कर दो, तीन, चार बार भी पेट का पानी निकाल दिया; परन्तु उनमें से अधिकांश रोगियों की मृत्यु हो गयी। मैंने सुना और आयुर्वेदिक ग्रन्थों में पढ़ा भी था कि 'इस रोग पर गोमूत्र का उपयोग बहुत ही लाभकारी है।' परन्तु मुझे विश्वास नहीं होता था। एक बार एक साधु महात्मा ने गोमूत्र के गुणों का बहुत वर्णन करके कहा कि इसका जलोदर पर बहुत अच्छा उपयोग होता है। तदनुसार चार रोगियों पर मैंने गोमूत्र का प्रयोग कर देखा। उनमें से तीन चङ्गे हो गये। जो चौथा मर गया वह मुमूर्षु अवस्था में ही मेरे पास आया था। जो अच्छे हो गये, उनमें से एक का ब्यौरा इस प्रकार है—सन् १९१० में जब मैं अक्कलकोट राज्य में 'चीफ़ मेडिकल अफसर' था, तब मुझे जुन्नर गाँव में जरूरी काम से बुलाया गया। वहाँ अप्पणा

है। यहाँ 'भावप्रकाश' से गुणवर्णन उद्धृत किया जाता है, क्योंकि अर्वाचीन ग्रन्थ होने से उसमें सब का संग्रह प्रायः हो गया है।

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं क्षारं तिक्तं कफापहम्।
लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तकृत् कफवातहृत्॥
शूलगुल्मोदरानाहकण्ड्वक्षिमुखरोगजित्।
किलासगदवातामवस्तिरुक्कुष्ठनाशनम्॥
कासश्वासापहं शोथकामलापाण्डुरोगहृत्।
कण्डूकिलासगुदशूलमुखाक्षिरोगान्
गुल्मातिसारमरुदामयमूत्ररोधान्।
कासं सकुष्ठजठरकृमिपांडुरोगान्
गोमूत्रमेकमपि पीतमपाकरोति॥

नामक एक तीस वर्ष का बढ़ई जलोदर से आसन्नमरण हो रहा था, उसी का इलाज करना था। रोगी का सब शरीर फूल गया था। न वह कुछ निगल सकता था, न हिल सकता था और बड़े कष्ट से साँस लेता था। उसके जीने की कोई आशा नहीं बच रही थी। उसे इंजेक्शन देकर शक्तिवर्धक ओषधि खिलायी और पेट चीर कर १६ पौण्ड पानी निकाल दिया, जिससे वह श्वासोच्छ्वास ठीक तरह से करने लगा। पन्द्रह दिन बाद फिर ऑपरेशन कर १४ पौण्ड पानी उसके पेट से निकाला। अब वह अच्छा हो गया और उसके पेट में फिर पानी जमा नहीं हुआ। पहले दिन से ही उसे मैं एक नीरोग और बलिष्ठ गाय का मूत्र शहद के साथ दिया करता और १ पौण्ड गोदुग्ध पिलाया करता था। पन्द्रह दिन बाद दो पौण्ड दूध देने लगा। इस इलाज से एक ही महीने में वह चंगा हो गया। मैंने इलाज बन्द कर दिया। यद्यपि अब गोमूत्र-सेवन के लिये उससे मैंने नहीं कहा था, तथापि वह बराबर गोमूत्र पीया करता था। उसका विश्वास हो गया था कि गोमूत्र से ही मेरे प्राण बचे हैं, इस कारण गोमूत्र-सेवन से वह विरत नहीं हुआ और धीरे-धीरे हट्टा-कट्टा हो गया। (कल्याण, गो-अङ्क)

सर्वेष्वपि च मूत्रेषु गोमूत्रं गुणतोऽधिकम् ।
अतोऽविशेषात् कथितं मूत्रं गोमूत्रमुच्यते ॥
प्लीहोदरश्वासकासशोथवर्चोग्रहापहम् ।
शूलगुल्मरुजानाहकामलापाण्डुरोगहृत् ।
कषायं तिक्ततीक्ष्णं च पूरणात् कर्णशूलहृत् ॥ (भावप्र. निघण्टु, मूत्रवर्ग)

गोमूत्र चिरका (तीता), तीखा, गरम, खारा, कड़ुआ और कफ मिटानेवाला है। हलका, अग्नि बढ़ानेवाला, बुद्धि और स्मरण-शक्ति बढ़ानेवाला, पित्त करनेवाला तथा कफ और वात को दूर करने-वाला है। शूल (दर्द), गुल्म (वायुगोला), उदर (जलोदर आदि), अफरा, खुजली, आँखों के रोग तथा मुखों के रोगों को परास्त करने-वाला है। किलास (एक प्रकार का कुष्ठ) आमवात, पेड़ू के दर्द और कुष्ठ का नाशक है। खांसी, दमा को मिटानेवाला तथा सूजन, पीलिया और रक्त की कमी को दूर करता है।

अकेले गोमूत्र मात्र के पीने से खुजली, किलास, गुदा का दर्द, मुख और आँख के रोग, गोला, दस्त लगना, वायु रोग, मूत्र रुकना, खांसी, कोढ़, पेट के कीड़े और पाण्डुरोग (रक्त की कमी) की निवृत्ति होती है।

सब (प्राणियों) के मूत्रों में गोमूत्र गुणों से अधिक है। इस कारण जहाँ (आयुर्वेद में) सामान्य मूत्र कहा हो वहाँ गोमूत्र लिया जाना चाहिए।

गोमूत्र प्लीहा, उदर, खांसी, दमा, सूजन और मलरोध को निवृत्त करता है। शूल, गोला की पीडा, अफारा, पीलिया और रक्त की कमी को मिटाता है। कसैला, कड़ुआ और तीखा होता है। कान में भरने से कान की पीडा को मिटाता है।

याद रखना चाहिए कि 'गो' शब्द संस्कृत में बैल और गाय दोनों के लिए आता है, पर मूत्र गाय का ही लेना चाहिए, बैल का नहीं। अतएव लिखा है कि—

गोऽजाविमहिषीणां तु स्त्रीणां मूत्रं विशिष्यते ।
खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम् ॥

अर्थात् गाय, बकरी, भेड़ और भैंस का स्त्री-जाति का मूत्र विशिष्ट होता है। गधे, ऊँट, हाथी, मनुष्य और घोड़े का मूत्र (औषधों में) पुरुष जाति का हितकारी होता है।

गोमय (गोबर)—पञ्चगव्य बनाते समय गोबर डालने का यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

अग्रमग्रं चरन्तीनामोषधीनां वने वने ।
तासामृषभपत्नीनां पवित्रं कायशोधनम् ॥
तन्मे रोगांश्च शोकांश्च नुद गोमय सर्वदा ।

अर्थात् जंगलों में ओषधियों के ऊपर-ऊपर के भाग को चरनेवाली गायों का गोमय पवित्र और शरीर को शुद्ध करनेवाला होता है। हे गोमय! वह तू मेरे रोगों और शोकों को सर्वदा दूर कर।

यह केवल प्रशंसा ही नहीं है।

"इटली में अब भी हैजा या अतिसार के रोगी को ताजे पानी में ताजा गोबर घोल कर पिलाते हैं और जिस तालाब के पानी में हैजे के जन्तु उत्पन्न हो गये हों उसमें गोबर डालते हैं। उनका अनुभव है कि इससे हैजे के जन्तु तुरन्त मर जाते हैं।"

(कल्याण, गो-अङ्क पृ० ४३१)

"मद्रास के सुप्रसिद्ध किंग कहते हैं—यह अब प्रयोगों से सिद्ध हो गया है कि गाय के गोबर में हैजे के जन्तु का संहार करने की विचित्र शक्ति है।......डाक्टरों ने अब सिद्ध कर दिया है कि रोगजन्तुनाश के लिए गोमय का बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपयोग है।"

(कल्याण गो. अङ्क पृ० ४३१)

पञ्चगव्य स्वयं एक औषध है—योगरत्नाकर में लिखा है—

गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम् ।
सिद्धं चतुर्थकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥
अपस्मारे ज्वरे कासे श्वयथावुदरेषु च ।
गुल्मार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ।
अलक्ष्मीग्रहरक्षोघ्नं चतुर्थकविनाशनम् ॥

गाय के गोबर का रस, दही का खट्टा पानी, दूध और गोमूत्र बराबर लेकर उनसे तयार किया हुआ घृत चौथिया (चार-चार दिन में आने वाला ज्वर), पागलपन, भूत-प्रेत और अपस्मार (मिर्गी) का नाशक है। यह अपस्मार, ज्वर, खांसी, सूजन, उदर नामक रोगों में, गोले, बवासीर और तीनों तरह के पीलिया रोगों में (हितकारी है)। अलक्ष्मी, भूतप्रेत और राक्षसों का तथा चौथिया का नाशक है।

पञ्चगव्य में जो कुश का जल मिलाया जाता है वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कुशों के लिए वेद कहते हैं—'वर्हिर्वै देवसदनम्'—अर्थात् कुश देवों का निवास है। देवतत्त्व उसके अन्दर भरे हैं। जल का यह स्वभाव है कि वह जिस वस्तु के साथ मिलता है उसके गुण-धर्मों को ग्रहण कर लेता है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में 'मेध्या वा आपः' कहा गया है। सो देवतत्त्वों से पवित्र जल पञ्चगव्य में मिल जाने से वह और भी उत्कृष्ट गुणवाला हो जाता है।

पञ्चगव्यप्राशन के अनन्तर उस दिन दशविध अथवा अष्टविध स्नान किए जाते हैं। दशविध स्नान में पांच तो वही वस्तुएँ हैं जो पञ्चगव्य में हैं। उनके गुण-धर्म ऊपर विस्तार से बताये जा चुके हैं। शेष पाँच हैं मृत्तिका, भस्म, गोमय, कुशजल और शुद्ध जल। इनमें से गोमय की तो पुनरावृत्ति है और कुशजल तथा शुद्ध जल के गुण भी जो पहले बताए जा चुके हैं वे ही हैं। शेष मृत्तिका और भस्म दो वस्तुएँ

हैं। इन दोनों के गुणों से प्रायः सभी परिचित हैं। भारतवर्ष में कौन ऐसा होगा जो मृत्तिका अथवा भस्म से बरतन न मांजता हो। बरतन मांजते समय प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि ये दोनों वस्तुएँ चिकनाई तथा चिकनाई के साथ जमे मल को साफ करती हैं उसी प्रकार शरीर में भी जब पहले चिकनाई में जल लगने से मल फूल जाता है तब उसे इन दोनों के द्वारा निवृत्त कर दिया जाता है। इस तरह भौतिक दृष्टि से भी ये दशविध स्नान उपकारक हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से पाप-निवृत्ति तो है ही।

रहा ऋषिपूजन सो वह तो इस दिन होना ही चाहिए, क्योंकि यह उत्सव वेदाध्ययनसंबन्धी है और वेदों के वे ही द्रष्टा हैं। वेदाध्ययन हमारे यहाँ ऋषि-ऋण ही माना जाता है। अतः इस दिन भी यदि उनका पूजन न हो तो फिर हो ही किस दिन ? इसलिए इसमें विशेष उपपत्ति की आवश्यकता नहीं।

अभ्यास

(१) प्रत्येक वेद के अनुसार उपाकर्म का समय बताइए तथा कालनिर्णय समझाइए।

(२) उपाकर्म क्या है ? अब वेदों के अध्ययन का ह्रास हो रहा है फिर यह उत्सव क्यों मनाया जाय ?

(३) उपाकर्म की सामान्य विधि समझाइए।

(४) पञ्चगव्य के गुण बताइए और यह समझाइए कि क्या गोमूत्र और गोमय जैसी वस्तुएँ भी अवश्य ग्राह्य हैं ?

(५) गोमूत्र के विषय में डाक्टर चाटी का अनुभव निरूपण करिए। (टिप्पणी में)

(६) कुशोदक, दशविध स्नान और ऋषिपूजन का महत्त्व समझाइए।

जन्माष्टमी

समय

जन्माष्टमी का उत्सव भाद्रपद कृष्ण (दाक्षिणात्यों के हिसाब से श्रावण कृष्ण) अष्टमी को होता है।

काल-निर्णय

इस व्रत में सप्तमी–सहित अष्टमी का ग्रहण निषिद्ध है। जन्माष्टमी का कालनिर्णय धर्मशास्त्रों में बड़े विस्तार से किया गया है। जिनको इस विषय की विशेष जिज्ञासा हो वे धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु आदि तथा तत्तत्सम्प्रदायों के ग्रन्थों में देख सकते हैं। यहाँ हम ग्रन्थ को जटिलता से बचाने के लिये तथा विस्तार के भय से उन सब का सारांश देने में भी असमर्थ हैं। अतः केवल मोटी बातें ही यहाँ दी जा रही हैं।

साधारणतया आजकल इस व्रत के विषय में दो मत हैं। स्मार्त लोग अर्धरात्रि का स्पर्श होने पर या रोहिणी नक्षत्र का योग होने पर सप्तमी सहित अष्टमी में भी उपवास करते हैं, किन्तु वैष्णवलोग सप्तमी का किञ्चिन्मात्र स्पर्श भी सहन नहीं करते। उनके यहाँ सप्तमी का स्पर्श होने पर द्वितीय दिवस ही उपवास होता है, चाहे अष्टमी कला–काष्ठा मात्र ही हो। निम्बार्कसम्प्रदायी वैष्णव तो पूर्वदिन अर्धरात्रि से कुछ पल भी सप्तमी अधिक हो तो भी अष्टमी को उपवास न करके नवमी में ही उपवास करते हैं। प्रायः यही मत रामानन्द सम्प्रदायियों को भी मान्य है। रामानुज सम्प्रदायवाले नक्षत्र को ही प्रधानता देते हैं। उनके यहाँ सिंह संक्रान्ति में रोहिणी नक्षत्र जब आता है तभी जन्माष्टमी मनाई जाती है, तिथि का उनके यहाँ विशेष आदर नहीं है। शेष वैष्णवों

में उदयव्यापिनी अष्टमी को प्रधानता दी जाती है। विशेष निर्णय तत्तत्सम्प्रदायग्रन्थों से समझना चाहिए।

विधि

इस दिन भगवान् का प्रादुर्भाव होने के कारण धर्मशास्त्रों में पलंग पर देवकी-सहित श्रीकृष्ण[1] के पूजन का विधान है। प्रथम देवकी का पूजन करके फिर श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिए। देवकी के पूजन का मन्त्र यह है—

> गायद्भिः किन्नराद्यैः सततपरिवृता वेणुवीणानिनादैः,
> शृङ्गारादर्शकुम्भप्रवरकृतकरैः किङ्करैः सेव्यमाना ।
> पर्यङ्के स्वास्तृते या मुदिततरमुखी पुत्रिणी सम्यगास्ते,
> सा देवी देवमाता जयति सुतनया देवकी कान्तरूपा ॥

किन्तु आजकल सभी मन्दिरों में अथवा भगवद्भक्तों के घरों में भी अर्धरात्रि के समय पञ्चामृतस्नान और विशिष्ट रूप से सेवा शृङ्गारादि ही इस उत्सव का प्रधान विधान माना जाता है। उपवास तो ऐसे उत्सवों का मुख्य अङ्ग है ही, जैसा कि रामनवमी के विधि-विज्ञान में लिखा जा चुका है। पञ्चामृतस्नान के अनन्तर षोडशोपचार से अथवा यथालब्ध उपचारों से पूजन किया जाता है।

धर्मशास्त्रों में पूजन के बाद इस दिन शंख से चन्द्रमा और श्रीकृष्ण के लिए अर्घ्यदान का विधान है। रात्रि में जागरण और भगवत्कीर्तन भी इस उत्सव का प्रधान अङ्ग है। श्रीनाथद्वारा और व्रज (मथुरा वृन्दावन) में

---

१. पर्यंकस्थां किन्नरा(किङ्करा)द्यैर्युतां ध्यायेत्तु देवकीम् ।
श्रीकृष्णं बालकं ध्यायेत्पर्यङ्के स्तनपायिनम् ॥
श्रीवत्सवक्षसं शान्तं नीलोत्पलदलच्छविम् ।
संवाहयन्तीं देवक्याः पादौ ध्यायेच्च तां श्रियम् ॥
(धर्मसिन्धु, द्वि० प०, जन्माष्टमी-निर्णय)

यह उत्सव बड़े विशिष्टरूप से होता है। वैसे तो जन्माष्टमी समग्र भारतवर्ष का सर्वमान्य उत्सव है, किन्तु वल्लभ, चैतन्य और निम्बार्क संप्रदाय का यह सबसे बड़ा उत्सव है।

इसके द्वितीय दिन (अर्थात् नवमी को) नन्दमहोत्सव किया जाता है। इस उत्सव में दही, दूध, घी, जल और हरिद्रा, तैल आदि से परस्पर सेचन तथा विलेपन किया जाता है। जैसा कि—

'हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्योऽजनमुज्जगुः ।' (श्रीमद्भागवत १०।५।१२)

और—

'गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः ।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ।' श्रीमद्भागवत (१०।५।१०)

इन श्लोकों में वर्णन है।

काल-विज्ञान

ऋतु—रामनवमी के काल-विज्ञान में यह बताया जा चुका है कि भारतवर्ष की सर्वोत्तम ऋतुएं दो ही हैं—एक वर्षा और दूसरी वसन्त। उनमें से भगवान् कृष्ण का प्रादुर्भाव वर्षा ऋतु में हुआ है। वसन्त में यद्यपि बाग-बगीचे कुसुमित और सुरभित होते हैं, अतएव वसन्त को ऋतुराज कहा जाता है, तथापि सर्वसाधारण को लाभ पहुँचानेवाली और पृथ्वी के चप्पे-चप्पे को नयन-मनोहारिणी हरियाली से तथा जलप्लावन से क्षालित करके 'धोये धोये पातन की लुनाई' लानेवाली, सकल-जन-सुखदायी ऋतु वर्षा ही है। अतएव राजा राम के ऋतुराज में प्रकट होने पर भी गोकुल के ग्वाल-बालों में बाल्य-जीवन व्यतीत करनेवाले भगवान् ने तो वर्षा ऋतु को ही पसन्द किया। यह उचित भी है, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम के प्रकट होने पर भूमि का कोई भी भाग उल्लास-शून्य कैसे रह सकता है। जिस तरह भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम विश्वम्भर हैं उसी प्रकार वर्षा ऋतु भी विश्वम्भर है। वसन्त से चाहे

गंगा, यमुना, सिन्धु, गोदावरी और कावेरी के प्रचुर सलिल से प्लावित वनों और उपवनों की मालाएं पल्लवित, पुष्पित और फलित हो सकती हैं, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम के जन्म की ऋतु मर्यादानुसार किसी भी वृक्ष और लता को अनुपम शोभा और सौरभ दान कर सकती है, किन्तु निर्जलमरुस्थल की बीहड़ भूमि भी जिस ऋतु में अन्न-जल से परिपूर्ण और फलित-पुष्पित होती है वह ऋतु तो वर्षा ही है। इस ऋतु में जहाँ पुण्यसलिला सरिताओं के और हरित-भरित पर्वतों के परिसर आमोद-प्रमोद से दर्शकों को प्रमुदित करते हैं वहाँ ८ महीने अत्यन्त शीत और उष्ण से क्लान्त रहनेवाले सिकतामय मरुस्थल के प्रदेश भी सस्य-सम्पत्ति से आबाल-वृद्ध जनता का केवल मनोरंजन ही नहीं करते, किन्तु धन-धान्य की अभिवृद्धि का आश्वासन देकर परम सुखित कर सकते हैं। इसलिए पूर्ण पुरुषोत्तम विश्वम्भर प्रभु का प्रादुर्भाव इस ऋतु में ही होना चाहिए। यह उचित ही है।

मास—वर्षा ऋतु में दो मास होते हैं—श्रावण और भाद्रपद। उनमें से भाद्रपद अन्तिम मास है। श्रावण में आरम्भ होने पर भी वर्षा की कार्य-क्षमता भाद्रपद में ही प्रतीत होती है। श्रावण तो एक प्रकार से कृषकों के लिए आशा और निराशा के बीच का समय है, किन्तु भाद्रपद वर्षाऋतु का निर्णायक मास है। यदि इस मास तक उत्तम वृष्टि हो गई तो सुभिक्ष है, अन्यथा दुर्भिक्ष।

भगवान् का प्रादुर्भाव भी निराशा में आशा-संचार का निर्णायक है। उनके प्राकट्य के बाद भक्तों और भगवान् के अनुयायियों की आशाएं फलोन्मुख हो गई हैं, जिस प्रकार कि भाद्रपद में कृषकों की आशाएं फलोन्मुख हो जाती हैं। इसी कारण श्रीमद्भागवत में ठीक ही लिखा है कि—

'मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ।

अर्थात् असुरों के द्रोही सत्पुरुषों के मन प्रसन्न हो गए ।'

सो भगवान् श्रीकृष्ण ने कृषिप्रधान भारत के आशापूर्ण अवसर भाद्रपद मास में ही प्रकट होना उचित समझा ।

पक्ष—साधारणतया यह कहा जा सकता है कि निर्दोष और प्रकाश-रूप प्रभु का प्राकट्य पूर्णचन्द्र की चन्द्रिका से चतुर्दिक् प्रकाशित शुक्लपक्ष में ही होना चाहिए, जैसा कि भगवान् राम का प्रादुर्भाव हुआ है। फिर भगवान् कृष्ण का प्रादुर्भाव अन्धकारमय कृष्ण-पक्ष में क्यों ? परन्तु ऐसी शंका करनेवालों ने कदाचित् विचार नहीं किया है कि भगवान् का प्रादुर्भाव अन्धकार के समय प्रकाश देने के लिए ही हुआ करता है। अतएव श्रुति भगवती भगवान् से प्रार्थना करती है कि **'तमसो मा ज्यो-तिर्गमय**—अर्थात् मुझे अन्धकार में से प्रकाश में पहुँचाओ'। कृष्णपक्ष अन्धकार का समय है और जब कोई मार्ग नहीं सूझता तभी पूर्णब्रह्म परमात्मा की आवश्यकता अनुभूत होती है । भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य इसी कारण कृष्णपक्ष में हुआ है। भगवान् राम मर्यादापुरुषो-त्तम हैं, अतएव वे मर्यादानुसार यथासमय कार्य करते हैं, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम का तो प्राकट्य ही असम्भव को सम्भव करने के लिए हुआ करता है। सो अन्धकारमय कृष्ण-पक्ष उनके प्रकाश-मय प्रादुर्भाव के अनुरूप ही है।

तिथि—कहा जा सकता है कि अन्धकार में प्रकाश करने को ही यदि प्रभु का प्राकट्य होता है तो फिर अमावस्या को जबकि पूर्ण अन्धकार हो जाता है तभी प्रभु का प्राकट्य क्यों न हुआ ? अष्टमी को ही क्यों ? इसका उत्तर यह है कि प्रभु यद्यपि सर्वसमर्थ हैं, तथापि वे यथासम्भव अपने बनाये हुए नियमों का परिपालन ही उचित समझते हैं। जब सर्वथा प्रकाश का समय नहीं होता तब आसुरी वेला होती है। ऐसे समय अन्धन्तम के अथवा नरक के अधिकारी जीवों का ही प्राधान्य

होता है और जब केवल आसुर जीव ही संसार में रहते हैं, तब प्रभु का प्राकट्य नहीं होता, किन्तु जब प्रकाशमय दैवी जीवों पर तमोमय आसुर जीवों का आक्रमण होता है और दोनों भाग समान से होते हैं, परन्तु असुरों अथवा असाधुओं के प्रबल होने का और सुरों तथा साधुओं के निर्बल होने का समय होता है तब ही भगवान् का प्राकट्य होता है जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

अर्थात् भगवान् सत्पुरुषों की रक्षा और दुष्कर्म करनेवालों के विनाश के लिए (प्रादुर्भूत होते हैं)।'

अब प्रकृत में देखिए, असुरों के प्रतीक अन्धकार और साधुओं अथवा सुरों के प्रतीक प्रकाश की यह स्थिति कृष्णपक्ष की अष्टमी को ही होतीं है। उस दिन यद्यपि अर्धरात्रि को चन्द्रोदय होने के कारण रात्रि में अन्धकार और प्रकाश का भाग समान-समान सा रहता है तथापि अन्धकार प्रवर्धमान और प्रकाश क्षीयमाण होता है। अतः भगवान् ने अष्टमी ही अपने प्राकट्य के लिए उचित दिवस समझा।

दूसरा कारण यह भी है कि भगवान् परम दयालु हैं। वे अपने भक्तों अथवा साधुओं की सर्वथा अन्धकार में पहुँचने तक की स्थिति को नहीं सहन कर सकते। आधे डूबते-डूबते ही वे उद्धार के लिए प्रवृत्त हो जाते हैं। इस स्वभाव को सूचित करने के लिए भी भगवान् का प्राकट्य अष्टमी तिथि को है, जिस दिन अर्धरात्रि के समय ही प्रकाश का प्रारम्भ हो जाता है।

अर्धरात्रि के समय का विज्ञान भी उपर्युक्त विवेचन से गतार्थ है, क्योंकि अन्धकार की निवृत्ति और सुख-शान्ति के प्रतीक चन्द्रोदय का आरम्भ उसी समय होता है। अतएव—

निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने ।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ॥
प्रादुरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ।
(श्रीमद्भागवत १०।३।८)

अर्थात् अर्धरात्रि के समय, जब कि अन्धकार ऊपर उठ रहा था (विदा हो रहा था) अर्थात् अविद्या निवृत्त हो रही थी और चन्द्रोदय हो रहा था, किंवा मनुष्यों की तरफ से प्रार्थना हो रही थी, उस समय देवरूपिणी देवकी में सब के अन्तःकरण में विराजमान (व्यापक परब्रह्म) विष्णु यथार्थरूप से प्रकट हुए, जैसे कि पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र प्रकट हुआ।

यह कहा गया है।

विधि–विज्ञान

उपवास, जागरण और प्रतिमा–पूजन का विज्ञान तो रामनवमी में लिखा ही जा चुका है। शेष वस्तुओं का और इस उत्सव की विशेषताओं का कुछ विवेचन अब यहाँ किया जा रहा है।

पञ्चामृत—गाय के दूध, दही, घी, शहद और चीनी इन पाँच वस्तुओं का नाम पञ्चामृत है। इन पाँचों को अमृत की पदवी ऋषियों ने वास्तव में यथार्थ ही दी है। भूलोक में यदि अमृत कुछ भी हो सकता है तो यही पाँच हैं। इन पाँचों में से गाय के दूध, दही और घृत के गुण पहले (उपाकर्म प्रकरण में) लिखे जा चुके हैं। शर्करा के विषय में चरकसंहिता में लिखा है—

'तृष्णाऽसृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः ।

अर्थात् प्यास, रुधिरप्रवाह, पित्त तथा जलन में सब प्रकार की शर्कराएँ प्रशस्त हैं, उनके प्रयोग से ये सब दोष शान्त होते हैं।'

पाठकों को कदाचित् यह बताना अनुपयोगी होगा कि उपवास के कारण प्रायः यही दोष पैदा होते हैं और इनको शान्त करने में शर्करा बहुत ही उपयोगी है।

शहद के विषय में आयुर्वेद में लिखा है कि—

'नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु।

अर्थात् शहद अनेक द्रव्यों से बनता है, अतः वह योगवाही है। तात्पर्य यह है कि शहद जिन चीजों के साथ रहता है वैसा ही गुण करता है। इसका प्रकृत अर्थ यह हुआ कि मधु मिला देने से उन चारों अमृतों के गुण और भी बढ़ जाते हैं।'

इसी प्रकार दूसरे दिन होनेवाले नन्दमहोत्सव में जो दही, दूध आदि उछाला जाता है वह भी वास्तव में पित्तादि विकारों को शान्त करनेवाला है।

इस उत्सव की सबसे बड़ी विशेषता तो विनोदमयता है। सौन्दर्य और विनोद का जैसा संयत संयोग इस उत्सव में होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। आनन्दमय नन्दनन्दन का यह जन्मदिन वास्तव में सौन्दर्यमय और आनन्दमय है। इसके वास्तविक स्वरूप का अनुभव उन्हीं भावुक भक्त-हृदयों को होता है जिनने इन उत्सवों में श्रद्धापूर्वक सहयोग दिया है। इसलिए यह वस्तु विवेचनसापेक्ष न होकर अनुभवैकगम्य है।

कथा

युधिष्ठिर ने पूछा—हे कृष्ण! कृपाकर जन्माष्टमी का वर्णन करिए। यह कब से चालू हुई है, इससे क्या पुण्य होता है और इसकी क्या विधि है?

श्रीकृष्ण ने कहा—हे युधिष्ठिर! जब मथुरा में दुष्ट कंसासुर मर चुका तब माता देवकी ने मेरा आलिंगन करके मुझे गोद में बैठा लिया

और रोने लगी। वहाँ रंगस्थल के मार्ग में लोगों की भीड़ मंचों पर आरूढ़ थी। मल्लयुद्ध समाप्त हो चुका था। यादवलोग स्वजन-बान्धव, प्रेमीजन और स्त्रियों से घिरे हुए खड़े थे। वसुदेवजी उनके बीच में बार-बार मेरा आलिंगन करते हुए गद्गदवाणी से 'पुत्र, पुत्र' पुकार कर अत्यन्त हर्षित होते हुए आनन्द से अश्रुपात करने लगे और कहने लगे कि—आज मेरा जन्म सफल हुआ तथा जीवन सु-जीवन हो गया, जो दोनों पुत्रों के साथ आज मेरा समागम हो रहा है।

इस तरह दोनों स्त्री-पुरुषों (देवकी वसुदेव) को हर्षयुक्त देखकर सबलोग हर्षित हुए और प्रणाम करके मुझसे कहने लगे—हे जनार्दन ! आज हमको अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। बड़े आनन्द की बात है कि आपने मल्लयुद्ध द्वारा कंस को मार डाला। हे मधुसूदन, अब आपके जन्म-महोत्सव को समाज में (प्रचलित) देखकर जनता आपकी कृपा चाहती है। अतः कृपा करके जिस दिन देवकीजी ने आपको प्रकट किया उस दिन को भक्ति द्वारा शरणागत लोगों के समक्ष वर्णन करिए।

लोगों के इस वाक्य को सुनकर वसुदेवजी ने मुझसे कहा कि—तुम जनता को ठीक-ठीक अपना प्राकट्य-समय बताओ। तब पिताजी की आज्ञा से मैंने जनता के समक्ष मथुरा में जन्माष्टमीव्रत प्रकाशित किया।

मैंने कहा कि जब सूर्य सिंहराशि पर थे, आकाश में बादल मँडरा रहे थे, भाद्रपद का महीना था, कृष्णपक्ष की अष्टमी और आधीरात का समय था, चन्द्रमा वृषराशि पर था और रोहिणी नक्षत्र था, उस समय वसुदेवजी के द्वारा देवकी में मैं प्रकट हुआ। यह जन्माष्टमी-व्रत मैंने आपको वर्णन किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और सब धार्मिक लोग मथुरा में यह महोत्सव करें। बाद में यह व्रत संसार में विख्यात हो

जायगा। इस व्रत के द्वारा संसार में सुख शान्ति हो और लोग नीरोग रहें। यह मेरा आशीर्वाद है।

हे युधिष्ठिर, इस तरह मैंने तुम्हें जन्माष्टमी का दिन वर्णन किया। युधिष्ठिर ने पूछा—हे देव ! सब लोगों ने जिस पवित्र जन्माष्टमीनामक व्रत को किया वह किस प्रकार का है ? जिस जन्माष्टमी-व्रत के करने से आप प्रसन्न होते हैं और जिसके श्रवण-मात्र से सात जन्मों का किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है उस जन्माष्टमी-व्रत को आप प्रधानरूप से वर्णन करिए।

श्रीकृष्ण ने कहा—पापों से निवृत्त होना और गुणों के साथ सर्व भोगों से रहित होकर निवास करना इसको उपवास समझना चाहिए। यह तो हुआ उपवास शब्द का अर्थ (जो इस व्रत का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है)।

इसके बाद जन्माष्टमी (के उत्सव) की विधि वर्णन करता हूँ। उसे तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। व्रत करनेवाला मध्याह्न समय नदी आदि के विमल जल में स्नान करके देवकी देवी का शुभ सूतिकागृह निर्माण करे। उसे वस्त्रों और रस्सियों से सुशोभित करे। घण्टा, झाँझ आदि बजावे। मंगल कलश स्थापित करे। दरवाजे पर मुसल स्थापित करे। रत्नकों से रक्षित करके धूप, दीप तथा विविध नैवेद्य सजावे। इसी प्रकार उसके समीप गोप-गोपीजन सहित यशोदा का सूतिका-गृह बनावे।

इस तरह यथाशक्ति सूतिकागृह बनाकर उसके मध्य में प्रतिमा स्थापित करे। प्रतिमा आठ प्रकार की होती है। सोने की, चाँदी की, ताँबे की, पीतल की, मृत्तिका की, मणि की, स्फटिक की अथवा चित्र-लिखित। उस प्रतिमा में सब लक्षणों से सम्पूर्ण, पलंग पर आधी सोई हुई तप्तसुवर्ण की सी कान्तिवाली हर्षयुक्त तत्क्षण प्रसूत मेरे सहित माता देवकी और मैं स्तन पीता हुआ तथा पलंग पर सोया हुआ बनाया जाऊँ। मेरे वक्षःस्थल पर श्रीवत्स हो और मेरा रंग नील-कमल की पंखड़ी

के समान श्याम हो। देवी यशोदा के पास तत्कालप्रसूत श्रेष्ठ कन्या होनी चाहिए। देवता, ग्रह, नाग, यक्ष, विद्याधर और मनुष्य उसके चारों तरफ पुष्प-मालाएँ हाथों में लिए हुए, आकाश में संचार करते हुए अथवा परकोटे पर चढ़े हुए और प्रणाम करते हुए दिखाये जाने चाहिए। ढाल, तलवार लिए हुए वसुदेवजी भी वहीं होने चाहिए।

वसुदेव जी कश्यप का, देवकी अदिति का, बलभद्र शेषनाग का, यशोदा जयन्ती देवी का, नन्दराय जी दक्ष प्रजापति का, गर्गाचार्य बृहस्पति का और कंस कालनेमि का अवतार हैं।

सूतिका-गृह के पास कंस के नियुक्त किये हुए विविध आयुधों से युक्त पहरेदार दानव सभी सोते हुए और निद्रा से मोहित बनाने चाहिए। पास में गायें, हाथी, घोड़े और शस्त्र हाथ में लिए हुए दानव भी दिखाये जाने चाहिए। हर्षयुक्त नाचती हुई अप्सराएँ, गायन में तत्पर गन्धर्व और यमुना जी के दह में कालियनाग भी लिखा जाना चाहिए। इस तरह माता देवकी का सूतिका-गृह बना कर परमभक्ति से गन्ध, पुष्प, अक्षत, फल, कूष्माण्ड, नारियल, छुहारे, अनार, बिजोरे, सुपारी और लीची आदि तथा उस देश-काल में उत्पन्न होने वाले फल-पुष्पों से पूजन करना चाहिए। पूर्वोक्त अवतार का ध्यान करके इस मन्त्र से पूजन करे।

'गायद्भिः किन्नराद्यैः सततपरिवृता वेणुवीणानिवादैः,
भृङ्गारादर्शकुम्भप्रवरयुतकरैः सेव्यमाना मुनीन्द्रैः।
पर्यंङ्के राजमाना प्रमुदितवदना पुत्रिणी सम्यगास्ते,
सा देवी-देवमाता जयति सुरमुखा देवकी कान्तरूपा ॥'

देवकी जी के चरणों के पास यशोदा जी की शय्या बनावे और उस पर (पुत्री सहित) यशोदा जी को विराजमान करके 'नमो देव्यै श्रियै' इस मन्त्र से पूजा करे, क्योंकि यशोदा जी जयन्तीरूप हैं। फिर—

ॐ देवक्यै नमः, ॐ वसुदेवाय नमः, ॐ बलभद्राय नमः, ॐ सुभद्रायै तमः, ॐ कृष्णाय नमः, ॐ यशोदायै नमः, ॐ नन्दाय नमः इत्यादिक नामों को पृथक्-पृथक् बोलकर द्विजाति लोग पूजा करें। स्त्री, शूद्र विना ही मन्त्र के पूजा करें।

इस उत्सव में कुछ विद्वान् दूसरी विधि भी मानते हैं। उनके अनुसार चन्द्रोदय होने पर भगवान् का स्मरण करते हुए चन्द्रमा को अर्घ्यदान करना चाहिए। भगवान् के स्मरण करने के मन्त्र निम्नलिखित हैं—

अनादिं वामनं शौरिं वैकुण्ठं पुरुषोत्तमम्।
वासुदेवं हृषीकेशं माधवं मधुसूदनम्॥
वाराहं पुण्डरीकाक्षं नृसिंहं मुरमर्दनम्।
दामोदरं पद्मनाभं केशवं गरुडध्वजम्॥
गोविन्दमच्युतं कृष्णमनन्तमपराजितम्।
अधोक्षजं जगद्बीजं सर्गस्थित्यन्तकारकम्॥
अनादिनिधनं विष्णुं त्रैलोक्येशं त्रिविक्रमम्।
नारायणं चतुर्बाहुं शंखचक्रगदाधरम्॥
पीताम्बरधरं नित्यं वनमाला–विभूषितम्।
श्रीवत्सांकं जगत्सेतुं श्रीधरं श्रीपतिं हरिम्॥'

स्मरण करने के बाद भगवान् को स्नान करावे। स्नान का मन्त्र यह है—

'योगेश्वराय योगसंभवाय, योगपतये गोविन्दाय नमो नमः॥'

अनुलेपन (गन्ध), अर्घ्य, आचमन का मन्त्र यह है—

'यज्ञेश्वराय यज्ञसंभवाय यज्ञपतये गोविन्दाय नमो नमः।'

नैवेद्य का मन्त्र यह है—

'विश्वेश्वराय विश्वसंभवाय विश्वपतये नमः।'

दीपक का मन्त्र यह है—

'धर्मेश्वराय धर्मसंभवाय धर्मपतये गोविन्दाय नमः ।'

चन्द्र के अर्घ्य-दान का मन्त्र यह है—

क्षीरोदार्णवसंभूत । अत्रिनेत्रसमुद्भव ।
गृहाणार्घ्यं शशाङ्क ! त्वं रोहिण्या सहितो मम ॥

वेदी बनाकर उस पर भगवान् कृष्ण, रोहिणी सहित चन्द्रमा, देवकी-वसुदेव, यशोदा-नन्द और बलदेव को स्थापित करके पूजा करे। इससे सब पापों से मुक्त हो जाता है। अर्धरात्रि के समय गुड़ और घी से वसोर्धारा करे। फिर चावलों से वर्धापन करे, यह मुझे बहुत प्रिय है।

दूसरे दिन नवमी को प्रातःकाल जैसे मेरा वैसे ही भगवती का महोत्सव करे। शक्ति-अनुसार ब्राह्मण-भोजन करावे। उनको चाँदी, सोना, गौ और अनेक प्रकार के वस्त्र आदि दक्षिणा रूप में दान करे और भी जो-जो अपने को प्रिय हों, उन सब वस्तुओं का 'भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों' यह संकल्प करके दान करे। फिर—

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै तस्मै श्रीब्रह्मणे नमः ॥
सुजन्मवासुदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
शान्तिरस्तु शिवं चास्तु ॥

यह मंत्र बोलकर विसर्जन करे।

हे धर्मनन्दन ! इस तरह जो मेरा भक्त प्रतिवर्ष देवकी देवी का और मेरा महोत्सव करता है वह, स्त्री हो या पुरुष, यथोक्त फल को प्राप्त होता है। उसे पुत्र, संतान, आरोग्य, धन-धान्य की ऋद्धि से युक्त उत्तम भवन प्राप्त होता है। जहाँ मेरी पूजा होती है वह राष्ट्र चावल, गन्ने, जौ आदि धान्यों से सम्पूर्ण रहता है। (वहाँ की जनता) दीर्घायु होकर मनोवांछित फलों को प्राप्त करती है। उस राष्ट्र में शत्रुओं का भय नहीं

रहता। इन्द्र यथेष्ट वर्षा करता है और ईतियों (तोते, चूहे और टिड्डे आदि)[1] का भय नहीं होता।

जिस घर में यह देवकी जी का चरित्र लिखित रहता है वहाँ मुर्दे का निकलना, गर्भ गिरना, रोग का भय नहीं होता। उस घर में विधवा-पन, भाग्यहीनता और दन्तकटाकट नहीं होती।

हे युधिष्ठिर! जो मनुष्य जन्माष्टमी का व्रत करता है, वह विष्णु-लोक को प्राप्त होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

यह जन्माष्टमी की कथा मनुष्य के मन और कानों को प्रसन्न करने वाली है और इससे नन्दराय जी तत्काल ही प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसे ही देवकी जी की क़था को जो सुनता है अथवा पढ़ता है उसे पुत्रों की प्राप्ति होती है और अन्त में वह भगवान् विष्णु के लोक को जाता है।

(व्रतार्क में ब्रह्माण्डपुराण से उद्धृत)

अभ्यास

(१) जन्माष्टमीके कालनिर्णय के विषय में आप क्या जानते हैं?

(२) जन्माष्टमी के उत्सव की विधि का निरूपण करिए।

(३) भगवान् कृष्ण का प्रादुर्भाव वर्षाऋतु, कृष्णपक्ष की अष्टमी और अर्धरात्रिके समय क्यों हुआ?

(४) पञ्चामृत के गुणवर्णन करिए।

(५) कथा का सरांश कहिए।

---

१. यद्यपि अतिवृष्टि, अवृष्टि, चूहे, टिड्डियाँ, तोते और समीप के राजा—इन छः को ईति कहते हैं, तथापि चूहे, तोते और टिड्डे ये ही यहाँ पर ईति शब्द से लेना चाहिए, क्योंकि शेष इस श्लोक में अलग आ चुके हैं।

गणेश चतुर्थी

समय

भाद्रशुक्ला चतुर्थी

काल-निर्णय

यह तिथि मध्याह्नव्यापिनी लेनी चाहिए। तृतीया और चतुर्थी दोनों दिन मध्याह्न में चतुर्थी हो या दोनों दिन ही मध्याह्न में चतुर्थी न हो तो तृतीया को करनी चाहिए, तृतीया के दिन किञ्चित् भी मध्याह्न का स्पर्श न हो अथवा तृतीया के दिन मध्याह्न में थोड़ी हो और चतुर्थी के दिन पूरे मध्याह्न में हो तभी चतुर्थी को करनी चाहिए। इस दिन रविवार अथवा मंगलवार हो तो प्रशस्त है।

विधि

गणेशजी की मिट्टी आदि की मूर्ति बनाकर पूजा करनी चाहिए। पूजा के समय लड्डू भोग धरके हरी दूब के २१ अंकुर हाथ में लेकर उनमें से दो-दो निम्नलिखित दश नामों में से एक-एक नाम से चढ़ावे। फिर दसों नाम बोलकर अवशिष्ट एक दूब चढ़ावे। दस नाम ये हैं—

(१) गणाधिपाय, (२) उमापुत्राय, (३) अघनाशनाय, (४) विनायकाय, (५) ईशपुत्राय, (६) सर्वसिद्धिप्रदाय, (७) एकदन्ताय, (८) इभवक्त्राय, (९) मूषिकवाहनाय, (१०) कुमारगुरवे।

फिर दस लड्डू ब्राह्मण को दान करके दस लड्डू स्वयं खावे।

इस दिन चन्द्रदर्शन का निषेध है। यदि चन्द्रमा दीख जाय तो यह श्लोक पढ़ लेना चाहिए—

सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः ।
सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः ॥

काल-विज्ञान

ऋतु और मास—भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है। इसमें वर्षाऋतु से सुन्दर कोई ऋतु नहीं है, जिसका विस्तृत विवरण जन्माष्टमी के प्रसंग में दिया जा चुका है। वर्षाऋतु का भी द्वितीय मास फसल पकने का समय है। गणेश जी विघ्नों के राजा माने जाते हैं। यदि खेती में विघ्न हो गया तो भारतवर्ष के लिए इससे अनिष्ट कोई वस्तु नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे समय विघ्नराज का पूजन आवश्यक ही है।

पक्ष और तिथि—यद्यपि गणेश जी का पूजन कृष्णपक्ष में अभ्यर्हित बताया गया है जैसा कि व्रतार्क में स्कन्दपुराण का वचन है—

चतुर्थ्यां देवदेवोऽसौ पूजनीयः प्रयत्नतः। कृष्णपक्षे विशेषेण

तथा—

सदा कृष्णचतुर्थ्यां तु मोदकाद्यैः प्रपूज्य माम्।

(अर्थात् देवदेव गणेश जी की पूजा प्रयत्नपूर्वक चतुर्थी को करनी चाहिए। विशेषतया कृष्णपक्ष में। सदा कृष्णपक्ष की चतुर्थी को लड्डू आदि से मेरी पूजा करके') तथापि भाद्रपद शुक्लपक्ष में सिद्धिविनायक का व्रत वर्षाऋतु की फसल के परिपाक को दृष्टि में रखकर ही रखा गया प्रतीत होता है। सामान्य दृष्टि से भी विघ्नविनाशार्थ शुक्लचतुर्थी ही उचित है, क्योंकि शुक्ल चतुर्थी का आरम्भ प्रकाशमय होता है जो शुभ का सूचक है। चतुर्थी[1] तो गणेश जी की तिथि है ही।

---

1. चतुर्थ्यां गणनाथस्य (अग्निपुराण पीयूषधारा)

इस दिन यद्यपि नक्तव्रत का विधान है अतः भोजन सायंकाल करना चाहिए तथापि पूजा यथासंभव मध्याह्न में ही करनी चाहिए; क्योंकि—

'पूजाव्रतेषु सर्वेषु मध्याह्नव्यापिनी तिथिः

अर्थात् सभी पूजाव्रतों में तिथि मध्याह्नव्यापिनी लेनी चाहिए।'

विधि-विज्ञान

प्रतिमापूजन का विज्ञान पहले ही बताया जा चुका है और अन्य पूजा-विधि तो सर्वसाधारण है ही। मोदक और दूर्वा इस पूजा में विशेष हैं। इनमें से मोदक का तो अर्थ ही है आनन्द देनेवाला (मोदयतीति मोदकः) सो विघ्ननिवारण के लिए ऐसी ही वस्तु चाहिए और दूर्वा भी गजानन को प्रिय होनी ही चाहिए, क्योंकि हरी दूब गज की प्रिय वस्तु है तथा वह माङ्गलिक भी मानी जाती है। दूर्वा से दस बार पूजन और दस लड्डू के दान तथा भोजन की दस संख्या का अभिप्राय गंगादशमी के अनुसार दस पापों का विनाश ही है, क्योंकि विघ्न भी पापों का ही फल है।

कथा

नन्दिकेश्वर ने कहा—तुम एकाग्रचित होकर गणेश जी के शुभव्रत को सुनो। हे योगीन्द्र सनत्कुमार! यदि अपना शुभ चाहे तो यह व्रत सदा शुक्लपक्ष में चतुर्थी के दिन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। स्त्री हो या पुरुष, अपने घर में रहता हो अथवा राजा के कुल में, यह व्रत (सबके लिए) उत्तमोत्तम और सब सिद्धि का देनेवाला है। यह व्रत गणेश जी को प्रिय है, त्रिलोकी में विख्यात है। हे ब्रह्मन्! सब सङ्कष्ट को नाश करने के लिए इससे अधिक कोई व्रत नहीं।

सनत्कुमार ने कहा—इस व्रत को पहले किसने किया ? यह समस्त बात तथा गणेश जी के इस व्रत का विस्तारपूर्वक वर्णन करिए ?

नन्दिकेश्वर ने कहा—जगत् के स्वामी प्रतापी वासुदेव (श्रीकृष्ण) ने यह व्रत किया था। व्यर्थ कलंक की शान्ति के लिए नारदजी ने ही उन्हें इस व्रत का आदेश दिया था।

सनत्कुमार ने पूछा—षड्गुण (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य) से तथा ईश्वरत्व से युक्त और जगत् की सृष्टि और संहार करनेवाले, जगत् में व्याप्त वासुदेव को कलङ्क कैसे लगा ? यह आख्यान आश्चर्य-जनक है। हे नन्दिकेश्वर, आप कहिए !

नन्दिकेश्वर ने कहा—पृथ्वी का भार उतारने के लिए वसुदेव के पुत्र के रूप में राम (बलदेव) और कृष्ण साक्षात् शेष और विष्णु उत्पन्न हुए थे।

कृष्ण ने जरासन्ध के भय से विश्वकर्मा को बुलाकर सुवर्ण से निर्मित द्वारकापुरी बसाई। वहाँ अत्यन्त सुन्दर सोलह हजार रानियाँ रहती थीं। भगवान् ने इस पुरी के बीच बड़े मनोहर भवन बनवाये थे। द्वारकानिवासियों के भोग के लिए कल्पवृक्ष भी वहाँ लाया गया। वहाँ ५६ कोटि यादवों के घर थे और भी बहुत से लोग पीडारहित निवास करते थे। त्रिलोको में जो सुन्दर वस्तु थी वह सब वहाँ दिखाई पड़ती थी।

उग्र नामक यादव के सत्राजित् और प्रसेन नामक दो पुत्र विख्यात थे। उनमें से बुद्धिमान् सत्राजित् समुद्र के तट पर जाकर सूर्य के उद्देश्य से तप करने लगा। उसने अनशन व्रत लेकर सूर्य की तरफ नेत्र लगा दिये। तब भगवान् सूर्य प्रसन्न हुए और सत्राजित् के आगे आकर खड़े हो गए। दिवाकरदेव को देखकर सत्राजित् ने स्तुति की—

हे तेजोराशि ! आपको नमस्कार।

हे सर्वतोमुख ! हे विश्वव्यापी ! हे विश्वरूप ! आपको नमस्कार।

हे कश्यप के पुत्र ! हे हरिदश्व ! हे ग्रहराज ! हे चण्डकिरण ! आपको नमस्कार।

हे वेदत्रयीरूप ! हे सर्वदेवरूप ! आपको नमस्कार।

हे देवराज दिवाकर ! सुदृष्टि से मेरी रक्षा करिए और प्रसन्न होइए।

इस प्रकार स्तुति किये जाने पर देवों के देव दिनकर सत्राजित् से स्निग्ध, गम्भीर और मधुर वचन बोले—जो तुम्हारे मन में हो वह वरदान माँगो। मैं प्रसन्न हूँ। हे महाभाग सत्राजित् ! मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ।

सत्राजित् ने कहा—हे भास्कर ! यदि आप सन्तुष्ट हैं तो स्यमन्तक-मणि दीजिए।

सूर्य ने अपने गले से उतारकर उसको वह रत्न दिया और कहा—

यह महामणि आठ भार सोना देती है। इस महोत्तम रत्न को सदा पवित्र होकर धारण करना चाहिए। हे सत्राजित् ! अपवित्र मनुष्य को यह क्षणभर में ही मार देती है।

यह कहकर तेजोराशि सूर्यदेव अन्तर्धान हो गए।

उस कण्ठ के रत्न से जिसका रूप प्रज्वलित हो रहा था ऐसा सत्राजित् शीघ्र द्वारकापुरी में आया। उसे देखकर लोगों के मन में सूर्य की चिन्ता हुई—वे सोचने लगे कि कहीं यह सूर्य ही तो नहीं है और उनकी दृष्टियाँ निश्चल हो गईं। उन्होंने सोचा कि निस्सन्देह भगवान् कृष्ण के दर्शन के लिए यह सूर्य ही आ रहा है। ध्यान से देखने पर उन्होंने समझ पाया कि यह सूर्य नहीं है, जिसका कण्ठ मणि से चमक रहा है ऐसा सत्राजित् है।

सत्राजित् के कण्ठ में स्यमन्तकमणि को देखकर भगवान् कृष्ण ने वह मणि प्राप्त करने की इच्छा की, किन्तु उससे छीना नहीं।

किन्तु सत्राजित्त् को भय हो गया कि कृष्ण मुझसे माँगेंगे। उसने अपने भाई प्रसेन को वह मणि दे दी और कहा कि तुम पवित्र होकर

इस मणि को धारण करना। वह एक दिन इस उत्तम मणि को कण्ठ में धारण करके कृष्ण के साथ शिकार खेलने चला गया। वह घोड़ेपर चढ़ा हुआ था पर अपवित्र था, अतः सिंह द्वारा तत्क्षण मार डाला गया।

रत्न को लेकर जाते हुए सिंह को भी जाम्बवान ने मार दिया। मणि ले जाकर जाम्बवान ने गुफा में स्थित अपने पुत्र को दे दी।

कृष्ण अपने परिजन-सहित द्वारकापुरी लौट आए।

द्वारकावासी सब लोग परस्पर कहने लगे कि कृष्ण आ गए, किन्तु प्रसेन आज तक भी नहीं आ रहा है। निश्चय ही मणि के लोभ से कृष्ण ने प्रसेन को मार दिया। बड़े कष्ट की बात है कि पापी ने अपने बन्धु को ही मार दिया।

वृथा अपवाद से संतप्त होकर कृष्ण भी धीरे-धीरे पुरवासियों को साथ लेकर नगर से वन गये। वहाँ घोड़े–सहित प्रसेन को मरा हुआ देख कर मारनेवाले के पैरों का अनुसरण करने लगे। कृष्ण ने देखा कि (प्रसेन को सिंह ने मारा है और) सिंह को रीछ ने मारा है इसलिए वे रीछ के बिल में चले गये। वे अपने तेज से अन्धकार का निवारण करते हुए उस बिल में १०० योजन घुस गए। आगे जाकर उन्होंने कई मंजिल का महल देखा। वहाँ जाम्बवान के कुमार को झूले में झूलता हुआ देखा और अपरिमित कान्तिवाली मणि को भी देखा और देखा कि रूप तथा यौवन से युक्त जाम्बवान की कन्या उस झूले को चला रही है। उस सुन्दर हँसती कन्या को देखकर कृष्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ।

वह कह रही थी 'सिंह ने प्रसेन को मारा, सिंह को जाम्बवान ने मारा। हे सुकुमार बच्चे ! रोओ मत, यह स्यमन्तकमणि तुम्हारी है।'

कमलनयन भगवान् कृष्ण को देखकर वह कन्या कामज्वर से पीड़ित हो गई और चलती भाषा में कहने लगी—'जब तक जाम्बवान् सोता है तब तक जल्दी से रत्न लेकर चले जाइए–चले जाइए।'

यह सुनकर प्रतापी कृष्ण हँसने लगे और (उसकी परवा न करते हुए) शंख बजाया। शंख का शब्द सुनकर जाम्बवान् सहसा उठा और कृष्ण के साथ रूखेपन से युद्ध करने लगा। तब भगवान् कृष्ण और जाम्बवान् का घोर युद्ध आरंभ हुआ।

सभी द्वारकावासी सात दिन तक प्रतीक्षा करके यह सोचकर कि निस्सन्देह कृष्ण या तो मर गए हैं या किसी ने उनको रख लिया है, अपने घर चले गए। घर जाकर उन्होंने कृष्ण को मरे हुए समझकर उनकी परलोकक्रिया कर दी।

इधर कृष्ण ने केवल भुजा के आयुध से उस रीछ के साथ युद्ध किया और युद्ध-क्रिया द्वारा जाम्बवान् को सन्तुष्ट कर दिया। उस महान् दैवीबल को देखकर जाम्बवान् को प्राचीन वृत्तान्त (राम-चरित्र) का स्मरण हुआ। जाम्बवान् ने कहा—हे देवेश ! मैं सब देवताओं, यक्षों, राक्षसों और दानवों से अजेय हूँ, किन्तु तुमने मुझे जीत लिया। हे देव ! तुम निश्चय ही विष्णु के तेज हो, अन्यथा ऐसा बल नहीं हो सकता। इस तरह देवराज भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करके जाम्बवान् ने वह उत्तम मणि उन्हें दे दी और अपनी सुन्दरी पुत्री जाम्बवती का भगवान् कृष्ण के साथ पाणिग्रहणसंस्कार कर दिया।

कृष्ण भी मणि लेकर जाम्बवती सहित द्वारका आए और उन्होंने द्वारकावासियों से सब वृत्तान्त कहा। फिर सभा में बुलाकर सत्राजित् को मणि दी और इस तरह भगवान् कृष्ण ने अपने झूठे अभिशाप की निवृत्ति की। तदनन्तर महाबुद्धि सत्राजित् ने भी डरकर सर्वगुणों से युक्त अपनी पुत्री सत्यभामा कृष्ण को प्रदान की।

शतधन्वा, अक्रूर आदिक दुष्टचित्त यादव लोग, जो उस मणि को चाहते थे, सत्राजित् के वैरी हो गये। पापबुद्धि, दुरात्मा शतधन्वा ने, जब कृष्ण कहीं गये हुए थे उस समय, शीघ्र ही सत्राजित् को मारकर मणि

ले ली। (लौटने पर) सत्यभामा ने कृष्ण के सामने यह सब वृत्तान्त कहा।

कपट का नाटक करनेवाले कृष्ण भीतर से प्रसन्न होने पर भी बाहर क्रोध करके बलदेवजी से कहने लगे—यह शतधन्वा सत्राजित् को मारकर मणि लेकर जा रहा है। हमारे रत्न को लेकर यह कैसे जा सकता है ? यह रत्न तो निश्चय ही हमारा भोग्य है।

यादव शतधन्वा ने जब यह बात सुनी तो वह भयभीत हो गया। उसने अक्रूर को बुलाकर मणि दे दी और एक घोड़ी पर चढ़कर दक्षिण दिशा में निकल गया। तब राम और कृष्ण ने रथ में बैठकर उसका पीछा किया। सौ योजन चलने के बाद घोड़ी मर गई। बलदेव तो रथ पर बैठे रहे और रत्न के लोभी कृष्ण ने पैदल दौड़ते हुए शतधन्वा को मार दिया, किन्तु वहाँ वह मणि दिखाई नहीं दी। कृष्ण ने आकर बलदेवजी के सामने यह सब वृत्तान्त कहा।

यह सुनकर बलदेवजी ने बड़े रोष से कहा—कृष्ण, तुम सदा कपटी हो और निश्चय ही पापी हो। धन के लिए तुम अपने स्वजन को मार देते हो। तुम्हारे जैसे भाई के सहारे कौन रह सकता है। कृष्ण ने अनेक शपथों के द्वारा बलदेवजी को प्रसन्न करना चाहा, किन्तु बलदेवजी 'धिक्कार है, कष्ट है' इस तरह कह कर विदर्भ देश चले गए। कृष्ण भी रथ में बैठ कर फिर द्वारका आ गए।

लोग फिर वैसे ही कहने लगे कि ये कृष्ण भले नहीं हैं। इन्होंने रत्न के लोभ से बड़े भाई बलवान् बलदेवजी को निकाल दिया। यह सुनकर भगवान् कृष्ण का मुँह उतर गया, क्योंकि पापी (चाहे झूठा ही बयान हो) कान्तिमान् नहीं रहता। जगत् के पति भगवान् कृष्ण झूठे अभिशाप से संतप्त रहने लगे।

अक्रूर भी तीर्थयात्रा के बहाने द्वारका से निकल गए। काशी में जाकर उन्होंने यज्ञपति (विष्णु) का सुख से यजन करना आरम्भ किया। मणि से प्राप्त द्रव्य से उन्होंने सबको सन्तुष्ट किया और नगर में आश्चर्य-

जनक देवमन्दिर बनवाये। अक्रूर वहाँ पवित्र रहकर उस सूर्य-दत्त मणि को धारण करते रहे। इसलिए न दुर्भिक्ष था, न वैराग्य था, न ईतियाँ[1] थीं।

सर्वज्ञ कृष्ण जानते हुए भी मनुष्यभाव को धारण किए हुए थे। संक्षेप में यह कहना चाहिए कि उन्होंने लोकाचार, माया और अज्ञान का आश्रय ले रक्खा था। फिर भी भाई के साथ उत्पन्न वैर, उपस्थित कलंक तथा व्यर्थ उत्पन्न हो रहे अपवाद को वे कैसे सहन करते। इस कारण जब कृष्ण चिन्ता से आतुर थे उस समय नारदजी गणेशजी की कथा और पूजा को लेकर उपस्थित हुए और सुख से बैठ जाने पर बोले।

नारदजी ने कहा—हे देव! आप क्यों खिन्न हो रहे हैं? आपके शोक का कारण क्या है?

भगवान् श्रीकृष्ण ने नारदजी से सब समाचार कहे।

नारदजी ने कहा—देव! मैं इसका कारण जानता हूँ, जिससे आप को कलंक लगा। आपने भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी के दिन चन्द्रदर्शन किया, उसी के कारण आप को यह व्यर्थ कलंक लग गया।

श्रीकृष्ण ने कहा—हे नारद! मुझे शीघ्र बताइये, चन्द्रमा के दर्शन में क्या दोष है? और लोग द्वितीया को उसका दर्शन क्यों करते हैं?

नारदजी ने कहा—रूप से गर्वित चन्द्रमा को गणेशजी ने शाप दिया था कि तेरे दर्शन से मनुष्यों की व्यर्थ निन्दा होगी।

श्रीकृष्ण ने पूछा—अमृतमय चन्द्रमा को गणेशजी ने शाप क्यों दे दिया? इस श्रेष्ठ आख्यान को यथावत् वर्णन करिए।

नारदजी ने कहा—शिवजी ने और ब्रह्माजी ने पहले गणेशजी को गणों का अधिपति बनाया और प्रजापति देव ने गणेशजी को भार्यारूप में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और

---

१. अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहे, टिड्डी, तोते और युद्धाभिलाषी समीपवर्ती राजा इन छः को ईतियाँ कहा जाता है।

अर्थ-काम की प्राप्ति ये आठ सिद्धियाँ प्रदान कीं। गणेशजी का पूजन करके ब्रह्माजी ने उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया।

ब्रह्माजी ने कहा—हे गजानन, हे गणेश, हे लम्बोदर, हे वरप्रद, हे विद्याधीश, हे सृष्टि के संहारकर्ता ! (आप को नमस्कार)। गणेशजी की मोदक आदि से प्रयत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिए। जो लोग ऐसा करते हैं उनको निस्सन्देह निर्विघ्न सफलता होती है। देवता हो या असुर गणेशजी को बिना पूजे जो सिद्धि चाहते हैं उनको सौ करोड़ कल्पों में भी सिद्धि प्राप्त नहीं होतीं। हे गणेशजी ! तुम्हारी भक्तिसे विष्णु पालन करते हैं, रुद्र संहार करते हैं और तुम्हारी शक्ति से ही मैं सृष्टि करता हूँ।

इस प्रकार स्तुति करने पर देव-देव गजानन परम प्रसन्न होकर जगत्पति ब्रह्माजी से कहने लगे। गणेशजी ने कहा—जो तुम्हारे मन में हो वह वरदान मैं दूँगा। ब्रह्माजी ने कहा—हे प्रभो ! मेरे सृष्टि करते समय कोई विघ्न न हो।

'एवमस्तु' कहकर गणेशदेव हाथ में मोदक लिए हुए सत्यलोक से स्वेच्छापूर्वक आकाश में धीरे-धीरे आ रहे थे। जब गणेशजी चन्द्रलोक में आए तो फिसल पड़े। उस समय रूप से गर्वित चन्द्रमा ने बड़ी हँसी की। यह देखकर गणेशजी की आँखें क्रोध से लाल हो गईं और उन्होंने शाप दिया—हे शशाङ्क ! तुम बड़े घमण्डी हो, शीघ्र ही तुम्हें इसका फल प्राप्त होगा। आज से लेकर तुझ पापी का लोग दर्शन नहीं करेंगे। जो मनुष्य मृगलांछनरूप तुम्हारा असावधानी से दर्शन करेंगे वे अवश्य ही झूठे अभिशाप से युक्त होंगे।

इस भयंकर शाप को सुनकर महान् हाहाकार हुआ। चन्द्रमा का मुँह अत्यन्त म्लान हो गया। वह जल में घुसकर कुमुद में रहने लगा और कुमुदनाथ कहलाने लगा। उसका भवन छिन गया।

तब देवता, ऋषि और गन्धर्व निराश हुए, उनका मन बड़ा दुखी हुआ। वे इन्द्र को आगे करके ब्रह्माजी के पास गए। पितामहदेव के

पास जाकर उन्होंने चन्द्रमा की चेष्टा का वर्णन किया और आदरपूर्वक कहा कि गणेशजीने चन्द्रमा को शाप दे दिया है। भगवान् ब्रह्माजी ने विचार करके कहा कि हे देवेन्द्र ! गणेशजी के शाप को अन्यथा कौन कर सकता है ? निश्चय है कि इन्द्र, मैं अथवा विष्णु भी उस शाप को अन्यथा नहीं कर सकते। हे देवताओ ! तुम देवदेवेश गणेशजी की ही शरण में जाओ। निस्सन्देह वही शाप से छुड़ावेंगे।

देवताओं ने कहा—हे पितामह ! हे महाबुद्धि ! गजानन गणेशजी किस कार्य से वरदायक होते हैं सो हमें कहिए।

ब्रह्माजी ने कहा—देवदेव गणेशजी की चतुर्थी के दिन प्रयत्न-पूर्वक पूजा करनी चाहिए। विशेषकर कृष्णपक्ष में। उस दिन गणेशजी का प्रिय नक्तव्रत (सायंकाल भोजन) करना चाहिए। पूए और घी से युक्त मोदकों से गणेशजी को सन्तुष्ट करना चाहिए। स्वयं भी इच्छानुसार मधुर अन्न और हविष्य (जौ, चावल आदि) खाना चाहिए। ब्राह्मण को गणेशजी की सोने की प्रतिमा दान करनी चाहिए और शक्ति के अनुसार दक्षिणा देनी चाहिए। धन छिपा कर कृपणता नहीं करनी चाहिए।

फिर उन सब ने इकट्ठे होकर वृहस्पति को भेजा। उन्होंने जाकर ब्रह्माजी के वचन (चन्द्रमा से) कहे। फिर चन्द्रमा ने जैसा ब्रह्माजी ने कहा था वैसा व्रत किया। व्रत से प्रसन्न होकर भगवान् गणेश प्रकट हुए। क्रीड़ा करते हुए गणेशजी के दर्शन करके चन्द्रमा ने उनकी स्तुति की—

तुम सब कारणों के कारण हो, तुम्हीं जाननेवाले हो और तुम्हीं जानने योग्य हो। हे देवेश, हे जगन्निवास, हे गणेश, हे लम्बोदर, हे वक्रतुंड, हे ब्रह्मा-विष्णु से पूजित, आप प्रसन्न होइए और घमण्ड से जो मैंने हँसी की थी उसे क्षमा करिए। हे गणेश ! मैंने आपका सब प्रभाव जान लिया। जो मूर्ख आप की पूजा न करके कार्य-सिद्धि की इच्छा

करते हैं वे अवश्य ही संसार में भाग्यहीन हो जाते हैं और जो पापी लोग आपसे तटस्थ रहते हैं वे सदा ही पापपूर्ण नरक में जाते हैं।

इस प्रकार स्तुति किये जाते हुए गणेशजी प्रसन्न होकर बोले—हे चन्द्रमा ! मैं तुम पर सन्तुष्ट हूँ, वरदान माँगो, मैं तुमको वर दूँगा।

चन्द्रमा ने कहा—मैं फिर लोगों के दर्शन करने योग्य हो जाऊँ! तथा हे गणेशजी, आपकी कृपा से मेरा पाप और शाप निवृत्त हो जाय।

गणेशजी ने कहा—मैं तुम्हें अन्य वरदान दे सकता हूँ। यह नहीं दिया जा सकता !

फिर देवताओं ने कहा कि हम प्रार्थना करते हैं कि चन्द्रमा को शापरहित कर दीजिए। तब ब्रह्माजी के गौरव से गणेशजी ने चन्द्रमा को शापरहित किया और कहा—(भाद्रपद) शुक्लपक्ष की चतुर्थी को जो तुम्हारा दर्शन करेगा उसको मिथ्या अपवाद और कष्ट प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं किन्तु जो मनुष्य मेरे पहले (अर्थात् चतुर्थी से पहले) तुम्हारा दर्शन करेंगे (अर्थात् शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन तुम्हारा दर्शन कर लेंगे) उनको यह दोष नहीं होगा।

तब से लेकर सब लोग द्वितीया के दिन चन्द्रदर्शन के लिए आदर रखते हैं। गणेशजी की आज्ञा है कि जो पापबुद्धि पुरुष भाद्रपद में शुक्ल चतुर्थी के दिन तुम्हारा (चन्द्रमा का) दर्शन करता है वह वर्ष भर तक मिथ्या अपवाद से मलिन होता है।

फिर चन्द्रमा ने गणेशजी से पूछा—हे देवेश ! आप किस उपाय से प्रसन्न होते हैं सो वर्णन करिए।

गणेशजी ने कहा—जो मनुष्य सदा कृष्णपक्ष की चतुर्थी के दिन मोदक आदि से मेरी पूजा करके और रोहिणी सहित तुम्हारी भी विधिपूर्वक पूजा करके यथाशक्ति स्वर्ण से निर्मित मेरी प्रतिमा ब्राह्मण को दान करे और विधिपूर्वक कथा सुनकर भोजन करे, मैं सदा उसके संकट का निवारण करूँगा। भाद्रशुक्ल चतुर्थी के दिन सुवर्ण न हो तो

मिट्टी की प्रतिमा बना कर मेरा पूजन करे। फिर ब्राह्मणभोजन करवावे और विशेष रूप से जागरण करे। छिद्ररहित सुशोभित कुम्भ, धान्य के ऊपर रख कर, यथाशक्ति सुवर्ण से बनाई हुई मेरी प्रतिमा को धोती-दुपट्टा से आच्छादित करके और मोदक आदि से मेरी पूजा करके मनुष्य उस दिन लाल वस्त्र पहने। ब्रह्मचर्य में रत और पवित्र रहे। मेरे आगे रोहिणीसहित तुम्हारी पूजा करे। तुम्हारी प्रतिमा शक्ति-अनुसार चाँदी से बनाई जाय।

पूजन की विधि यह है। 'हे गणाधिप! आपको नमस्कार' यह कह कर 'शिवप्रियाय' इस मन्त्र से वस्त्र, 'लम्बोदराय' इस मन्त्र से गन्ध, 'सिद्धिप्रदाय' इस मन्त्र से पुष्प, 'गजमुखाय' इस मन्त्र से धूप, 'मूषिकवाहनाय' इस मन्त्र से दीप, 'विघ्ननाथाय' इस मन्त्र से नैवेद्य, 'सर्वार्थसिद्धिदाय' इस मन्त्र से फल, 'कामरूपाय' इस मन्त्र से ताम्बूल, 'धनदाय' इस मन्त्र से दक्षिणा और 'शोभाकराय' इस मन्त्र से इक्षुदंड (गन्ने) द्वारा पूजा करे। बड़े समारोह के साथ सर्वसिद्धिप्रद गणेशजी का विसर्जन करे।

इस प्रकार विघ्नेश्वर की पूजा करके तथा विधिपूर्वक कथा सुनके नीचे लिखे मन्त्र से वह सब सामग्री ब्राह्मण को निवेदन करे—

दानेनानेन देवेश प्रीतो भव गणेश्वर।
सर्वत्र सर्वदा देव निर्विघ्नं कुरु सर्वदा।
मानोन्नतिं च राज्यं च पुत्रपौत्रान् प्रदेहि मे॥

फिर अपनी शक्ति के अनुसार गऊ, अन्न और वस्त्र सब ब्राह्मण को दान करे। तदनन्तर इच्छानुसार भोजन करे। उस दिन नमक और दूध से रहित लड्डू, पूआ और मधुर भोजन करना चाहिए।

हे चन्द्रमा! इस प्रकार जो करता है उसको मैं सर्वदा जय, सिद्धि, धन-धान्य और खूब सन्तति देता हूँ।

यह कह कर विनायकदेव अन्तर्धान हो गए।

नारदजी ने कहा—हे कृष्ण ! तुम यह व्रत करो तब तुम्हारी शुद्धि होगी। नारदजी के ऐसा कहने से स्वयं हरि ने व्रत किया। उससे मिथ्या अपवाद की शुद्धि हुई। कृष्ण भगवान् ने गणेशजी से दूसरा यह वरदान माँगा कि स्यमन्तकमणि-सम्बन्धी इस तुम्हारे आख्यान को और सम्पूर्ण चन्द्रमा के चरित्र को जो सुनेंगे उनको चन्द्रदर्शन का दोष न हो।

अतः यदि भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी के दिन चन्द्रमा का दर्शन हो जाय तो उसके परिहार के लिए यह सम्पूर्ण उपाख्यान सुनना चाहिए। जब-जब मन में कष्ट और सन्देह पैदा हो तब भी इस कष्टनाशक उपाख्यान को सुनना चाहिए।

इस तरह कहकर कृष्ण द्वारा प्रसन्न किये हुए गणेशदेव चले गये।

पुरुष अथवा स्त्री किसी कार्य को सिर पर आया देखकर इस व्रत को करे तो उसके मनोवांछित कार्य सिद्ध होते हैं, क्योंकि विघ्नहर गणेशजी के प्रसन्न होने पर क्या दुर्लभ है।

(नियम से) व्रत करनेवाले को श्रावण कृष्णपक्ष में एक बार भोजन करना चाहिए और चार महीने तक गणेश जी का व्रत करना चाहिये।

अभ्यास

(१) गणेश चतुर्थी का समय बताइए।

(२) गणेश चतुर्थी के व्रत की क्या विधि है ?

(३) यह उत्सव भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को क्यों मनाया जाता है ?

(४) मोदक और दूर्वा का विशेष विधान पूजन में क्यों है ? दूर्वा से दस बार पूजन क्यों किया जाता है ?

(५) इस दिन चन्द्रदर्शन क्यों नहीं किया जाता ? किस दिन दर्शन कर लेने से चतुर्थी के चन्द्रदर्शन का अनिष्ट निवृत्त हो जाता है ? यदि चन्द्रदर्शन हो जाय तो कौन मन्त्र बोलना चाहिए ?

वामन द्वादशी

समय

भाद्रपद शुक्ला द्वादशी

कालनिर्णय

वामन भगवान् का अवतार श्रवणयुक्त भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को मध्याह्न में हुआ है, अतः मध्याह्न में द्वादशी और श्रवण का योग हो वह दिन लेना चाहिए। मध्याह्न के अतिरिक्त अन्य किसी समय भी द्वादशी के साथ श्रवण का योग हो तो वह भी लिया जाता है। यदि दोनों दिन श्रवण का योग हो तो पहले दिन करनी चाहिए। यदि द्वादशी के दिन श्रवण का किसी प्रकार योग न हो और एकादशी के दिन श्रवण हो तो द्वादशी में न करके एकादशी में वामन-जयन्ती करनी चाहिए। यदि द्वादशी पूर्व दिन में ही मध्याह्नव्यापिनी हो और दूसरे दिन श्रवण मध्याह्न के बाद हो तो पूर्व दिन ही करनी चाहिए। यदि दोनों दिन श्रवण हो तो जिस दिन द्वादशी मध्याह्नव्यापिनी हो उस दिन करना चाहिए। यदि दोनों दिन श्रवण का योग न हो और द्वादशी मध्याह्नव्यापिनी हो तो एकादशी युक्त द्वादशी लेनी चाहिए।

विधि

मध्याह्न में यथासंभव नदियों के संगम में, अन्यथा अन्यत्र, स्नान करके पञ्चामृतस्नानादि करवाके सुवर्ण की वामनमूर्त्ति को सुवर्ण के पात्र से अर्घ्यदान करे, ऐसा धर्मशास्त्र में विधान है, किन्तु मन्दिरों में इस दिन प्रायः शालग्रामजी को ही पञ्चामृतस्नान करवाया जाता है।

भगवान् का समारोहपूर्वक सेवा शृङ्गार और जयन्ती निमित्तक उपवास तो इस दिन की विशेष विधि है ही।

पूजा का मन्त्र यह है—

देवेश्वराय देवाय देवसंभूतिकारिणे। प्रभवे सर्वदेवानां वामनाय नमो नमः॥

अर्घ्य के मंत्र ये हैं—

नमस्ते पद्मनाभाय नमस्ते जलशायिने। तुभ्यमर्घ्यं प्रयच्छामि बालवामनरूपिणे॥
नमः शार्ङ्गधनुर्बाणपाणये वामनाय च। यज्ञभुक्फलदात्रे च वामनाय नमो नमः॥

यदि वामन भगवान् की सुवर्ण की प्रतिमा बनाई हो तो दूसरे दिन उसे ब्राह्मण को दान कर दे। दान का मंत्र यह है—

वामनः प्रतिगृह्णाति वामनोऽहं ददामि ते। वामनं सर्वतोभद्रं द्विजाय प्रतिपादये॥

कालविज्ञान

वर्षाऋतु और भाद्रपदमास के विषय में तो जन्माष्टमी के प्रसंग में लिखा ही जा चुका है और शुक्ल पक्ष इसलिए है कि भगवान् वामन का अवतार केवल देवकार्य के लिए है। देवयोनि सात्त्विक है, अतः ऐसे अवतार में प्रकाश ही प्रधान रहना चाहिए। द्वादशी तिथि और श्रवण नक्षत्र के तो देवता विष्णु हैं ही (देखिए मु० चि० शुभाशुभ प्रकरण श्लो० ३ तथा नक्षत्र प्रकरण श्लो० १)।

विधिविज्ञान

स्नान, उपवास और पञ्चामृतस्नानादि के विषय में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ मूर्त्ति और अर्घ्य दान के पात्र का सुवर्णमय होना इसलिए है कि धर्मशास्त्रों में देवों के कार्य में सुवर्ण और पितरों के कार्य

में चाँदी का उपयोग लिखा है और वामन अवतार भी देवयोनि में है, अतः उनके लिए सुवर्ण का ही उपयोग करना चाहिए। देवकार्य में चाँदी का निषेध भी है[1]।

अभ्यास

(१) वामनद्वादशी कब होती है ?

(२) वामनद्वादशी के कालनिर्णय के विषय में आप क्या जानते हैं ?

(३) कालविज्ञान और विधिविज्ञान का सारांश संक्षेप में कहिए।

(४) वामन की मूर्त्ति सुवर्णमय क्यों बनाई जानी चाहिए ?

---
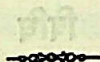
१. शिवनेत्रोद्भवं यस्माद्रजतं पितृवल्लभम्। अमङ्गलं तद्यत्नेन देवकार्येषु वर्जयेत्।
(निर्णयसिन्धु, बैजवाप का वचन)

अनन्त चतुर्दशी

समय

भाद्रशुक्ला चतुर्दशी

काल-निर्णय

सूर्योदय से छः घड़ी चतुर्दशी जिस दिन हो उस दिन यह व्रत करना चाहिए—यह मुख्य पक्ष है। ऐसा न हो तो उदय से ४ घड़ी तक भी चतुर्दशी हो वह लेनी चाहिए। दो चतुर्दशी हों तो संपूर्ण होने के कारण पहली चतुर्दशी ही लेनी चाहिए। दूसरे दिन चार घड़ी से कम हो तो पहले दिन करनी चाहिए। इसका मुख्य काल पूर्वाह्न है। पूर्वाह्न में न हो सके तो मध्याह्न भी चल सकता है।

विधि

'अनन्त' यह कालरूप भगवान् कृष्ण और काल का नाम है, जैसा कि अनन्त कथा के—

अनन्त इत्यहं पार्थ मम रूपं निबोधय।

और

योऽयं कालो यथा ख्यातः सोऽनन्त इति विश्रुतः।

इन वचनों से सिद्ध है। किन्तु वास्तव में यह शेषशायी समुद्रस्थित विष्णु भगवान की पूजा है, अतएव कथा में पूजा विधान के अन्त में—

अनन्तः सर्वनागानामधिपः सर्वकामदः। सदा भूयात् प्रसन्नो मे भक्तानामभयंकरः।

इस मन्त्र से शेषनाग से भी प्रार्थना की गयी है। यहाँ विष्णु कृष्णरूप हैं और शेषनाग कालरूप हैं, अतः दोनों की सम्मिलित पूजा

हो जाती है। इसमें पूजा की अन्य विधि तो उसी प्रकार है जो अन्य सब विष्णुव्रतों में है। विशेष यह है कि पूजा यथासंभव नदीतट पर करनी चाहिए। गाय के चमड़े जितनी भूमि को गोमय से लीपकर वहाँ सोना, चाँदी, ताँबा या मिट्टी का घड़ा स्थापित करे। उस पर विष्णुमूर्ति के साथ चौदह गाँठ वाला डोरा रखकर उसकी पूजा करनी चाहिए। अनन्त के डोरे बाजार में तयार भी मिलते हैं, पर हो सके तो घर पर ही बनाना चाहिए। नैवेद्य में पुंल्लिङ्ग नाम वाले पकान्न ही देने चाहिए। अतएव उस दिन पूरी नहीं, पूआ चढ़ाए जाते हैं। साधारण लोग उस दिन रोटी का नैवेद्य न लगाकर रोट (मोटी रोटी) और खीर का भोग लगाते हैं। खीर यद्यपि हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग है, किन्तु संस्कृत में उसका नाम पायस है, जो हिन्दी के हिसाब से पुंल्लिग ही हो जाता है, क्योंकि हिन्दी में नपुंसकलिंग नहीं है, अतः खीर भी इस दिन नैवेद्य में आती है।

कालविज्ञान

इस ऋतु और इस मास का विज्ञान तो जन्माष्टमी के प्रसंग में विस्तार से लिख दिया गया है। सर्वजनप्रिय वर्षाऋतु का यह अन्तिम उत्सव है। कृषि प्रधान भारतवर्ष फसल पकने के समीप के समय में जगत् के पालनकर्त्ता विष्णु भगवान् की प्रार्थना करे यह उचित ही है।

चतुर्दशी तिथि रिक्ता तिथियों (चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी) में अन्तिम है। रिक्ता का अर्थ है खाली। सृष्टि के पालनकर्त्ता से प्रार्थना रिक्त होने पर की जाती है, इसीलिए भगवान् को दीनबन्धु कहा भी जाता है। अतः प्रकाशमय शुक्ल पक्ष की अन्तिम रिक्ता तिथि को प्रभु से प्रार्थना करना उचित ही है। जिसका अभिप्राय यह है कि ऐसी उत्तम ऋतु के प्रकाशमय पक्ष में भी रिक्तता दयामय की दयालुता को अवश्य ही प्रदीप्त करेगी।

विधि-विज्ञान

विधि में अन्य सब तो पूर्ववत् ही है। पूजा नदीतट पर इसलिए रखी गई है कि वहाँ पवित्रता की भावना स्वाभाविक होती है, पर नदीतट अनिवार्य नहीं है। गोमय के गुण तो उपाकर्म के प्रसंग में लिख ही दिये गए हैं। चौदह गाँठ वाले डोरे का विधान इसलिए है कि इस व्रत में चौदह ग्रन्थिदेवताओं का पूजन है, जैसा कि कथा के इस श्लोक में कहा गया है—

नव्यदोरे [१]विष्णुर[२]ग्निस्तथा सूर्यः[३] पितामहः[४] ।
चन्द्रः[५] पिनाकी[६] विघ्नेशः[७] स्कन्दः[८] शक्रस्तथैव[९] च ॥
वरुणः[१०] पवनः[११] पृथ्वी[१२] वसवो[१३] ग्रंथिदेवताः ।

तथा

सूत्रग्रन्थिषु संस्थाय अनन्ताय[१४] नमो नमः ॥

इनमें से आदि में जगत् के पालनकर्त्ता विष्णु और अन्त में धरणीधर अनन्त (शेष) तो सृष्टिपालक हैं ही, मध्य में १२ देवता भी सृष्टिसंचालक हैं। वे हैं सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, सृष्टि के संहारक शिव, सृष्टि के निर्वाहक अग्नि, सोम और सूर्य (जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है) विघ्न विनाशक गणेश, देवताओं के सेनापति स्कन्द, देवताओं के राजा इन्द्र, जीवन के मुख्य साधन जल, वायु और अन्न के अधिष्ठाता वरुण, पवन और पृथ्वी तथा सृष्टि के वसानेवाले वसु[१]। सो इस तरह सृष्टिसञ्चालक सब देवताओं से सभी जीवन की आवश्यकताओं की

---

१. वसु शब्द के अर्थ के विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य कहते हैं—'प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकरणसंघातरूपेण तन्निवासत्वेन च विपरिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति वसन्ति च, ते यस्माद् वासयन्ति तस्माद् वसव इति'। (बृह० ३ अध्याय, ९ ब्राह्मण, ३ मन्त्र)

पूर्ति का इस पूजन के फल से सम्बन्ध है। इस दिन पुरुष नामवाले ही पकान्नों के निवेदन करने का यह अभिप्राय है कि यह व्रत दुःख-दारिद्र्य की निवृत्ति के लिए है जो बिना बल के नहीं हो सकती और बल पुरुष का ही कार्य है, स्त्री का नहीं। अतः स्त्रीलिङ्ग को इसमें प्रधानता नहीं दी गई है। इस विधि से यह सार निकलता है कि दुःख-दारिद्र्य की निवृत्ति के लिए पुरुषों को अनन्त भगवान् का आश्रय लेकर आगे बढ़ना चाहिए। बल के कार्य के लिए स्त्रियों को आगे करना पुरुषों की कायरता है। अतः पुरुष को बलकार्य के लिए भगवान् के सामने भी स्त्रियों को उपस्थित न करके स्वयं ही उपस्थित होना चाहिए।

कथा

सूतजी ने कहा—पाण्डव लोग आज भी दुःख से दुर्बल थे।[1] महात्मा कृष्ण को देखकर उन्होंने यथाविधि प्रणाम किया। कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर ने विनय से नम्र होकर देवकीपुत्र कृष्ण से पूछा।

युधिष्ठिर ने कहा—भाइयों सहित मैं दुखी हूँ। आप बताइये कि हमारी इस अनन्त दुःखसागर से कैसे मुक्ति होगी?

श्रीकृष्ण ने कहा—सब पापों का हरण करनेवाला एक शुभ अनन्त-व्रत है। हे युधिष्ठिर! वह पुरुष और स्त्री दोनों को सब कामनाओं का देनेवाला है। शुभ भाद्रपदमास के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को उस व्रत के करने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे कृष्ण! आप जिसे 'अनन्त' इस नाम से कहते हैं वह कौन है? क्या शेषनाग अथवा तक्षकनाग को अनन्त कहा जाता है? यद्वा अनन्त परमात्मा है? किंवा ब्रह्म? अनन्त नाम से कौन अभिहित है? हे केशव, यह मुझे ठीक-ठीक बतलाने की कृपा करें।

---

१. स्मरण रखिए—यह कथा वनवास के समय की है।

श्रीकृष्ण ने कहा—हे पार्थ ! अनन्त यह मेरा नाम है। इसे तुम मेरा रूप समझो। आदित्यादिक वारों में जो काल सिद्ध है और कला-काष्ठा-मुहूर्त्त आदि तथा दिन-रात्रि जिसके शरीर हैं और पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष आदि तथा युगों के काल की जिससे व्यवस्था होती है यह जो काल मैंने तुम्हें बताया है वही अनन्त इस नाम से विख्यात है। वही कालरूप मैं पृथ्वी का भार उतारने के लिए यहाँ अवतीर्ण हुआ हूँ। दानवों के विनाश के लिए वसुदेव जी के कुल में उत्पन्न मुझको, हे पार्थ ! अनन्त समझो। मैं ही कृष्ण, विष्णु, हरि, शिव, ब्रह्मा, सुरेश और सर्वव्यापी ईश्वर हूँ। मेरा न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। मैं तीनों गुणों से परे अव्यय पुरुष हूँ। यह विश्व मेरा रूप है। मैं महाकाय तथा जगत् की सृष्टि, स्थिति और अन्त करनेवाला हूँ। हे पार्थ ! मैंने तुम्हारे विश्वास के लिए योगियों के ध्यान करने योग्य सर्वश्रेष्ठरूप पहले ही दिखाया था। वही विश्वरूप अनन्त है, जिसके अन्दर चौदह इन्द्र, आठ वसु, बारह आदित्य, एकादश रुद्र, सप्त ऋषि, समुद्र, पर्वत, नदी, वृक्ष, भास्वर और तुषित नाम के देवताओं के गण, तेरह विश्वेदेवा, नक्षत्र, दिशा, पृथ्वी, पाताल, भूर्भुवः आदि लोक ये सब हैं। हे पार्थ ! इसमें सन्देह न करो, वही मैं हूँ।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे विज्ञों में श्रेष्ठ ! अनन्त के व्रत की विधि मुझे वर्णन करिए। इसके करनेवाले मनुष्यों को क्या पुण्य और क्या फल प्राप्त होता है। मनुष्यलोक में इसको किसने प्रकाशित किया। हे माधव ! आप मुझे यह सब विस्तार से कहने योग्य हैं।

श्रीकृष्ण ने कहा—(पूजा के समय) पहले चतुर्भुज भगवान् को मूलमन्त्र से नमस्कार करके—

नवाम्रपल्लवाभासं पिंगभ्रूश्मश्रुलोचनम्।
पीताम्बरधरं देवं शङ्खचक्रगदाधरम्॥
अलंकृतं समुद्रस्थं तत्स्वरूपं विचिन्तयेत्।

इस मंत्र से ध्यान करे।

आगच्छानन्त देवेश तेजोराशे जगत्पते। इमां मया कृतां पूजां गृहाण सुरसत्तम।

इस मन्त्र से आवाहन करे।

नानारत्नसमायुक्तं कार्त्तस्वरविभूषितम्। आसनं देवदेवेश! गृहाण पुरुषोत्तम॥

इस मन्त्र से आसन दे।

गङ्गादिसर्वतीर्थेभ्यो मया प्रार्थनया हृतम्। तोयमेतत्सुखस्पर्शं पाद्यार्थं प्रतिगृह्यताम्॥

इस मन्त्र से पाद्य (पादोदक) दान करे।

अनन्तदेवदेवेश अनन्तगुणसागर। अनन्तरूप अव्यक्त गृहाणार्घं नमोस्तु ते॥

इस मन्त्र से अर्घ दे।

गङ्गाजलं मयानीतं सुवर्णकलशे स्थितम्। आचम्यतां हृषीकेश त्रैलोक्यव्याधिनाशन॥

इस मन्त्र से आचमन प्रदान करे।

अनन्तगुणरत्नाय विश्वरूपधराय च। नमो महात्मने तुभ्यमनन्ताय नमो नमः॥

इस मन्त्र से स्नान करावे।

नारायण नमस्तुभ्यं नरकार्णवतारक। त्रैलोक्यव्यापकानन्त त्राहि मां मधुसूदन॥

इस मन्त्र से वस्त्र दान करे।

लक्ष्मीपते जगन्नाथ भक्तानुग्रहकारक। नानारत्नोज्ज्वलानन्त भूषणं परिगृह्यताम्॥

इस मन्त्र से भूषण पहिरावे।

दामोदर नमस्तेस्तु त्राहि मां भवसागरात्। यज्ञसूत्रं मया दत्तं गृहाण पुरुषोत्तम॥

इस मन्त्र से यज्ञोपवीत धारण करावे।

श्रीखण्डं कुङ्कुमं दिव्यं कर्पूरेण विमिश्रितम्। विलेपनं सुरश्रेष्ठ प्रीत्यर्थं प्रतिगृह्यताम्॥

इस मन्त्र से चन्दन चढ़ावे।

माल्यानि च सुगन्धीनि तुलस्यादीनि माधव। मयाहृतानि पुष्पाणि पूजार्थं प्रतिगृह्यताम्॥

इस मन्त्र से पुष्प चढ़ावे।

वनस्पतिरसोद्भूतः सुगन्धो गन्धवत्तरः। आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोयं प्रतिगृह्यताम्॥

इस मन्त्र से धूप अर्पण करे।

आज्यत्रिवर्त्तिसंयुक्तं वह्निना योजितं प्रियम्। गृहाण दीपकं देव त्रैलोक्यतिमिरापह॥

इस मन्त्र से दीपदान करे।

चन्द्रादित्यौ च रश्मिश्च विद्युदग्निस्तथैव च। त्वमेव ज्योतिषां सर्वमार्त्तिकं प्रतिगृह्यताम्॥

इस मन्त्र से आरती करे।

सर्वभक्ष्यं समादाय सर्वग्राससमन्वितम्। सर्वगन्धसमाहारं नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम्॥

इस मन्त्र से नैवेद्य समर्पण करे।

इदं फलं मया देव स्थापितं पुरतस्तव। तेन मेस्तु फलावाप्तिर्देव जन्मनि जन्मनि॥

इस मन्त्र से फल चढ़ावे।

पूगीफलसमायुक्तं नागवल्लीदलैर्युतम्। सचूर्णं गृह्यतां देव अनन्ताय नमो नमः॥

इस मन्त्र से ताम्बूल दे।

हिरण्यगर्भगर्भस्थं हेमबीजं विभावसोः। अनन्तपुण्यफलद अतः शांतिं प्रयच्छ मे॥

इस मन्त्र से दक्षिणा दान करे।

नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्त्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटियुगधारिणे नमः॥

इस मन्त्र से नमस्कार करे।

अनन्तकामदानन्त सर्वकामफलप्रद। अनन्तदोररूपेण पुत्रपौत्रप्रदो भव॥
अनन्तगुणरत्नाय विश्वरूपधराय च। सूत्रग्रन्थिषु संस्थाय अनन्ताय नमो नमः॥

इस मन्त्र से पुराने डोरे को कलश में डालकर।

नव्यदोरे विष्णुरग्निस्तथा सूर्यः पितामहः। चन्द्रः पिनाकी विघ्नेशः स्कन्दः शुक्रस्तथैव च॥
वरुणः पवनः पृथ्वी वसवो ग्रन्थिदेवताः। संपूज्य देवदेवेश नमस्ते धरणीधर॥
सूत्रग्रन्थिषु संस्थाय अनन्ताय नमो नमः॥

इस मन्त्र से प्रणाम करके **'संसारगह्वरं गुहा'** इस मन्त्र से डोरा मेरे समीप ले जाकर।

अनन्तसंसारसमुद्रमध्ये मग्नं समभ्युद्धर वासुदेव।
अनन्तरूपे विनियोजयस्व अनन्तसूत्राय नमो नमस्ते॥

यह मन्त्र बोलकर दाहिने हाथ में बाँधे।

अनन्तः प्रतिगृह्णाति अनन्तो वै ददाति च। अनन्तकामान् मे देहि अनन्ताय नमो नमः॥

इस मन्त्र से कणिकदान और पुराने दोरक की पूजा करनी चाहिए।

न्यूनातिरिक्तानि परिस्फुटानि यानीह कर्माणि मया कृतानि।

सर्वाणि चैतानि मम क्षमस्व प्रयाहि तुष्टः पुनरागमाय॥

इस मन्त्र से पुराने दोरक खोले।

संसारसागरगुहासु सुखं विहर्तुं वांछन्ति ये कुरुकुलोद्भव शुद्धसत्त्वाः।

संपूज्य च त्रिभुवनेशमनन्तदेवं बध्नन्ति दक्षिणकरे वरदोरकं ते॥

इस मन्त्र से नवीन डोरा बाँधे।

नमस्ते देवदेवेश विश्वरूपधराय च। सूत्रग्रन्थिषु संस्थाय अनन्ताय नमो नमः॥

इस मन्त्र से पुराने दोरक का विसर्जन करे।

अनन्तः सर्वनागानामधिपः सर्वकामदः। सदा भूयात्प्रसन्नो मे भक्तानामभयंकरः॥

इस मंत्र से प्रार्थना करे।

हे नृपशार्दूल! अब मैं तुमको महापापों का नष्ट करनेवाला पुराना इतिहास कहता हूँ। हे पाण्डव! पहले सत्ययुग में वशिष्ठगोत्री, वेद और वेदाङ्ग का पारगामी सुमन्त नाम का विद्वान् था। हे नराधीश! उसने वेदोक्त विधान से सब लक्षणों से युक्त दीक्षा नामक भृगु की पुत्री से विवाह किया। समय होने पर उसके अनन्त शुभ लक्षणों से युक्त पुत्री उत्पन्न हुई। उसका नाम शीला था और वह बड़ी सुशील थी। पिता के घर में वह बढ़ने लगी। समय आने पर उसकी माता ज्वर के दाह से पीड़ित हुई और मर गई। वह नदी के तीर पर मरी और स्वर्ग में गई।

उसके बाद सुमन्त ने दूसरी स्त्री धर्मपुत्र की पुत्री जिसका नाम कर्कशा था उससे विधिपूर्वक विवाह कर लिया। वह कर्कशा बड़ी दुश्शीला, अत्यन्त क्रोधिनी, नित्य क्लेश करनेवाली, निर्दय, स्नेहरहित कुरूपा और कटुभाषिणी थी।

शीला पिता के घर में सदा घर को सजाती रहती थी। दीवार, खम्भे, घर के दरवाजे, देहली और तोरण आदि को नीले, पीले, श्वेत और काले इन चार रंगों से बार-बार स्वस्तिक और शंखपद्मादिक से चर्चित करती रहती थी।

जब पिता सुमन्त ने देखा कि अपनी पुत्री वर योग्य हो गई है तो उसने बार-बार विचार किया कि मुझे कन्या किसको देनी चाहिए। विचार करके उसने महात्मा मुनिराज कौंडिन्य के साथ शीला का गृह्यसूत्रोक्त विधि से विवाह कर दिया।

विवाह का सब कार्य समाप्त करके सुमन्त ने कर्कशा से कहा कि विवाह के अनन्तर जामाता को विवाह के निमित्त पारितोषिक देना चाहिए। यह सुनकर कर्कशा क्रुद्ध हुई। उसने घर के मण्डप को उखाड़ कर पेटी में अच्छी तरह बाँध दिया और कहा—जाइये। रास्ते में भोजन के लिए भोजन की अवशिष्ट सामग्री बाँध दी।

कौंडिन्य विवाह के बाद नवीन विवाहिता सुशीला शीला को लेकर बैलों के रथ पर चढ़ाकर रास्ते में धीरे-धीरे जाने लगे। मध्याह्न में भोजन की बेला पर नदी के तट पर उतरे।

वहाँ शीला ने स्त्रियों का समूह देखा, जो लाल वस्त्र पहने हुए चतुर्दशी के दिन भक्तिपूर्वक पृथक्-पृथक् स्थित होकर देव की पूजा कर रही थीं। धीरे-धीरे वह स्त्रियों के पास गई और स्त्रियों के समूह से पूछने लगी—हे आर्याओ ! यह क्या कर रही हो ? मुझे बताओ—इस व्रत का नाम क्या है ? स्त्रियों ने उससे कहा—भगवान् का अनन्त नाम विख्यात है। हे भद्रे ! हम उनका यह व्रत कर रही हैं।

शीला ने कहा—ऐसा व्रत मैं भी करूँगी। इसका विधान कैसा है ? इस दिन क्या दान किया जाता है और किसका पूजन किया जाता है ?

स्त्रियों ने कहा—नदी के तट पर अनन्त की उत्तम पूजा सदा करनी चाहिए। गाय के चमड़े जितनी भूमि को लीपकर शुभ मण्डल बनाना

चाहिए। उसके ऊपर सोने का, चाँदी का, तांबे का अथवा बाँस का पात्र रखना चाहिए। उस पर सदा अनन्त फल देनेवाले, सब देवों के स्वामी अनन्त की पूजा करनी चाहिए। अपने शरीर के बराबर परिमाणवाले चौदह डोरों से बनाया हुआ और दक्षिण की तरफ जाने वाली चौदह अच्छी गाँठों से युक्त डोरे को शुभ केसर और गन्ध आदि से रँगना चाहिए। फिर एक सेर आटे का पुँल्लिंग नामवाला और घृतयुक्त पक्वान्न बनाना चाहिए। उसमें से आधा ब्राह्मण को देना चाहिए और आधा अपने रखना चाहिए।

हे शुभे! यह व्रत नदी के तट पर करना चाहिए। स्नान करके हरि की शुभ कथा सुननी चाहिए।

पूर्वोक्त विधि से अनन्त भगवान् की धूप, दीप, नैवेद्य और सुन्दर पीत वस्त्र से पूजा करनी चाहिए। उनके आगे ही केसर से रँगे हुए चौदह गाँठों से युक्त अनन्त के सुन्दर डोरे को पुरुष दाहिने हाथ में और स्त्री बाएँ हाथ में बाँधे। यह डोरा एक वर्ष तक बँधा रहना चाहिये।

श्रीकृष्ण ने कहा—शीला ने यह सुनकर व्रत किया। हाथ में डोरा बाँधा। फिर रास्ते के भोजन में से पहले किसी ब्राह्मण को दिया और बचा हुआ खाया। फिर प्रसन्न होकर स्त्रियों की आज्ञा लेकर उनसे प्रणाम कर पति के पास आई। बैलों के रथ पर बैठकर पति सहित धीरे-धीरे हर्षयुक्त अपने घर गई।

उस व्रत पर उसे उसी क्षण विश्वास हो गया। पेटी में सौतेली माँ ने जो घर का मण्डप उखाड़ कर भरा था वे दीवार के ढेले अच्छी वस्तुओं के रूप में परिणत हो गए। (घर जाकर) जब शीला ने पेटी उघाड़ी तो उनको देखकर उसे बड़ा कौतूहल हुआ। उसने सोचा कि मेरी क्रूर माता ने, जो रोज क्रोध में भरी रहती थी, पिता जी की आज्ञा से क्रुद्ध होकर घर का मण्डप, स्वस्तिक और शंख पद्म उखाड़ कर पेटी

में रखे थे वह सब भगवान् ने कृपा करके उसी रंग के सुवर्ण और रत्न आदि कर दिये। इसलिए उसी क्षण से उसको भगवान् पर विश्वास हो गया।

अनन्त भगवान् के प्रभाव से उसका गृहाश्रम गोधन से और लक्ष्मी से युक्त तथा धन-धान्य से व्याप्त हो गया। उसके घर में अच्छे भवनों की माला हो गई। तोरण सुशोभित था, उस पर ध्वजा का अग्रभाग वायु से हिल रहा था और सब जगह अतिथि पूजा होती थी। शीला माणिक्य की करधनी, मोतियों के हार, रेशमी वस्त्र और बजते हुए नूपुरों से सुशोभित थी, चमकते हुए सोने के भुजबन्द और सब आभूषणों से भूषित थी। पातिव्रत्य से युक्त वह नित्य सावित्री के समान रहती थी।

एक दिन कौंडिन्य वहाँ बैठा था। उसने शीला के हाथ के मूल में बँधा हुआ डोरा देखा। उस पापी और मूर्ख ने आक्षेपपूर्वक यह कहते हुए कि 'अनन्त कौन है' उसके मना करने पर भी क्रोध से वह डोरा तोड़ दिया और यह साहस तथा पाप किया कि उसको ज्वालाकुल वह्नि में डाल दिया। शीला 'हाय-हाय' करके दौड़ी, उस डोरे को उसने ले लिया और दूध में डाला।

कौंडिन्य के उस कर्म के फलरूप उसकी वह लक्ष्मी क्षय को प्राप्त हुई। गोधन को चोर ले गए और घर आग से जल गया। किसी के घर से जो-जो आता था, वह वहाँ आकर प्रलय को प्राप्त हो जाता था। नित्य स्वजनों से झगड़ा होता, तर्जन और भर्त्सन होता। अनन्त के डोरे के जला डालने के दोष से घर में दारिद्रय आ पड़ा। हे युधिष्ठिर! उसके साथ कोई बात भी नहीं करता था।

तब कौंडिन्य ने शीला से कहा—मुझे बताओ। मेरे घर में धन-धान्य और चौपाये क्यों नष्ट हो गए?

अव शीला ने कहा—हे प्रिय ! मेरी बात सुनिए। आप ने अनन्त भगवान् के ऊपर आक्षेप किया, इससे हमारे घर में दारिद्र्य आ पड़ा।

तब कौंडिन्य को विरक्ति हुई और मन में अनन्त का ध्यान करके यह सोचता हुआ कि भगवान् केशव का मैं कहाँ दर्शन करूँगा, गहरे वन में चला गया। हे युधिष्ठिर उसने अनशन व्रत किया, ब्रह्मचारी रहा और हरि का स्मरण करते हुए विह्वल होकर निर्जन वन में प्रयाण किया।

उस निर्जन वन में उसने एक बड़ा आम का वृक्ष देखा जो खूब फूल रहा था और फल रहा था, किन्तु उस पर न कोई पक्षी आकर बैठता था, न कोई कीड़ा-मकोड़ा चढ़ता था। कौंडिन्य ने उससे पूछा—हे महाद्रुम ! क्या तुमने अनन्त को देखा है ? उस वृक्ष ने कहा—हे ब्राह्मण ! मैं अनन्त को नहीं जानता।

इस तरह उससे तिरस्कृत होकर कौंडिन्य ने एक बछड़े सहित गाय देखी। हे युधिष्ठिर ! वह गाय घास के बीच इधर-उधर दौड़ रही थी। कौंडिन्य ने गाय से पूछा—हे धेनु ! बताओ तुमने अनन्त को देखा है ? गाय ने कौंडिन्य से कहा—ब्राह्मण ! मैं अनन्त को नहीं जानती।

तब आगे जाते हुए उसने हरी घास पर बैठे एक बैल को देखा और उससे पूछा—हे गायों के स्वामी ! क्या तुमने अनन्त को नहीं देखा ? बैल ने उससे कहा—मैंने अनन्त को नहीं देखा।

फिर आगे जाते हुए उसने दो सुन्दर तलैयाएँ देखीं। उनमें परस्पर जल की लहरें आ रही थीं, लहरों के चलने से वे बड़ी शीतल थीं, कमल और कल्हार से आच्छन्न थीं, जलजीवों से सुशोभित थीं, भौंरे, हंस, चकवे, कारण्डव और बगुले उनका सेवन कर रहे थे। ब्राह्मण ने उन तलैयों से पूछा—तुमने अनन्त को नहीं देखा ? उन तलैयों ने कहा—हमने प्रभु के दर्शन नहीं किये।

तब आगे जाते हुए कौंडिन्य ने एक हाथी और एक गदहा देखा। ब्राह्मण ने उनसे भी पूछा। उन्होंने भी ब्राह्मण का तिरस्कार किया और कहा—हमने प्रभु को नहीं देखा। यह सुनकर कौंडिन्य बैठ गया।

ब्राह्मणोत्तम कौंडिन्य इस समय घबरा उठा था, अतः कृपा करके अनन्त देव प्रत्यक्ष हुए उन्होंने वृद्ध ब्राह्मण के वेष में कौंडिन्य से कहा—इधर आइये। वे उसका दाहिना हाथ पकड़ कर अपनी पुरी में ले गए। उन्होंने कौंडिन्य को अपनी पुरी दिखाई, जो दिव्य स्त्री-पुरुषों से युक्त थी। उस पुरी में अनन्त भगवान् श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे थे। पास में स्थित शंख, चक्र, गदा, पद्म और गरुड से वे शोभित थे। फिर उस ब्राह्मण ने कौंडिन्य को पूर्वोक्त विश्वरूपी परमेश्वर अनन्त के दर्शन करवाये जो कौस्तुभ मणि से सुशोभित, वनमाला से विभूषित और विभूतियों से भासमान थे, उनको देखकर इस ब्राह्मण ने बड़े आनन्द के साथ अनन्त भगवान् से कहा—

पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः।
त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहरो भव॥
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम्।
यत्त्वाङ्घ्रियुगाम्भोजे मन्मूर्द्धा भ्रमरायते॥

मैं पापी हूँ, पापकर्मों का करनेवाला हूँ, मेरे मन में भी पाप है और मैं पापों का पैदा करनेवाला हूँ। हे कमलनयन! मेरी रक्षा करिए और सब पापों के हरण करनेवाले होइये।

आज मेरा जन्म सफल है, आज मेरा जीवन सुजीवन है, क्योंकि मेरा मस्तक आप के चरण-कमल में भौंरे की तरह रम रहा है।

यह सुनकर अनन्त देव ने उसको तीन वरदान दिये—दारिद्र्य का नाश, धर्म और सनातन विष्णुलोक की प्राप्ति।

अब ब्राह्मण ने हर्ष से युक्त, नेत्र विकसित करके अनन्त भगवान् से पूछा—हे देव! कृपा करके यथार्थ रूप में बताइए कि (मार्ग में मिलित)

आम कौन था, बैल कौन था, गाय कौन थी, दोनों तलैयाएँ कौन थीं, गदहा कौन था और हाथी कौन था ?

भगवान् ने कहा—वह आम का पेड़ एक ब्राह्मण था जो पण्डित था और वेदों का घमण्डी था, किन्तु उसने अपने शिष्यों को शास्त्र का दान नहीं किया इसलिए उसे वृक्ष होना पड़ा।

जो तुमने बछड़े-सहित गाय देखी थी, वह साक्षात् पृथ्वी थी।

जो तुमने बैल देखा था, हे ब्राह्मण ! वह स्वयं धर्म था।

जो तुमने दो तलैयाएँ देखी थीं, वे पूर्वजन्म में सगी बहिनें थीं, किन्तु जो धर्म करतीं वह परस्पर ले लेतीं इसलिए तलैयाएँ हुईं।

जो हाथी तुम्हें मिला था, वह धर्म का द्वेषी था और जो गदहा मिला वह लोभी ब्राह्मण था तथा जो बूढ़ा ब्राह्मण मिला वे स्वयम् अनन्त थे।

हे ब्राह्मण ! पहले मैंने जो तुमने पूछा वह बताया है, अब तुम फिर घर जाओ और अनन्त भगवान् का व्रत चौदह वर्ष तक करो। तब सन्तुष्ट होकर मैं तुम्हें नक्षत्रों में स्थान दूँगा। धर्मात्मा तुम अपनी पत्नी के साथ आनन्ददायक भोगों को भोगकर पुत्र-पौत्रों से युक्त होने के अनन्तर मोक्ष पाओगे।

श्रीकृष्ण ने कहा—अनन्त भगवान् इस तरह वरदान देकर वहीं अन्तर्धान हो गए। कौंडिन्य भी घर आया और उसने यह उत्तम व्रत किया। इस व्रत के प्रभाव से उसको सब तरफ से लक्ष्मी मिलने लगी। वह धर्मात्मा शीला के साथ इच्छानुसार भोग भोगकर स्वर्ग में गया और पुनर्वसु नामक नक्षत्र हुआ, जो चमकता हुआ दिखाई देता है और जो एक कल्प तक स्थायी रहेगा। अच्छी तरह करने पर अनन्त के व्रतरूपी धर्म से यह फल हुआ।

अनन्त का उद्यापन आदि, मध्य या अन्त में कहीं भी किया जा सकता है। उद्यापन के समय अनन्त देव की सुवर्ण-प्रतिमा बनवानी चाहिए,

उसको पूर्णपात्र और घड़े से युक्त श्वेत वस्त्र से ढँककर छत्र और जूते की जोड़ी सहित ब्राह्मण को दान करना चाहिए और सब आभरणों से भूषित गऊ दक्षिणा में देनी चाहिए। फिर परम भक्ति से पूजा करके चौदह ब्राह्मणों को भोजन करवाना चाहिए और उनको दक्षिणा देनी चाहिए।

इस तरह व्रत करने से अव्ययपद प्राप्त होता है और मनुष्य जो-जो मनोरथ करता है वे सब प्राप्त होते हैं। हे राजन्! मैं सच कहता हूँ, जिसके पुत्र नहीं हो उसको पुत्र मिलता है, निर्धन को धन मिलता है और रोगी रोग से छूट जाता है।

हे राजन्! यह उत्तम अनन्तव्रत तुमसे कहा जिसके करने से (मनुष्य) सब पापों से मुक्त हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं।

जो लोग इस हरि की कथा को सदा सुनते हैं वे भी पाप से मुक्त होकर परमगति प्राप्त करते हैं।

(व्रतार्क में भविष्योत्तर पुराण से उद्धृत)

अभ्यास

(१) अनन्तव्रत का समय बताइए?

(२) अनन्तव्रत की विधि बताइए। अनन्त का अर्थ क्या है? उसमें भगवान् को पुंल्लिंग पकान्न ही क्यों निवेदन किए जाते हैं, स्त्रीलिंग पकान्न क्यों नहीं?

(३) अनन्त का डोरा कैसे बनाया जाता है? चौदह ग्रन्थियों के देवता कौन हैं? इन देवताओं को ग्रन्थियों में स्थापित करने का क्या अभिप्राय है?

(४) यह व्रत वर्षा ऋतु के अन्त में क्यों किया जाता है?

(५) अनन्तकथा संक्षेप में कहिए। आम तथा तलैयों के वृत्तान्त से क्या तात्पर्य निकलता है?

नवरात्र

समय

आश्विन शु० १ से ६ तक और चैत्र शु० १ से ६ तक।

कालनिर्णय

नवरात्र का आरम्भ आश्विन शुक्ल पतिपदा और चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को होता है। जिस दिन प्रतिपदा ६ घड़ी से कम न हो उस दिन इसका आरम्भ करना चाहिए। यदि ६ घड़ी न मिले तो कम-से-कम दो घड़ी प्रतिपदा अवश्य होनी चाहिए। अमावस्या से युक्त प्रतिपदा का नवरात्रारम्भ में निषेध है, परन्तु यदि प्रतिपदा का क्षय हो जाय अथवा दूसरे दिन प्रतिपदा दो घड़ी से भी कम हो तो अमावस्या के साथ की प्रतिपदा भी ली जा सकती है। यद्यपि प्रतिपदा के आरम्भ की १६ घड़ियों का तथा चित्रा नक्षत्र और वैधृति योग का भी निषेध है, तथापि धर्म-सिन्धुकार का यह मत है कि इस नियम का मध्याह्न तक ही पालन करना चाहिए। यदि मध्याह्न तक भी उक्त दोष रहे तो अपराह्न या रात्रि में प्रारम्भ न करके मध्याह्न में ही आरम्भ करना चाहिए।

विधि

प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल अभ्यङ्गस्नानादि करके नवरात्र में जिन नियमों का पालन करना हो उनका संकल्प करे। फिर जैसा कुलाचार हो उसके अनुसार ब्राह्मण को बुलाकर अथवा स्वयं स्नान-संध्या से निवृत्त होकर मृत्तिका की वेदी में जवारे (यवाङ्कुर) बोकर घटस्थापन करे। घट के ऊपर कुलदेवी की प्रतिमा स्थापित कर उसका पूजन करे। जिनके यहाँ दुर्गासप्तशती के पाठादि होते हैं वे स्वयं अथवा ब्राह्मण के द्वारा

पठन करें या करावें। कई लोग पूजामात्र के समय दीपक रखते हैं और कई नवरात्र तक अखण्ड दीपक रखते हैं।

वैष्णव लोग नवरात्र में उक्त विधि से रामप्रतिमा की स्थापना करके रामायण का पाठ करते हैं। अनेक स्थानों पर नवरात्र में राम-लीला भी होती है। जहाँ नवरात्र भर राम-लीला होती है वहाँ उसकी समाप्ति विजयादशमी के दिन की जाती है। काशी के पास काशीराज्य की राजधानी रामनगर में रामलीला अनन्तचतुर्दशी से आरम्भ होकर आश्विन शुक्ल पूर्णिमा तक चलती है।

काल-विज्ञान

शक्ति-पूजा में नवरात्र ही क्यों ?

संसार में भगवान् की सबसे बड़ी शक्ति काल है। जैसा कि श्रीमद्-भागवत में लिखा है—

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥
यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च॥
स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे, सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्॥
नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमादतः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्॥
गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम्॥
सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन् मारयन्मृत्युनान्तकम्॥

(३।२६।४० से ४५ तक)

जिसके भय से वायु चलता है, सूर्य तपता है, इन्द्र वर्षा करता है, तारागण चमकते हैं, वनस्पति, लता और ओषधियाँ अपने-अपने समय पर पुष्प–फल ग्रहण करते हैं, नदियाँ बहती हैं, समुद्र नहीं उमड़ता, अग्नि जलता है, पर्वतों सहित पृथ्वी नहीं डूबती, आकाश जिसके नियम से प्राणियों को स्थान देता है, महत्तत्त्व सप्तावरणोंसहित अपनी देह को लोकरूप बनाता है और सत्त्वादि गुणों के अभिमानी देवता अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश—जिनके वश में यह स्थावर–जङ्गम जगत् है—प्रत्येक युग में सृष्टि, स्थिति, संहार में प्रवृत्त होते हैं। वह काल सबका अन्त करनेवाला है और स्वयं अनन्त है, सबको जन्म देनेवाला है और स्वयं अनादि है, वही प्राणी से प्राणी को उत्पन्न करवाता है और मारनेवाले को भी मौत से मार देता है।

यह काल भगवान् की शक्ति ही है। जैसा कि उसी श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में लिखा है—

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः। (३।७।२)

सच्ची बात तो यह है कि काल से बढ़कर भगवान् की और कोई शक्ति प्रत्यक्षरूप में नहीं दिखाई देती। सो यह ठीक ही लिखा है कि—

अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः प्रयच्छतो मृत्युमुताऽमृतं च॥ (श्रीमद्भागवत १०।१।७)

अर्थात् भगवान् के दो रूप प्रत्यक्ष हैं—भीतर जीवात्मा और बाहर काल। एक मनुष्य को अमृत (जीवन अथवा मोक्ष) दान करता है और दूसरा मृत्यु—तात्पर्य यह कि आत्मज्ञान के द्वारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है और काल की प्रेरणा से बाह्य विषयों में आसक्त होने से मृत्यु।

इसी भगवान् की समयरूप शक्ति का अनुभूयमान स्वरूप ऋतुचक्र अर्थात् संवत्सर है, जो सामान्यतः ३६० दिनों का माना जाता है। इन ३६० दिनों के ४० (४०×९=३६०) नवरात्र होते हैं, जिनमें से २० सूर्य की पूर्व दिशा के मध्यबिन्दु पर आने से पुनः मध्यबिन्दु पर आने तक समाप्त हो जाते हैं। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन जब चान्द्र

मास का आरम्भ होता है उस समय सूर्य ठीक पूर्व दिशा में होता है और इसी प्रकार आश्विन मास में भी सूर्य ठीक पूर्व दिशा में ही रहता है। दिन और रात्रि का प्रमाण भी इस समय प्रायः समान होता है। जसा कि पहले लिखा जा चुका है। संस्कृत में इस समय को विषुव[1] अथवा विषुवत् कहते हैं।

इस विषुवत् काल के शुक्लपक्ष के आरम्भ के नौ दिन शक्ति की आराधना के लिए प्रधान माने गए हैं, क्योंकि भगवान् की दूसरी शक्ति जिसे प्रकृति अथवा महामाया कहते हैं वह सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम है। जब सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण समान मात्रा में रहें उसका नाम प्रकृति है, जब इनकी मात्रा में अधिकता वा न्यूनता हो तब सृष्टि होती है। इसलिए जब सत्त्वरूप दिन का प्रकाश, तमोरूप रात्रि का अन्धकार और इनका मध्यभाग रजोरूप सन्ध्या ये तीनों साम्यावस्था में हों (अर्थात् लंबे या छोटे न होकर यथार्थ स्थिति में हों) वही समय प्रकृति की आराधना में उपयोगी है, क्योंकि प्रकृति अभिव्यक्त रूप में त्रिगुणात्मिका है और त्रिगुण के परस्पर मिश्रण से त्रिवृत् होने पर गुणों के सत्त्वप्रधानसत्त्व, सत्त्वप्रधान रज, सत्त्वप्रधान तम और इसी प्रकार रजःप्रधान सत्त्व, रजःप्रधान रज, रजःप्रधान तम एवं तमःप्रधान सत्त्व, तमःप्रधान रज और तमःप्रधान तम ये नौ रूप होते हैं। इन नौ रूपों के कारण ही प्रकृति की आराधना नौ अहोरात्रों में की जाती है, क्योंकि उक्त प्रकार से प्रकृति का स्वरूप ही त्रिवृत्कृत=त्रिगुणात्मक है। अतः महामाया (प्रकृति) की उपासना के अहोरात्र नवसंख्यक रक्खे गए हैं।

उपर्युक्त विधि से पूरे संवत्सर के ४० नवरात्रों में से दो ही नवरात्र प्रधान हैं—एक वर्षारम्भ में चैत्रशुक्ल का और दूसरा वर्ष के मध्य में

---

१. समरात्रिन्दिवे काले विषुवद्विषुवं च तत्। (अमरकोष, कालवर्ग श्लोक १४)

आश्विन शुक्ल का, सो इन्हीं में जगत् की मूल प्रकृति महामाया की आराधना की जाती है।

संवत्सर के ४० नवरात्रों में से उक्त दो नवरात्रों के प्रधान मानने का कारण यह है कि ऋतु-विज्ञान में लिखे अनुसार जीवन के मूल कारण अग्नि और सोम हैं। उनके धर्म उष्णता और शीत हैं। उन दोनों का उपोद्बलन क्रमशः इन्हीं दो नवरात्रों से आरम्भ होता है।

दूसरा कारण यह है कि भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है और यहाँ प्रकृति की देन के रूप में अन्न इन्हीं दोनों नवरात्रों में परिपक्व होकर प्राप्त होता है। अतः उस समय प्रकृति की आराधना यहाँ के लिए स्वाभाविक भी है। इन्हीं दिनों में प्राचीन ऋषि नवान्नेष्टि भी किया करते थे।

तीसरा कारण यह है कि—भारतवर्ष की निर्मल, स्वच्छ और सुखद ऋतुएँ भी वसन्त और शरद् ही हैं। इसीलिए भारत के कवियों ने जितना इन ऋतुओं का वर्णन किया है उतना अन्य चार ऋतुओं का नहीं। अतः प्रकृति देवी की प्रसन्नता के मूर्त्तरूप और कालशक्ति के फलप्रद अवसर पर ही शक्ति की आराधना उचित है।

विधि-विज्ञान

ऊपर हम देख चुके हैं कि नवरात्र शक्ति-पूजा का समय है। शक्ति ही वास्तव में किसी भी वस्तु के स्वरूप को स्थिर रखने में समर्थ है। विना शक्ति के कोई भी वस्तु क्षणभर भी नहीं टिक सकती। अतएव यह कहा जाता है कि विना शक्ति शिव भी शव हैं।

शक्ति के स्वरूप को समझने के लिए दुर्गा-सप्तशती का निम्नलिखित श्लोक बहुत ही उपयोगी है—

यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे मया॥

(देवी सप्तशती, अ० १ श्लो० ८२)

ब्रह्माजी ने भगवती योगनिद्रा की स्तुति करते हुए उपर्युक्त श्लोक में शक्ति की स्तुति में अपनी अशक्ति बताई है। उनका कथन है कि— हे सर्वरूपिणि, जगत् में जो कोई, जहाँ कहीं, सद् (कार्यरूप) या असद् (कारणरूप) वस्तु है उस सबकी आप 'शक्ति' हैं। भला आप ही बताइए, क्या मैं आपकी स्तुति कर सकता हूँ!

इस छोटे-से श्लोक में शक्ति के विषय में अनेक बातें लिखी हैं— सर्वप्रथम तो इस श्लोक में प्रयुक्त हुए सम्बोधन 'अखिलात्मिके' अर्थात् 'सर्वरूपिणि' पर ही ध्यान दीजिए। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूपलाभ और स्वरूपधारण विना शक्ति के नहीं हो सकता। जो भी कोई वस्तु किसी रूप में दिखाई देती है अथवा वर्त्तमान है, वह शक्ति के ही कारण है।

उदाहरण के लिए किसी भी पदार्थ या व्यक्ति को ले लीजिए। उसमें जब तक उस रूप में रहने की शक्ति होगी, तभी तक वह उस नाम, पद, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति का अधिकारी रह सकता है, जहाँ उसमें से शक्ति हटी कि वह स्वरूप से च्युत हो जायगा।

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक व्यक्ति न्यायाधीश है, वह अपने पद और प्रतिष्ठा को तभी तक प्राप्त किये रह सकता है, जब तक उसमें न्यायकारिता की शक्ति विद्यमान है। यदि उसकी सदसद्विवेक की बुद्धिरूपी शक्ति नष्ट हो जाय, तो वह अपने स्वरूप से च्युत हो जायगा। ऐसी दशा में वह अपने पद पर रहते हुए भी, जैसे काठ का हाथी हाथी कहलाता है वैसे न्यायाधीश भले ही कहा जाय, पर वास्तव में वह न्यायाधीश नहीं होगा। यही दशा अन्य सभी वस्तुओं तथा व्यक्तियों की है।

अतएव शक्ति को 'सर्वात्मिका' बताया गया है। ये जो आपको भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व, विशिष्टत्व और साधारणत्व देख पड़ते हैं, सब

उसी के रूप हैं। अग्नि में जब तक दाहिका शक्ति रहती है, तभी तक वह अग्नि है। उसमें से वह शक्ति गई नहीं कि वही अग्नि अपने स्वरूप से च्युत हो जायगा। उसे 'राख' आदि अन्य किसी नाम से आप पुकारें, पर अब वह अग्नि नहीं है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को यदि अपनी स्वरूपरक्षा करनी है, तो उसे शक्ति-सम्पादन अवश्य ही करना चाहिए, अन्यथा वह हजार प्रयत्न करने पर भी अपने स्वरूप से च्युत हो ही जायगा।

दूसरी बात इस श्लोक से यह सिद्ध होती है कि चाहे कहीं कोई कैसी भी वस्तु क्यों न हो, उसमें अवश्य ही कोई-न-कोई शक्ति रहती है। विना शक्ति के कोई वस्तु है ही नहीं। उदाहरण के लिए छोटे-से-छोटे कीटाणु से लेकर महान्-से-महान् गजराज को ले लीजिए। उन सबमें किसी-न-किसी प्रकार की शक्ति अवश्य रहती है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो हम देखते हैं कि छोटी-छोटी वस्तुओं में जैसी शक्ति रहती है, वैसी बड़े-से-बड़े पदार्थों में नहीं पाई जाती। जो बातें कीटाणु कर सकते हैं, वे बड़े-से-बड़े प्राणी के द्वारा नहीं हो सकतीं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि सबमें मूलशक्ति की अंशभूत एक-एक पृथक् शक्ति काम करती रहती है, अतएव हम किसी शक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस विषय में कविवर रहीम ने कैसा सुन्दर लिखा है। वे कहते हैं:—

'रहिमन' देखि बड़ेन को लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवे सुई कहा करै तरवारि॥

तीसरी बात इस श्लोक में यह बताई गई है कि शक्ति का स्वरूप अवर्णनीय है। वह सबके अन्दर कार्य करती है, अतः उसकी इयत्ता अर्थात् इतनी ही है यह बात नहीं बताई जा सकती। सब जगत् के उत्पादक ब्रह्मा के मुख से यह कहलवा कर तो भगवान् वेदव्यास ने इस बात

का महत्त्व और भी बढ़ा दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि वस्तु-शक्ति को ब्रह्मा भी नहीं जानते। आपने यदि एक वस्तु को हजार बार खोजा है, तब भी और खोजते चले जाइए, न जाने अभी उसमें कौन-कौन-सी शक्तियाँ अज्ञात रूप में पड़ी हुई हैं। अतः अपनी खोज को कभी समाप्त न समझिए। लाखों व्यक्तियों ने वस्तु-शक्ति के अनेक अंशों का परिज्ञान प्राप्त किया, तब भी न जाने अभी उसके विषय में कितनी बातें छिपी हुई हैं। जब पैदा करनेवाले ब्रह्मा भी उसे नहीं जानते, तो आप हम तो हैं ही क्या! कबीर ने इस विषय में क्या ही सुन्दर कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठि।
हौं बौरी ढूँढ़न गई रही किनारे बैठि॥

अच्छा, अब यह देखना है कि—यह शक्ति क्या पदार्थ है। यह किसी वस्तु से भिन्न रहती है अथवा अभिन्न और इसका सम्पादन किस प्रकार किया जा सकता है। 'शक्ति' शब्द का अर्थ है सामर्थ्य या ताक़त। पहले लिखा जा चुका है कि 'शक्ति वस्तु के अन्दर रहने वाला वह धर्म है, जिससे वस्तु स्वरूपलाभ तथा स्वरूपरक्षा करती है।' शास्त्रों में इस बात को बड़े उत्तम रूप से समझाया गया है कि इस शक्ति का शक्तिमान् (वस्तु या व्यक्ति) के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। तादात्म्य सम्बन्ध का अर्थ होता है भेद-सहिष्णु अभेद। अर्थात् जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से भिन्न भी प्रतीत हो और अभिन्न भी, उसका उस पदार्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है। इसका उदाहरण है दीपक और उसका प्रकाश। प्रकाश दीपक से भिन्न भी है और अभिन्न भी। भिन्न तो वह इसलिए है कि दीपक को प्रकाश अथवा प्रकाश को दीपक नहीं कहा जा सकता। कारण, दीपक की लौ पर यदि हम हाथ रक्खें तो हाथ जल जायगा, पर प्रकाश में ऐसी कोई बात

नहीं। पर उन्हें सर्वथा भिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि दीपक से प्रकाश सर्वथा भिन्न होता तो दीपक के हटाने पर प्रकाश न हटता। कहीं-न-कहीं हम उसे दीपक आदि प्रकाशमान पदार्थों के अतिरिक्त भी प्राप्त कर सकते। पर प्रकाशमान पदार्थों से पृथक् प्रकाश को हमने कभी नहीं देखा, अतः उसे दीपक आदि से अभिन्न ही मानना पड़ेगा। इस तरह दीपक और प्रकाश का सम्बन्ध होता है तादात्म्य अथवा भेद-सहिष्णु अभेद। यही सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान् का है। शक्ति शक्तिमान् के स्वरूप की रक्षा करती हुई भी उससे पृथक् नहीं है।

जिस तरह नाना रूप में परिदृश्यमान विश्व का एक उद्गमस्थान है जिसे हम ईश्वर कहते हैं, वैसे ही इन अनन्त शक्तियों का मूल एक शक्ति है, जिसे व्यवहार में कार्यभेद से प्रकृति, माया, शक्ति आदि अनेक नामों से निरूपण करते हैं। यह शक्ति उपर्युक्त रीति से उस विश्वेश्वर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखती है और उसके सभी काम इसकी सहकारिता से होते हैं।

शास्त्रों में स्थान-स्थान पर शक्ति का वर्णन है, अतः इस विषय में विशेष लिखना व्यर्थ है, तथापि विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोकों के पढ़ लेने से शक्ति के विषय में शास्त्रीय विचार विदित हो सकते हैं—

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिताः।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः॥
सूक्ष्मावस्था हि सा तेषां सर्वभावानुगामिनी।
इदन्तया विधातुं सा न निषेद्धुं च शक्यते॥
सर्वैरननुयोज्या हि शक्तयो भावगोचराः।
एवं भगवतस्तस्य परस्य ब्रह्मणो मुने॥
सर्वभावानुगा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः।
भावाभावानुगा तस्य सर्वकार्यंकरी विभोः॥

अर्थात् सभी पदार्थों में (अनेक) शक्तियाँ होती हैं, जो कि पदार्थ से पृथक् नहीं रहतीं और अचिन्त्य हैं। वे किसी वस्तु के स्वरूप में नहीं दिखाई देतीं, किन्तु कार्य द्वारा दृष्टिगोचर होती हैं। वस्तुतः शक्ति एक प्रकार से पदार्थों की सूक्ष्मावस्था है, जो सभी पदार्थों का अनुगमन करती है—संसार का कोई पदार्थ उससे मुक्त नहीं है। इस शक्ति को न तो कोई प्रत्यक्षरूप से 'देखिए, यह शक्ति पदार्थ है' यों बता ही सकता है और न उसका कोई निषेध ही किया जा सकता है। ये पदार्थों में विद्यमान शक्तियाँ तर्क की विषयभूत नहीं हैं (किन्तु खोज की विषयभूत हैं)।

जैसे ये पदार्थों की शक्तियाँ हैं, ठीक वैसे ही उस भगवान् परब्रह्म की भी एक शक्ति है, जो सब पदार्थों के पीछे लगी हुई है और जैसे चन्द्रमा से चाँदनी का सम्बन्ध है, वैसे ही इसका भगवान् से सम्बन्ध है। यह ईश्वर की शक्ति भाव और अभाव सबके साथ लगी हुई है और ईश्वर के सब कार्यों को करती है—ईश्वर के सभी कार्य इसी शक्ति के द्वारा होते हैं।

यही क्यों ? भगवान् स्वयं भी अवतार लेते हैं तो इसी के आधार पर। गीता में भगवान् ने कहा है :—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

मैं अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर अपनी माया के द्वारा प्रकट होता हूँ। अतएव हम जब कभी भगवत्स्वरूपों का वर्णन करते हैं तो पहले उनकी शक्ति का वर्णन करते हैं और फिर उनका; जैसे लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण, सीताराम—इत्यादि।

यह तो है शक्ति का तात्त्विक वर्णन। पर यहाँ सृष्टि में उसका क्या स्वरूप है और उसका सम्पादन तथा उपयोग कैसे किया जा सकता है। ये बातें विशेष रूप से समझ लेने की हैं।

श्रुतियों में लिखा है कि—सृष्टि उत्पन्न करते समय ईश्वर की इच्छा हुई कि 'बहु स्यां प्रजायेय—अर्थात् मैं अनेक और एक-दूसरे से पृथक् स्वरूपों में होऊँ।' बात भी बिलकुल ठीक है। हम देखते हैं कि संसार में सभी पदार्थों में एकता होते हुए भी विभिन्नता है। यदि एकता न होती तो एक व्यक्ति पर किया गया प्रयोग अन्य व्यक्ति के लिए सर्वथा अनुपयोगी होता और इस प्रकार सभी आविष्कार व्यर्थ हो जाते और यदि विभिन्नता न होती तो संसार में न रुचिभेद होता न मतिभेद। ठीक यही बात शक्ति के विषय में भी है। वह भी मूलरूप में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुई है। जो शक्ति अग्नि में है वह जल में नहीं और जो जल में है वह अग्नि में नहीं।

किन्तु पुराणों में विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए इस बात को अच्छी तरह समझा दिया गया है कि ये सब शक्तियाँ अनुकूलरूप में एकत्रित होकर ही व्यवहारोपयोगी हो सकती हैं, विशृङ्खलितरूप में नहीं; क्योंकि ईश्वर ने सभी को शक्ति देते हुए भी उसे आंशिकरूप में ही रखा है, पूर्णरूप में नहीं। अतएव हम देखते हैं कि जो शक्ति किसी वस्तु में रहती है, वह भी अन्य सहयोगी वस्तु के बिना अपना कार्य पूरा नहीं कर सकती। एक मृत्तिका का परमाणु यदि अन्य परमाणुओं को अपने साथ नहीं मिलावे तो घड़ा और मटकी तो न बना सके तो ठीक ही है, ढेला भी न बना सके। कितना भी चतुर कुम्हार बिना उपकरण के बरतन बनाने बैठे तो क्या बना सकता है? क्या कोई भी लेखक दावात, कलम, स्याही या पेन्सिल आदि उपकरणों के बिना, चाहे कितना भी बुद्धिमान् क्यों न हो, कुछ लिख सकता है? इससे यह सिद्ध है कि शक्ति को व्यवहारोपयोगी रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ वस्तुएँ सम्मिलितरूप में प्रयुक्त हों।

इतना ही क्यों, आप अपने शरीर को ही देखिए। कान, नाक, आँख आदि सब इन्द्रियों की एवं इसी प्रकार अन्य सब अवयवों की शक्तियाँ

पृथक्-पृथक् हैं। कान का काम कान ही से हो सकता है, अन्य किसी इन्द्रिय से नहीं। तथापि ये सब सम्मिलित और संयुक्त होकर ही पुरुष को पुरुष (पुरुषार्थ के योग्य) बना सकती हैं—एक-एक अलग-अलग रहकर नहीं।

यही बात व्यक्तियों की भी है। एक व्यक्ति, कोई कितना भी बलवान् क्यों न हो, किसी कार्य को आंशिकरूप में ही संपादन कर सकता है, पूर्णतया नहीं, अतः शक्तिसंपादन का उपाय है अपनी पृथक्-पृथक् शक्तियों का, सहयोग द्वारा संघटित होकर, प्रयोग करना। बिना इसके कभी कोई कार्य नहीं हो सकता, अतएव लेख के आरम्भ में लिखे श्लोक में शक्ति के विषय में लिखा है 'तस्य सर्वस्य या शक्तिः' जिसका तात्पर्य यह है कि शक्ति और वास्तविक शक्ति, जिसकी हम वन्दना और अर्चना करते हैं वह 'सबकी' है, एक की नहीं। एक-एक में तो उसका अंश ही है। अतएव दुर्गा-सप्तशती में भी शक्ति का निवास एक व्यक्ति या एक स्थान में नहीं बताया। योग-निद्रा ही के लिए लिखा है :—

नेत्रास्यनासिकाबाहुहृदयेभ्यस्तथोरसः ।
निर्गम्य दर्शने तस्थौ ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ॥

अर्थात् यह भगवान् की शक्ति नेत्र, मुख, नासिका, हृदय और छाती से निकलकर दृष्टिगोचर हुई। इसका अभिप्राय यही है कि शक्ति कहीं भी केवल एक ही स्थान पर नहीं रहती। वह पृथक्-पृथक् स्थानों पर विभक्त होकर सुषुप्त रहती है पर सबका सहयोग होते ही कार्य करने लगती है।

यही नहीं, दुर्गा-सप्तशती के मध्यम-चरित्र में तो उसे सब देवताओं के अंशों से ही आविर्भूत बताया गया है और उन सबकी संघटित शक्ति ने ही महिष जैसे महासुर को परास्त किया और उत्तम-चरित में तो

प्रधान शक्ति का अन्य शक्तियों के सहयोग से कार्य करना स्पष्ट ही वर्णित है।

इस लेख का सार यह है कि—

(१) शक्ति के विना न तो वस्तु स्वरूप धारण कर सकती है, न स्वरूप-रक्षा।

(२) वस्तु छोटी हो या बड़ी, सब में शक्ति अवश्य रहती है।

(३) शक्तियाँ अनन्त हैं, अचिन्त्य हैं और वस्तु से भिन्न-अभिन्न हैं।

(४) पदार्थों की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होने पर भी वस्तु की मूलशक्ति, जिसकी ये सब शक्तियाँ अंशभूत हैं, एक है।

(५) एक वस्तुशक्ति दूसरी वस्तुशक्ति से मिलकर ही संपूर्णता को प्राप्त होती है। विना सहयोग के शक्ति अपूर्ण ही रहती है।

यह जिस भगवती शक्ति का स्वरूप है उसी का पूजन इस नवरात्रोत्सव में किया जाता है। उसमें उपर्युक्त विधि के अनुसार (१) अभ्यङ्गस्नान। (२) जवारे बोना। (३) घटस्थापन (४) प्रतिमापूजन आदि हैं।

वैष्णवों के यहाँ भी लगभग यही विधि होती है, परन्तु उनके यहाँ भगवती के स्थान पर भगवान् राम का पूजन किया जाता है।

अभ्यङ्गस्नान—इसका विज्ञान संवत्सरोत्सव में विस्तार से लिखा जा चुका है। स्वास्थ्यरक्षा के लिए इसकी यहाँ भी आवश्यकता है।

जवारे बोना—यव (जौ) के अंकुरों का नाम जवारा है। 'पयसो रूपं यद्यवाः' (यजुः संहिता १६-२२) इस श्रुति के अनुसार जौ पय का रूप है। पय दुग्ध को कहते हैं और जल को भी। इसकी व्युत्पत्ति निरुक्त में यह की गई है कि 'पयः पिबतेर्वा प्यायते वा' (२-२-१)

अर्थात् जो पीया जाय अथवा यों कहिए कि पीने से वृद्धि अथवा पुष्टि करे उसका नाम पय है। प्रत्यक्ष भी हम देखते हैं कि जल पीने से ओषधि वनस्पतियों की और दूध पीने से प्राणियों का वृद्धि होती है और यह भी स्पष्ट है कि दुधारू पशुओं को जौ खिलाने से उनका दूध बढ़ता है, अतः भोज्यान्नों में और खासकर हविष्यान्नों में यव को प्रधानता दी गई है। अतएव 'यवोसि धान्यराजोसि—अर्थात् तू यव है, तू धान्यों का राजा है' यह भी कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जौ वर्धनशील अनाज है। सो उसके अंकुर भी, जो नवीन अन्न के उत्पादक हैं, अवश्यमेव वर्धनशील और मांगलिक समझे जाने चाहिएँ। इस कारण महालक्ष्मीरूप शक्ति की, जिसका स्वरूप समृद्धि या वृद्धि है, पूजा में जवारे बोना उचित ही है।

घट-स्थापन—घट जल का आधार माना जाता है और जल वरुण देवता का प्रतीक है। घट पर वरुण का ही पूजन किया भी जाता है। वरुण देवता को वेदों में पाशबन्धन से छुड़ानेवाला बताया गया है, जैसा कि रक्षाबन्धन के प्रकरण में बताया जा चुका है।

अतः प्रत्येक मांगलिक कर्मों में रुकावट डालनेवाले बन्धनों की निवृत्ति के लिए वरुण का पूजन आवश्यक होता है और शक्ति-पूजा में तो घट-स्थापन अत्यन्त महत्त्व रखता है, क्योंकि जब तक बन्धनों की निवृत्ति न हो तब तक न तो मनुष्य लक्ष्मी, सरस्वती आदि शक्तियों की प्राप्ति कर सकता है और न संहार से ही बच सकता है, और सच्ची बात तो यह है कि पाशबद्ध होने से ही पुरुष पशु कहलाता है तथा परतन्त्रता में जकड़ा हुआ है। पाश की निवृत्ति होने पर ही मनुष्य स्वतन्त्र होकर शक्ति उपार्जन कर सकता है, अन्यथा नहीं। इस पाश से छुड़ाने के कारण शक्ति-पूजा में वरुण के प्रतीक घटस्थापन को प्रधानता दी गई है।

प्रतिमा-पूजन—प्रतिमा-पूजन की विशेषताएँ रामनवमी-जन्माष्टमी के उत्सवादि में जैसी बताई गई हैं वैसी ही यहाँ पर भी समझनी चाहिए।

अभ्यास

(१) शक्तिपूजा कब होती है ?

(२) शक्तिपूजा का कालविज्ञान विस्तार से समझाइए।

(३ शक्तिविज्ञान को आपने जैसा समझा है उसे पूजामें नवरात्र का क्यों महत्त्व है ?

(४) जवारे बोने और घटस्थापन की इस उत्सव में क्यों प्रधानता है ?

—०—

विजयादशमी

समय–आश्विन शुक्ल दशमी

काल-निर्णय

जिस दिन अपराह्ण में दशमी हो उस दिन करनी चाहिए। यदि दोनों दिन अपराह्ण में न हो तो पहले दिन ही करनी चाहिए, किन्तु श्रवण नक्षत्र मिलता हो तो जिस दिन श्रवण नक्षत्र हो उस दिन करनी चाहिए। विशेष निर्णय धर्मशास्त्रों में देखा जा सकता है।

विधि

इस दिन अपराजिता-पूजन, शमीपूजन, नगर की सीमा का उल्लंघन, शस्त्रास्त्र-पूजन और विदेश जानेवालों के प्रस्थान का विधान है, जिनका विवरण आगे दिया जाता है।

अपराजिता-पूजन—अपराजिता का पूजन नगर से बाहर ईशान कोण में पवित्र स्थान पर पृथ्वी को गोमय से लीपकर चन्दनादि से बनाए हुए अष्टकोण मण्डल पर किया जाता था। मध्य में अपराजिता, दक्षिण में जया और बाईं तरफ विजया का आवाहन करके षोडशोपचार से पूजन की विधि है, किन्तु आजकल यह रिवाज उठ सा गया है।

शमी-पूजन—इस कर्म में गाँव से बाहर ईशान कोण में स्थित शमी-वृक्ष के पूजन की विधि है। पूजा का मन्त्र निम्नलिखित है—

अमङ्गलानां शमनीं शमनीं दुष्कृतस्य च।
दुःस्वप्ननाशनीं धन्यां प्रपद्येऽहं शमीं शुभाम्॥

पूजा के अन्त में निम्नलिखित मन्त्रों से प्रार्थना करनी चाहिए—

शमी शमयते पापं शमी लोहितकण्टका ।
धरित्र्यर्जुनबाणानां रामस्य प्रियवादिनी॥
करिष्यमाणयात्रायां यथाकालं सुखं मया ।
तत्र निर्विघ्नकर्त्री त्वं भव श्रीरामपूजिते ॥

शस्त्रास्त्रपूजन—धर्मशास्त्रों में प्रतिपदा से आरम्भ करके नवमी-पर्यन्त नवरात्र में शस्त्रास्त्र राजचिह्न और हाथी, घोड़ा आदि की पूजा का भी विधान है। इसका नाम शास्त्रों में लोहाभिसारिक कर्म कहा गया है। परन्तु आजकल, जबसे भारतवर्ष की राजसत्ता नष्ट हुई, साधारण लोग और क्षत्रिय राजा भी विजयादशमी के दिन ही साधारण रूप से यह कार्य कर लेते हैं। विस्तारभय से हम इस विधि के सब विधान को यहाँ उद्धृत करने में तो असमर्थ हैं, किन्तु प्राचीन समय में यह उत्सव किस प्रकार होता था इसका थोड़ा दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

शस्त्रास्त्रादि-पूजन के लिए सोलह हाथ लम्बा और इतना ही चौड़ा एक मण्डप बनाकर उसे पताका आदि से सजाया जाता था। उस मण्डप में शस्त्रास्त्र और राजचिह्न सजाकर रक्खे जाते थे। मण्डप के अग्नि-कोण में हाथ भर का सुन्दर कुंड बनाकर उसमें शुक्लाम्बरधारी ब्राह्मण पवित्र होकर हवन करवाते थे। राजा भी प्रतिदिन स्नान करके राज-चिह्न का और हाथी-घोड़ों का पूजन करते थे और सजाये हुए घोड़े शहर में बाजे-गाजे के साथ निकाले जाते थे।

वैसे तो सभी राजचिह्न अस्त्र-शस्त्रादि पूजा में रहते थे, परन्तु निम्न-लिखित राजचिह्नों के नाम धर्मशास्त्रों में विशेष रूप से लिखे हैं—छत्र, चँवर, ध्वजा, पताका, खड्ग, छुरी, कटारी, धनुष, बाण, ढाल, तलवार, भाले, छड़ी, नौबत, शंख, राजसिंहासन आदि में से प्रत्येक।

इनकी पूजा-विधि और मन्त्र आदि निर्णय-सिन्धु और चतुर्वर्ग-चिन्तामणि (हेमाद्रि) आदि ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। आजकल तो विजयादशमी के दिन केवल अश्व-पूजन और शस्त्र-पूजन बाकी रह गया है।

सीमोल्लंघन—वास्तव में विजयादशमी राजाओं की विजय-यात्रा का दिवस था। चातुर्मास्य में क्षत्रिय लोग मार्गों के पंकिल (कीचड़ वाले) हो जाने और नदियों में जल-प्रवाह के कारण शत्रु-राजाओं पर चढ़ाई न कर सकते थे। चातुर्मास्य समाप्त होने पर विजयादशमी के दिन वे प्रथम प्रस्थान करते थे, किन्तु शनैः शनैः भारत के परतंत्र हो जाने पर उस दिन सीमोल्लघंन मात्र रह गया। लोग इस दिन नगर से बाहर अवश्य ही जाते हैं और विदेश में जानेवाले भारतीय आज भी इस दिन को विजयमुहूर्त मानते हैं।

विजयादशमी के विषय में भ्रम

विजयादशमी के विषय में अनेक लोगों का यह विचार है कि—यह उत्सव भगवान् रामचन्द्र के लंका-विजय के उपलक्ष में आरम्भ हुआ है, किन्तु शास्त्रों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्युत निर्णयसिन्धु[1] में चतुर्वर्गचिन्तामणि से कश्यप का एक वचन उद्धृत किया गया है, उससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामचन्द्र ने इस दिन लंका-विजय के लिए प्रस्थान किया था। इसलिए लंका-विजय का दिन मानना तो कल्पना मात्र ही है। हाँ लंकाविजय के लिए प्रस्थान का दिवस यह अवश्य है।

---

१. श्रवणर्क्षे तु पूर्णायां काकुत्स्थः प्रास्थितो यतः।
उल्लंघयेयुः सीमानं तद्दिनर्क्षे ततो नराः॥
(निर्णयसिन्धु, विजयादशमी-निर्णय)

वस्तुस्थिति

वास्तव में यह दिन मुसलमानों के अधिकार से पूर्व स्वतन्त्र भारत में राजाओं की दिग्विजययात्रा का विजय-मुहूर्त्त था। भगवान् राम के द्वारा लंका-विजय भारतवर्ष का एक सबसे बड़ा पराक्रम माना जाता है और उनकी यात्रा इसी दिन हुई थी, अतः सदा के लिए यह दिन भारतवासियों का विजय मुहूर्त्त बन गया। यही इस उत्सव की सबसे बड़ी विशेषता है।

काल-विज्ञान

नवरात्र के काल-विज्ञान में लिखा जा चुका है कि भारतवर्ष की निर्मल, स्वच्छ और सुखद ऋतुएँ शरद् और वसन्त ही हैं। उनमें से भी विजय-यात्रा के लिए वसन्त उतनी उपयुक्त नहीं, क्योंकि उसके अनन्तर ग्रीष्म ऋतु आ जाती है जो यात्रा के लिए, विशेषकर विजययात्रा के लिए, विशेष सुखद नहीं है। आजकल भी अफसरों के दौरे शीतकाल में ही होते हैं।

महाराज रघु की दिग्विजययात्रा का वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं—

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान्।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत्॥ (रघुवंश ४–२४)

अर्थात् नदियों को पार करने योग्य बनाती हुई और रास्तों के कीचड़ सुखाती हुई शरद् ऋतु ने शक्ति से पूर्व ही अर्थात् सेनाओं की तयारी से पहले ही रघु को दिग्विजययात्रा के लिए प्रेरणा दी। सेनाएँ तैयार होती रहेंगी, पर शरद ऋतु की प्राकृतिक सुविधा ने उसके स्वाभाविक उत्साह को बढ़ा दिया।

इससे यह सिद्ध है कि भारतवर्ष में दिग्विजययात्रा के लिए शरद्-ऋतु सदा ही अभ्यर्हणीय रही है।

ज्यौतिष के अनुसार यद्यपि यात्रा सूर्य जब धनु, मेष[1] और सिंहराशि का हो तब अर्थात् पौष, वैशाख और भाद्र मास में अच्छी मानी जाती है तथा कन्या अथवा तुलाराशि का सूर्य हो तब मध्यम मानी जाती है और विजयादशमी पर कन्या अथवा तुलाराशि का ही सूर्य रहता है, तथापि धन के सूर्य में गुर्वादित्य (खरमास) रहता है और वैशाख में गरमी बढ़ जाती है तथा भाद्रमास में वर्षाऋतु रहती है, जो विजय-यात्रा के लिए अनुपयुक्त है, अतः मध्यम होने पर भी आश्विनमास ही इसके लिए उत्तम समझा गया है।

शुक्लपक्ष की दशमी तिथि तो ज्यौतिष के अनुसार अत्यन्त ही प्रशस्त है। जैसा कि लिखा है—

घलक्षपदे—सर्वदुःखशमनी यशस्करी लाभदा च दशमी निरन्तरम्।

अर्थात् शुक्ल पक्ष की दशमी सब दुःखों को शान्त करनेवाली, यश करनेवाली और लाभदायिनी है।' (पीयूषधारा में वसिष्ठ का वचन)।

श्रवण नक्षत्र तो यात्रा के लिए प्रशस्त है ही। जैसा कि लिखा है—

'हयादित्यमित्रेन्दुजीवान्त्यहस्तश्रवोवासवैरेव यात्रा प्रशस्ता।

अर्थात् अश्विनी, पुनर्वसु, अनुराधा, मृगशिर, पुष्य, रेवती, हस्त, श्रवण और धनिष्ठा इन्हीं नक्षत्रों में यात्रा प्रशस्त है।'

इनमें से भी श्रवण दिन या रात्रि में सब समय प्रशस्त है। जैसा कि कहा है—

'हरिहस्तपुष्यशशिभिः स्यात्सर्वकाले शुभा।

---

१. धनुर्मेषसिंहेषु यात्रा प्रशस्ता शनिज्ञोशनोराशिगे चैव मध्या। रवौ

(मुहूर्त्तचिन्तामणि, यात्राप्र० श्लो० ८)

अर्थात् श्रवण, हस्त, पुष्य और मृगशिर इनमें यात्रा सब समय शुभ होती है।'

सो इस तरह विजययात्रा के लिए विजयादशमी सर्वोत्तम दिन है।

विधि-विज्ञान

अपराजिता-पूजन और शमी-पूजन—ऊपर यह बताया जा चुका है कि शक्ति ही जीवन में सबसे बड़ा साधन है। उसका मुख्य फल है विजय होना या यों कहिए कि पराजय न होना। सारांश यह है कि प्रत्येक प्राणी के जीवन का लक्ष्य प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करना है और वह सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जब मनुष्य अन्य व्यक्तियों या विघ्नों के द्वारा पराजित अथवा अभिभूत न हो। पराजित होना ही निष्फलता का प्रधान लक्षण है। जो पराजित नहीं होता वह कभी न कभी सफलता प्राप्त कर ही लेता है, किन्तु जो व्यक्ति पराजित अथवा परास्त होकर बैठ गया उसको जीवन में सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती, अतः शक्ति-पूजा के चरम फलरूप पराजय के अभाव की प्राप्ति के लिए विजयादशमी के दिन अपराजिता-पूजन रक्खा गया है। इस दिन की आराध्यदेवता का नाम विजया की अपेक्षा भी अपराजिता वास्तव में अधिक आकर्षक है, यद्यपि है दोनों का तात्पर्य एक ही।

इसी प्रकार शमी शब्द का अर्थ भी 'शाम्यन्त्यनयारिष्टानि' इस विग्रह के अनुसार (देखिए 'विश्वीशमी' इत्यादि मन्त्र के प्रसंग में निरुक्त की व्याख्या) 'अनिष्टों की शमन करनेवाली' होता है और यह बात सर्व-सम्मत है कि अरिष्ट-निवृत्ति के बिना सफलता या विजय संभव नहीं। अतः विजयादशमी के दिन शमी का पूजन भी उचित ही है।

शमी के पूजन करने का दूसरा कारण यह भी है कि शमी को अग्नि-गर्भा माना गया है। जैसा कि कालिदास ने 'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपाव-काम्'—(रघुवंश ३, ९) में सूचित किया है और मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत 'शमीगर्भादग्निं जनयति' इस शतपथश्रुति के अनुसार सिद्ध है;

और क्योंकि अग्नि ही विनाशक तत्त्वों में प्रधान है, अतः अनिष्ट, अमंगल तथा दुष्कृतों के विनाश के लिए अग्निगर्भा शमी का पूजन अपराजयाकांक्षी को अपेक्षित ही है।

शस्त्रास्त्रादि-पूजन—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में सभी वस्तुओं के आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीन रूप माने जाते हैं। तदनुसार अपराजय की अधिदेवतारूप अपराजिता और शमी के पूजन का विज्ञान ऊपर बताया गया है। यही उसका आध्यात्मिक रूप भी है; क्योंकि—

'योऽध्यात्मिकोऽसौ पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः (श्रीमद्भागवत)

अर्थात् जो आध्यात्मिक पुरुष है वही आधिदैविक भी है।'

इसके अनुसार आध्यात्मिक और आधिदैविक में भेद नहीं माना जाता।

उसी अपराजय के भौतिक साधन हैं शस्त्रास्त्र, वाहन आदि, और आध्यात्मिक तथा आधिदैविक का अधिष्ठान आधिभौतिक वस्तुएँ ही होती हैं, अतः शस्त्रास्त्र और वाहनों का पूजन भी इस दिन किया जाता है। किन्तु साधनों का वास्तविक पूजन है उनका उचित उपयोग। अतः आज स्वतन्त्र भारत में विजयादशमी के दिन इन शस्त्रास्त्रों के प्रयोगों का भी प्रदर्शन होना चाहिए।

सीमोल्लंघन—क्षत्रियों और ब्राह्मणों के विषय में महाभारत का कथन है कि—

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
क्षत्रियं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

अर्थात् जैसे बिल में रहनेवालों (चूहों आदि) को निश्चेष्ट रहने पर साँप खा जाता है वैसे ही विरोध न करनेवाले अर्थात् युद्ध से डरने-

वाले क्षत्रिय को और प्रवास (विदेश-यात्रा) न करनेवाले अर्थात् प्रचार-हीन ब्राह्मण को भूमि ग्रस जाती है। तात्पर्य यह कि वे जीते हुए भी मरे हैं।

तदनुसार क्षत्रियों को युद्धाभ्यासी होना चाहिए। इसलिए प्राचीन भारत में प्रत्येक क्षत्रिय विजयादशमी को पौरुषदर्शनार्थ अपनी राज्य-सीमा का उल्लंघन अवश्य करता था, जिससे युद्ध का लोप न हो जाय।

यह एक प्रकार की विजययात्रा थी, जो वर्णाश्रम प्रथा की समाप्ति के साथ प्रायः समाप्त-सी है।

अभ्यास

(१) विजयादशमी कब होती है ?

(२) विजयादशमी में क्या-क्या विधियाँ होती हैं ?

(३) क्या विजयादशमी लंकाविजय का दिवस है ? होने न होने के प्रमाण दीजिए।

(४) कालविज्ञान और विधिविज्ञान का निरूपण करिए।

-ooooo-

शरत्पूर्णिमा

समय

आश्विनशुक्ला पूर्णिमा

कालनिर्णय

यह उत्सव रात्रि में किया जाता है अतः जिस दिन पूर्ण चन्द्र हो— अर्थात् संपूर्ण रात्रि में पूर्णिमा हो, वह दिन लेना चाहिए। यदि संपूर्ण पूर्णिमा न मिले तो अधिकांश पूर्णिमा जिस दिन हो वह दिन लेना चाहिए। पूर्णिमा दोनों दिन बराबर हो अथवा पहले दिन कम हो तो दूसरे दिन यह उत्सव करना चाहिए।

धर्मशास्त्रों में इस दिन 'कोजागर' व्रत भी लिखा है। इसे 'कौमुदी व्रत' भी कहते हैं। जिन्हें यह व्रत करना हो उन्हें अर्धरात्रव्यापिनी पूर्णिमा लेनी चाहिए। दोनों दिन अर्धरात्र में हो अथवा न हो तो पूर्वोक्त प्रकार से दूसरे दिन करनी चाहिए।

विधि

यह दिवस भगवान् कृष्ण के रासोत्सव का दिन है, अतः विशेषतः कृष्णमन्दिरों में तथा विष्णुमन्दिरों में और साधारणतया सभी देव-मन्दिरों में मनाया जाता है। इस दिन विशेष सेवा-पूजा के अतिरिक्त भगवान् के सायंकाल के भोग में खीर अथवा दूध अवश्य रहना चाहिए। पूर्णचन्द्र की चाँदनी में भगवान् को विराजमान करके दर्शन

की भी विधि है। भगवान् का शृङ्गार भी श्वेत वस्त्रों और मोतियों से किया जाता है।

'कोजागर' व्रत करनेवालों को इस दिन लक्ष्मी तथा इन्द्र की पूजा करनी चाहिए और रात्रि में जागरण करना चाहिए!

कालविज्ञान

'रासोत्सव' का यह दिन वास्तव में भगवान् कृष्ण ने जगत् के कल्याणार्थ निश्चित किया है। चन्द्रमा की जैसी चाँदनी शरद् ऋतु में आनन्ददायक होती है वैसी अन्य किसी ऋतु में नहीं। कहते हैं, इस दिन चन्द्रमा की किरणों में से अमृत झरता है। जिन्होंने इस ऋतु के पूर्ण चन्द्र की चन्द्रिका के आनन्द का अनुभव किया है उनसे तो कुछ कहना नहीं है, पर जिन्होंने अनुभव न किया हो वे अवश्य इस दिन चाँदनी में बैठकर भगवत्प्रसाद के रूप में खीर का सेवन करके उसका आनन्द लें। इससे अधिक शरत्पूर्णिमा के कालविज्ञान के विषय में कुछ कहना व्यर्थ विस्तार है। 'हाथकंगन को आरसी क्या'!

विधि-विज्ञान

शरद् ऋतु में पित्त का प्रकोप होता है। चरकसंहिता में लिखा है—

'वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः।
तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति॥ (चरक, सूत्रस्थान)

वर्षाऋतु में हमारे अङ्ग वर्षा और शीत के अभ्यस्त हो जाते हैं, वे जब सहसा ही (शरत्काल के तीव्र) सूर्य की किरणों से संतप्त होते हैं तो संचित पित्त प्रायः शरद् ऋतु में प्रकुपित हो जाता है।'

अतः उसकी शान्ति के लिए चन्द्रमा की चाँदनी का सेवन आवश्यक है, क्योंकि चाँदनी पित्त का निवारण करती है। भावप्रकाश का वचन है कि—

ज्योत्स्ना शीता स्मरानन्दप्रदा तृट्पित्तदाहनुत् । (भावप्रकाश)

अर्थात् चाँदनी शीतल होती है, कामानन्द देनेवाली और प्यास, पित्त तथा दाह को निवृत्त करनेवाली है।

सभी चाँदनी में ये गुण हैं, फिर शरद् के पूर्णचन्द्र की चाँदनी का तो कहना ही क्या। अतः ऐसे समय श्वेत वस्त्र और गोदुग्ध तथा गोदुग्ध की खीर का उपयोग होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त शरद् ऋतु की चर्या में चरकसंहिता कहती है—

शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मयः ॥ (चरक, सूत्रस्थान)

अर्थात् शरद् ऋतु के समय शरद् ऋतु में उत्पन्न होनेवाले पुष्पों की मालाएँ, निर्मल वस्त्र और सायंकाल के समय की चन्द्रकिरणें प्रशस्त हैं।

दूध के गुण भावप्रकाश में ये बताये गये हैं—दूध[1] अच्छा मीठा, चिकना, वातपित्तनाशक, दस्तावर, तत्काल वीर्य उत्पन्न करनेवाला, ठंडा, प्रत्येक प्राणी के अनुकूल, जीवन देनेवाला, शरीर बढ़ानेवाला, बल देने-

---

१. दुग्धं सुमधुरं स्निग्धं वातपित्तहरं सरम्।
सद्यः शुक्रकरं शीतं सात्म्यं सर्वशरीरिणाम् ॥
जीवनं बृंहणं बल्यं मेध्यं वाजीकरं परम्।
वयःस्थापनमायुष्यं सन्धिकारि रसायनम् ॥
विरेकवान्तिबस्तीनां सेव्यमोजोविवर्धनम्।
जीर्णज्वरे मनोरोगे शोषमूर्च्छाभ्रमेषु च ॥
ग्रहण्यां पाण्डुरोगे च दाहे तृषि हृदामये।
शूलोदावर्त्तगुल्मेषु बस्तिरोगे गुदाङ्कुरे ॥
रक्तपित्तेऽतिसारे च योनिरोगे श्रमे क्लमे।
गर्भस्रावे च सततं हितं मुनिवरैः स्मृतम् ॥ (भावप्रकाश, दुग्धवर्ग)

वाला, बुद्धि देनेवाला, अत्यन्त वाजीकरण, अवस्था को स्थिर रखनेवाला, आयु बढ़ानेवाला, टूटे अंग को जोड़नेवाला, रसायन, विरेचन, वमन और बस्ति में सेवन करने योग्य और इन्द्रियों का बल बढ़ानेवाला है। जीर्णज्वर, मानसिक रोग, क्षय, मूर्च्छा, भ्रम, संग्रहणी, पाण्डुरोग, दाह, प्यास, हृदय के रोगों, शूल, उदावर्त्त, गुल्म, बस्तिरोग, गुदाङ्कुर, रक्तपित्त, अतिसार, योनिरोग, थकावट और घबराहट में तथा गर्भपात के समय मुनिवरों ने दूध को निरन्तर हितकारी बताया है।

यही गुण खीर में भी हैं। इतना ही भेद है कि वह दूध की अपेक्षा भारी होती है। शरद्‌ऋतु के चन्द्रमा की अमृतमय किरणों से पवित्रित खीर और दूध का सेवन शरद् ऋतु के पित्त का नाश तो करता ही है, और भी कितने गुण करता है सो स्पष्ट ही है। अतः यह पवित्र उत्सव बड़े आनन्द से अवश्य ही मनाना चाहिए।

रासोत्सव

(आजकल रासलीला शब्द भगवान् कृष्ण की प्रत्येक लीला के लिए प्रचलित हो गया है। व्रज की रासमण्डलियाँ रासलीला के लिए प्रसिद्ध हैं, पर वास्तव में 'रास' शब्द का अर्थ एक प्रकार का नृत्य'[1] है। भगवान् कृष्ण ने इस दिन यह नृत्य किया था इसीलिए यह उत्सव प्रसिद्ध हो गया है।)

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में इस उत्सव का पाँच अध्यायों में विस्तृत वर्णन है। भगवद्भक्तों के आनन्दार्थ उसका संक्षिप्त सार यहाँ दिया जाता है—

---

१. 'बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषो रासः' श्रीवल्लभाचार्य (भागवत १०-३०-२ की सुबोधिनी टीका)।

' जिस समय भगवान् कृष्ण व्रज में निवास करते थे उस समय एक बार शरद् ऋतु आई। पूर्ण चन्द्रमा का उदय देखकर भगवान् ने उस शरद् ऋतु की चाँदनी में क्रीड़ा की इच्छा की। भगवान् ने मधुर वेणुनाद किया। उसे सुनते ही व्रज की गोपियाँ सुध-बुध भूल गईं। वे घर के सब काम-काज छोड़कर वृन्दावन में (जो उस समय वास्तव में वन ही था, आज का नगर नहीं) कृष्ण के समीप आ गईं।

भगवान् कृष्ण ने उनका स्वागत करते हुए उनकी प्रणय-परीक्षा के लिए उनसे कहा—आप रात्रि के समय यहाँ क्यों आई हैं ? व्रज को लौट जाइए। आपने पूर्ण चन्द्रमा की किरणों से रञ्जित और यमुनाजी के शीतल वायु से कम्पित तरुपल्लवों से सुशोभित पुष्पित वन देख लिया। आपके बालक और बछड़े पुकार रहे हैं। शीघ्र जाकर बच्चों को पिलाइए और गायों को दुहिए। स्त्रियों का परम धर्म है कि पति की और पति के बन्धुओं की सेवा करे तथा बालकों का पोषण करे। मुझसे आप यदि प्रेम करती हैं तो मुझसे (ईश्वर से) प्रेम तो जैसा श्रवण, दर्शन और ध्यान से होता है वैसा समीप आने पर नहीं।

गोपियों को भगवान् के ये वचन सुनकर विषाद हुआ। वे कहने लगीं—प्रभो, आप ऐसा न कहिए। हम सब सांसारिक विषयों को छोड़कर आप के चरण-शरण में आई हैं। आप हमें न छोड़िए, जैसे कि आदि पुरुष (परब्रह्म) मोक्ष की इच्छावालों का सेवन करते हैं (वही न्याय हमारे साथ होना चाहिए)।

आप ने जो 'पति, संतान और सुहृदों की सेवा स्त्रियों का स्वधर्म' बताया, यह ठीक है। इसे, हे उपदेशक ! आप अपने पास ही रहने दें। हम तो यह समझ कर आप के पास आई हैं कि आप प्राणिमात्र के अत्यन्त प्रिय हैं, बन्धु हैं और (बन्धु ही क्यों) आत्मा हैं।

हे कमलनयन, बड़े-बड़े कुशल पुरुष आप से प्रेम करते हैं, क्योंकि इस संसार में नित्य प्रिय आप ही हैं, पति-पुत्र आदि तो पीड़ा देनेवाले हैं, उनसे क्या फल ? अतः आप कृपा करिए और बहुत समय से जो आशा लगी है उसे काटिए मत।

घर में लगनेवाला मन और घर के काम में लगनेवाले हाथ आप ने हरण कर लिए। पैर आप के पादमूल से एक पग भी नहीं हटना चाहते। हम ब्रज में कैसे जायँ और वहाँ जाकर क्या करें।

लक्ष्मी को आनन्द देनेवाले आप के चरणारविन्द का जब से हमने स्पर्श किया है तब से हम अन्य किसी के समक्ष खड़ी होने में असमर्थ हैं।

लक्ष्मी जी ने यद्यपि आप के हृदय में स्थान पाया है तथापि वे भक्तों से सेवित आप की चरणरज की कामना करती हैं। उसी प्रकार हम भी आपकी चरणरज की शरण में आई हैं।

अतः हे पापनाशक, हम घरबार छोड़कर आप की सेवा की आशा से आपके चरणों में प्राप्त हुई हैं। हे पुरुषभूषण, आप हमें अपना दास्य दीजिए।

अलकावलि से आच्छादित, कुण्डलों से सुशोभित, मन्दहासपूर्वक अवलोकन करते आप के मुख और अभयदान करनेवाले आपके भुजदण्डों तथा लक्ष्मी जी के एकमात्र रमण करने योग्य आपके वक्षःस्थल को देखकर हम आपकी दासियाँ हो रही हैं।

हे आर्त्तबन्धु, आप ब्रज के भय और पीड़ा के हरण करनेवाले प्रकट हुए हैं अतः हमारे शिर पर अपना करकमल रखिए—हमें शरण में लीजिए।

व्याकुल होकर गोपीजनों ने जब यह पुकार की तो प्रभु ने आत्मा-

राम होते हुए भी गोपीजनों के साथ गाते हुए वन में भ्रमण किया और यमुना जी के शीतल तट पर विहार किया।

गोपीजनों ने जब इस प्रकार भगवान् कृष्ण से अपना मनोरथ सिद्ध होते देखा तो अपने आप को स्त्रियों में सबसे अधिक समझने लगीं। जब भगवान् ने देखा कि इनको अपने सौभाग्य का मद और मान हो गया तब (भगवान् तो मद-मान से दूर रहनेवाले हैं) सहसा अन्तर्धान हो गए।

भगवान् के अन्तर्धान होने पर गोपीजनों को बड़ा संताप हुआ और उन्होंने विरह में मग्न होकर भगवल्लीलाओं का आश्रय लिया तथा उन्मत्त की तरह वृन्दावन के वृक्ष-लताओं से भी भगवान् के विषय में पूछने लगीं।

जब वे लता-तरुओं से पूछती हुई आगे बढ़ीं तो उन्होंने परमात्मा श्रीकृष्ण के पदचिह्न देखे।

वे कहने लगीं—स्पष्ट है कि ये महात्मा नन्दकुमार के चरणचिह्न हैं। इनमें ध्वज, कमल, चक्र, अङ्कुश, यव आदि (रेखारूप में) दिखाई दे रहे हैं।

उन चरणचिह्नों को खोजती जब वे आगे पहुँचीं तो उनको एक स्त्री के चरणचिह्न भी उन चरणचिह्नों के साथ-साथ चलते दिखाई दिये। यह देखकर उन्हें दुःख हुआ।

वे कहने लगीं—नन्दनन्दन के साथ जानेवाली किस स्त्री के ये चरणचिह्न हैं! प्रतीत होता है—इसने उनके कंधे पर कलाई धर रखी है। अवश्य ही इसने सर्वसमर्थ भगवान् हरि का आराधन किया है, क्योंकि गोविन्द हमको छोड़कर उसे अपने साथ ले गये हैं। सखियो, यह गोविन्द के चरणकमल की रज धन्य है, जिसे ब्रह्माजी, शिवजी और रमादेवी पापों की निवृत्ति के लिए अपने सिर पर धारण करती हैं।

देखिए, यहाँ प्रेमी कृष्ण ने अपनी प्रिया के लिए पेड़ से पुष्प चुने हैं। इसीलिए तो केवल पंजा ही उघड़ा है। अरे! यहाँ तो निश्चय ही कृष्ण चोटी में फूल गुहने के लिए बैठे हैं। इस तरह चरणरज और चरणचिह्नों को देखती हुई वे आगे ज़ाकर चेतनारहित हो गईं।

इधर जो गोपी कृष्ण के साथ गई थी उसे भी अभिमान हुआ। वह समझने लगी कि चाहती हुई अन्य गोपियों को छोड़कर कृष्ण मुझे ही लाए। अतः कृष्ण मुझ पर आसक्त हैं। आगे जाकर वह कहने लगी—मैं चल नहीं सकती। मुझे आप ले चलिए।

कृष्ण ने कहा—अच्छा, आप मेरे कंधे पर चढ़ जाइए। ज्योंही वह चढ़ने लगी, कृष्ण अन्तर्धान हो गए। यह देखकर उसे पश्चात्ताप हुआ। वह पुकारने लगी—हाय नाथ, हाय रमण, परमप्रिय, हे महाभुज, आप कहाँ हैं ? मैं आपकी दीन दासी हूँ। मुझे दर्शन दीजिए।

इस समय खोजती हुई चेतनारहित वे गोपियाँ उसके समीप पहुँचीं। उन्होंने अपनी सखी को प्रियवियोग के कारण मूर्च्छित और दुःखित अवस्था में देखा।

उसने भगवान् से सम्मान पाने और अपनी दुष्टता के कारण अपमानित होने की कथा कही। गोपियाँ (जो उसके ले जाने से कृष्ण को कामी समझने लगी थीं) बड़ी आश्चर्यान्वित हुईं।

(इससे यह सार निकलता है कि भगवान् खोजने से नहीं मिलते, और न वे किसी के अधीन होते हैं, वे तो कृपा करके ही प्राप्त होते हैं)।

जहाँ तक चाँदनी थी वहाँ तक गोपियाँ खोजती रहीं। जब उन्होंने देखा कि आगे अँधेरा आ रहा है तब लौट पड़ीं। उस समय गोपियों की दशा यह थी—उनका मन, उनकी बातचीत और उनकी चेष्टाएँ कृष्ण के विषय में थीं, कृष्ण का गुणगान करती हुई उन्हें न देह की सुधि थी, न घर की।

वे लौटकर यमुनाजी के पुलिन पर आईं और वहाँ कृष्ण के आगमन की इच्छा करती हुई सामूहिक गान करने लगीं।

(यह गान गोपीगीत के नाम से प्रसिद्ध है। विस्तार के भय से उसे हम उद्धृत करने में असमर्थ हैं।)

जब गाने और प्रलाप करने पर भी प्रभु प्रकट नहीं हुए तो कृष्ण के दर्शन की इच्छा से वे करुण स्वर में रोने लगीं।

(विरह की पराकाष्ठा देखकर) भगवान् कृष्ण पीताम्बर और माला धारण किए हुए ऐसे सुन्दर रूप में प्रकट हुए कि कामदेव स्वयम् भी उन पर मोहित हो जाय।

ज्योंही प्रियतम आते दिखाई दिए कि गोपियाँ इस तरह उठ खड़ी हुईं जैसे मुर्दों में प्राण आ गए।

किसी ने अपने हाथों में कृष्ण का करकमल पकड़ लिया, किसी ने उनके कन्धे पर अपनी बाँह रख दी, किसी ने उनका ताम्बूलचर्वण अपने हाथों में लिया, किसी ने चरण-कमल छाती पर रख लिए, कोई कटाक्षों से देखने लगी, कोई टकटकी लगाकर देखने लगी और किसी किसी ने योगियों की तरह उनके स्वरूप को हृदय में धारण करके आँखें मूँद लीं।

कृष्ण का दर्शन करते ही सभी गोपियाँ आनन्दमग्न और विरह के ताप से रहित हो गईं, जैसे कि अत्यन्त दुखी भी मनुष्य सुषुप्ति के समय सब भूल जाता है।

प्रभु कृष्ण ने उन्हें साथ लिया और यमुना के पुलिन पर पहुँचे। उस पवित्र पुलिन पर खिले हुए कुन्द और मन्दार की सुगन्धित वायु बह रही थी, भौंरे मँडरा रहे थे, शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों से रात्रि का अन्धकार निवृत्त हो गया था और यमुना ने अपने तरङ्गरूपी हाथों से वहाँ कोमल बालुका बिछा रखी थी।

भगवान् के दर्शन से गोपियों के हृदय की पीड़ा निवृत्त हो गई। जिस तरह वाणी और मन से परे भगवत्स्वरूप को वेद प्राप्त करते हैं वैसे वे अपने मनोरथों के अन्त को प्राप्त हो गईं। उन्होंने अपने दुपट्टे बिछाकर अपने बन्धु कृष्ण के लिए आसन बनाए। योगेश्वरों के हृदय में आसन बनानेवाले कृष्ण उन आसनों पर बैठे। उस समय त्रिलोकी की सुन्दरता उनके स्वरूप में समाविष्ट थी। गोपियों की सभा में स्थित वे बहुत सुशोभित हो रहे थे।

गोपियों ने उनसे पूछा—कुछ लोग सेवा करनेवालों की सेवा करते हैं, कुछ लोग सेवा न करनेवालों की सेवा करते हैं और कुछ लोग सेवा करनेवाले और न करनेवाले दोनों की सेवा नहीं करते—इसका रहस्य समझाइए।

भगवान् ने कहा—हे सखियो, जो सेवा करनेवालों की सेवा करते हैं, वे केवल स्वार्थी हैं, उनमें न सौहार्द है न धर्म। ऐसी सेवा स्वार्थ के लिए है, परोपकार के लिए नहीं।

जो सेवा न करनेवालों की सेवा करते हैं वे दयालु हैं, जैसे माता-पिता। लड़के-लड़की उनकी सेवा करें या न करें, उन्हें तो सेवा करनी ही है। इस सेवा में बदले की भावना न रखनेवाला धर्म और सौहार्द दोनों हैं। (इससे यह सिद्ध है कि जहाँ बदले की भावना न हो वहाँ देना ही धर्म है, बदले की भावना से देना धर्म नहीं है)।

अब उनकी बात सुनिए जो सेवा करनेवाले और न करनेवाले दोनों ही की सेवा नहीं करते। वे चार प्रकार के हैं (जिनमें दो अच्छे हैं, दो बुरे। अच्छों में सबसे पहले हैं—) आत्माराम (जिनको देह का अभिमान नहीं, कोई करे या न करे, वे इसका विचार ही नहीं करते, क्योंकि उन्हें देह की ही अपेक्षा नहीं है।), (दूसरे हैं)—आप्तकाम (जिनके सब मनोरथ सिद्ध हैं; जैसे जिसका पेट भरा है उससे कोई

'खाओ' कहे तब भी अच्छा और 'न खाओ' कहे तब भी अच्छा, क्योंकि उसे खाना तो है नहीं।) (दो बुरों में एक है—) अकृतज्ञ (जो किये हुए उपकार को नहीं मानते, इसके न मानने का कारण अज्ञान है,) (और दूसरा है—) गुरुद्रोही (जो आपत्ति अथवा असमर्थता में अपनी सहायता करे वह यहाँ गुरु अर्थात् पूज्य माना गया है, ऐसे मनुष्य पर यदि आपत्ति आए और उसकी सहायता न करे तो वह गुरुद्रोही है और जो उसका अपकार करे वह तो पक्का गुरुद्रोही है ही)।

(यदि यह प्रश्न मेरे सम्बन्ध में किया गया है तो सुनिए) सखियो, (मैं इन चारों से अलग हूँ, मैं सब प्राणियों का आत्मा हूँ, मेरे अतिरिक्त और कोई है ही नहीं, अतः मुझे आत्माराम नहीं कहा जा सकता; राम अवश्य कहा जा सकता है; मुझे कोई कामना ही नहीं, अतः आप्तकाम भी नहीं कहा जा सकता और जगत् में मेरे लिए दूसरा न होने से न अकृतज्ञ हूँ, न गुरुद्रोही) मैं तो सेवा करनेवालों की भी सेवा नहीं करता, (वह इसलिए नहीं कि मुझे सेवा करनेवालों की परवाह नहीं है, पर) इससे उनकी सेवा चालू रहती है; जैसे किसी निर्धन को धन मिल जाय और वह उसके पास से खो जाय तो वह उसकी चिन्ता से धन में निमग्नचित्त होकर और कुछ नहीं जानता—उसके पीछे उन्मत्त हो जाता है।

प्रियाओ, आप ने मेरे लिए लोक, वेद और स्वात्मा तथा स्वजन सबको छोड़ दिया है। आपकी मेरे विषय में अनुवृत्ति रहे इसीके लिए मैं अन्तर्धान हो गया था, क्योंकि मैं अपने सेवन करनेवालों का सेवन परोक्ष में करता हूँ, इसलिए आप को मेरे गुणों में दोषबुद्धि न करनी चाहिए।

आप का भजन निर्दोष है। आप लोगों ने जो उपकार किया है उसका प्रत्युपकार मैं देवताओं की आयु से भी नहीं कर सकता; क्योंकि

आप ने बड़ी कठिनता से जीर्ण होनेवाली घरबार की शृङ्खलाओं को तोड़कर मेरा भजन किया है। अब आप की असूया (मैंने जो अच्छा किया उसको भी बुरा समझने की वृत्ति) निवृत्त हो जानी चाहिए।

भगवान् के इन वचनों को सुनकर गोपियों का विरहताप शान्त हो गया और भगवान् के दर्शन से उनके सब मनोरथ पूर्ण हो गए।

(इस तरह जब उनके लौकिक दुःख-सुख सब परिपूर्ण हो गए तब परमफलरूप रासलीला आरम्भ हुई; क्योंकि जब तक पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख भोगना रहता है तब तक जीव परमफलरूप भगवल्लीला का अधिकारी नहीं होता)।

प्रसन्न होकर स्त्रीरत्नों (गोपीजनों) ने परस्पर हाथ बाँधे और गोविन्द (भगवान् कृष्ण) ने रासक्रीड़ा आरम्भ की। गोपियों के मण्डल से सुशोभित रासोत्सव चालू हुआ। योगेश्वर श्रीकृष्ण दो-दो गोपियों के मध्य एक-एक प्रविष्ट हो गए थे, जिससे कि सब गोपियाँ उन्हें अपने समीप समझें।

इस लीला को देखने के उत्सुक स्त्रियों सहित देवताओं के सैकड़ों विमान आकाश में मँडरा रहे थे। उसकी ओर से दुन्दुभिनाद और पुष्पवृष्टि होने लगी। अप्सराओं सहित गन्धर्वपति भगवान् के निर्मल यश का गान करने लगे।

रासमण्डल में भी स्त्रियों की चूड़ियों, पायजेबों और करधनियों का तुमुल शब्द होने लगा। उन सुन्दरियों के बीच भगवान् कृष्ण ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे सुवर्णमणियों में पन्ने जड़े हों।

फिर महारास नृत्य आरम्भ हुआ (जिसका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत में और उसकी टीकाओं में देखा जा सकता है)।

जब अत्यन्त विहार से गोपियाँ थक गईं तब भगवान् कृष्ण ने प्रेमपूर्वक अपने कल्याणकारी हाथों से उनके मुँह पोंछे। फिर उनके साथ

यमुना-जल में प्रवेश करके जलक्रीड़ा की। अनन्तर यमुना के तट के बगीचों में भ्रमण किया।

इस तरह सत्यकाम भगवान् ने सुरत को अपने अन्दर अवरुद्ध करके चन्द्रकिरणों से सुशोभित शरद् की रात्रियों और रसमयी शरद्-ऋतु के काव्यों की कथाओं का सेवन किया।

इस कथा को सुनकर राजा परीक्षित ने प्रश्न किया कि—भगवान् तो जगत् के स्वामी हैं। वे धर्म-स्थापन करने और अधर्म शान्त करने के लिए अवतीर्ण हुए थे। धर्म-मर्यादाओं के बनानेवाले, उपदेश करने वाले और रक्षा करनेवाले उन्होंने परस्त्रियों का स्पर्शरूपी प्रतिकूल कार्य क्यों किया? भगवान् आप्तकाम हैं—साधारण जन की तरह उनकी कामनाएँ दूसरों से पूरी नहीं की जातीं, फिर उन्होंने यह लोकनिन्दित कार्य किस अभिप्राय से किया? कृपया यह मेरा संदेह निवृत्त करिए।

शुकदेवजी ने इस शङ्का का यह उत्तर दिया कि—ईश्वरों (समर्थों) में धर्म का उल्लङ्घन और साहस देखा गया है। (वे जिस[1] काम के लिए आए हैं वही करें तो उनकी शक्ति का पता ही कैसे लगे; दीपक प्रकाश के लिए जलाया जाता है और प्रकाश करता भी है, पर स्पर्श करने पर जला भी देता है, प्रकाश करने के समय अपने स्वाभाविक सामर्थ्य को खो थोड़े ही देता है) (यदि कहा जाय कि उन्हें ऐसे कर्मों का फल तो मिलेगा ही। सो भी नहीं, क्योंकि) तेजस्वियों को दोष नहीं लगता, जैसे सब कुछ खा जानेवाली आग को। किन्तु असमर्थ को यह काम (परस्त्रीस्पर्श) कभी मन से भी नहीं करना चाहिए, और यदि मूर्खता, वश ऐसा कर बैठता है तो नष्ट हो जाता है जैसे (शिवजी को विष पान करते हुए सुनकर) जो शिव नहीं है वह भी विष पान करे।

समर्थों के वचन सत्य हैं (उनका पालन करना चाहिए) और

---

१ श्रीवल्लभाचार्य की टीका सुबोधिनी का सारांश।

कभी उनका आचरण भी सत्य है (सारांश[1] यह कि इश्वरों में ईश्वरत्व के अतिरिक्त धर्मात्मता, दया इत्यादि धर्म भी रहते हैं, वे करने योग्य हैं, पर ईश्वरत्व नहीं) इसलिए बुद्धिमान को चाहिये कि जो उनके उचित वचन हैं उनका आचरण करे (न कि उनकी नकल)।

(यदि[2] कहा जाय कि समर्थ लोग जो दूसरों से नहीं कहते उसे स्वयं क्यों करते हैं? तो कहते हैं कि समर्थों को अच्छे आचरण से कोई प्रयोजन नहीं है और बुरे आचरण से कोई अनर्थ नहीं है, जब अहंकार-रहितों (ज्ञान-वैराग्यवानों) को भी अच्छा-बुरा फल नहीं होता तब फिर जो पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता आदि सब प्राणियों के स्वामी हैं उनके अपने अधीन जीवों के साथ सम्बन्ध में अच्छे-बुरे फल का सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है) (कहने का अभिप्राय यह है कि गोपीजन भगवान् की अन्तरङ्ग शक्तियाँ हैं, अतः उनके साथ की गई इस सरस लीला में पुण्य पाप का प्रश्न ही व्यर्थ है)।

जिनके चरणकमलों की रज की सेवा से तृप्त मुनिजन भी योग के प्रभाव से सम्पूर्ण कर्मबंधनों को निवृत्त करके बन्धनरहित होकर स्वच्छन्द विहार करते हैं उन स्वेच्छा से शरीर ग्रहण करनेवाले प्रभु को बंधन कहाँ से हो सकता है?

(स्मरण रखना चाहिए कि) जो भगवान् गोपियों के, उनके पतियों के और सभी प्राणियों के अन्तर्यामी होकर विहार करते हैं (जो सबके आत्मा हैं, जिनके लिए पराया कोई है ही नहीं) वही प्रत्यक्ष होकर यहाँ लीलार्थ देह धारण किये हुए हैं (अतः परस्त्री का प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता)।

भगवान् भक्तों के अनुग्रहार्थ मनुष्यदेह धारण करके वे लीलाएँ करते हैं जिनको सुनकर मनुष्य तत्पर हो जाय (अभिप्राय यह कि

१-२ श्रीवल्लभाचार्य की टीका सुबोधिनी का सारांश।

भगवान् की सब लीलाएँ भक्तों के अनुग्रहार्थ हैं। उन्हें सुनकर भगवान् में तत्पर होना चाहिए। वे अपने लिए कुछ करते ही नहीं, अतः ऐसे प्रश्न व्यर्थ हैं)।

(इस लीला के समय) भगवान् की माया से मोहित व्रजवासियों को अपनी स्त्रियाँ अपने बगल में ही प्रतीत हुईं, अतः उन्होंने कभी कृष्ण से असूया नहीं की।

अरुणोदय होने पर भगवान् की अनुमति से भगवत्प्रिय गोपियाँ घर की इच्छा न रखते हुए (अर्थात् अब उन्हें लौकिक कामनाएँ न रह गई थीं) अपने-अपने घर चली गईं।

भगवान् विष्णु की व्रजवनिताओं के साथ इस लीला को जो श्रद्धायुक्त होकर सुनता अथवा वर्णन करता है उसे भगवान् में पराभक्ति (प्रेमलक्षणा) प्राप्त होती है और उसके हृदय के रोगरूप काम की शीघ्र ही निवृत्ति हो जाती है। (सारांश यह कि इस लीला को आलोचनात्मक दृष्टि से नहीं, किन्तु श्रद्धापूर्वक सुनने अथवा वर्णन करने से हृदय में यह बात उत्पन्न होती है कि प्रेम तो भगवान् से करना चाहिए, नश्वर प्राणियों से नहीं, प्राणियों से किया जानेवाला प्रेम कामरूप है, जो कि हृदय का एक रोग है)।

अभ्यास

(१) शरत्पूर्णिमा किस दिन होती है ?

(२) शरत्पूर्णिमा की विशेष विधि क्या है ?

(३) शरद् ऋतु में किन वस्तुओं का सेवन करना चाहिए ? दूध तथा खीर के गुणधर्म बताइए।

(४) रासोत्सव की कथा कहिए।

(५) ईश्वर के लिए परस्त्रियों के साथ क्रीडा करने के व्यवहार का औचित्य सिद्ध करिए।

दीपावली

समय—कार्तिक (दाक्षिणात्यों के हिसाब से आश्विन) कृष्णा अमावस्या।

कालनिर्णय

जिस दिन सूर्यास्त के बाद एक घड़ी अधिक तक अमावस्या रहे उस दिन दीपावली मानी जानी चाहिये। दोनों दिन सायंकाल के समय हो तो दूसरे दिन और केवल पहले दिन ही सायंकाल के समय अमावस्या हो तो पहले दिन दीपावली मानना उचित है। यदि दोनों ही दिन सायंकाल के समय अमावस्या न हो तो कुछ लोगों के मत से पहले दिन और कुछ लोगों के मत से दूसरे दिन दीपावली मानना चाहिए। इस उत्सव के साथ स्वाति नक्षत्र का योग प्रशस्त माना गया है। दीपावली के साथ धनत्रयोदशी और नरकचतुर्दशी के उत्सव भी हैं।

विधि

इस उत्सव में त्रयोदशी के सायंकाल के समय यमदीपदान, चतुर्दशी के प्रातःकाल अभ्यङ्ग स्नान और अमावस्या के दिन सायंकाल के समय दीपावली और लक्ष्मीपूजन होते हैं।

काल-विज्ञान

ऋतुओं के वर्णन में ऊपर बार-बार बताया जा चुका है कि भारतवर्ष की सर्वोत्तम ऋतुएँ दो ही हैं—शरद् और वसन्त। इनमें से वसन्त की शोभा भारतवर्ष के जलप्राय और वृक्षावलियों से शोभित प्रदेशों में ही उल्लसित होती है, किन्तु शरद् ऋतु भारतवर्ष के कोने-कोने में—चाहे वह मरुभूमि हो अथवा जलप्लावित भूभाग, सर्वत्र शोभाधायक होती है। सुभिक्ष के समय इस ऋतु में निर्जल मरुस्थल

तक में सबको अन्न और निर्मल जल की प्राप्ति होती है। अतः कृषिप्रधान भारतवर्ष के लिए इससे श्रेष्ठ कौन ऋतु लक्ष्मीविलास की आधारभूमि हो सकती है। अतएव ऐसी ऋतु में राजा और रंक सभी प्रमुदित होकर लक्ष्मी-पूजन करें, यह आध्यात्मिकता के आदर्श भारतवर्ष के लिए सर्वथा समुचित ही है।

इस ऋतु में आश्विन और कार्त्तिक दो मास होते हैं। इनमें से कार्त्तिक मास ही लक्ष्मी-पूजन के लिए इस कारण उपयुक्त समझा गया कि कृषि द्वारा अन्न की प्राप्ति पर्यवसितरूप से कार्तिक में ही होती है। आश्विन में यत्र-कुत्र भले ही धान्य का परिपाक हो जाय, सर्वत्र नहीं होता और जब तक सर्वत्र धान्यरूप लक्ष्मी, जो कृषिप्रधान भारतवर्ष का एक मात्र आधार है, न पहुँच जाय तब तक लक्ष्मी-पूजन कैसा ? सो लक्ष्मी-पूजन के लिए कार्त्तिक मास अभ्यर्हणीय है।

अमावस्या के विषय में तो किसी विशेष उपपत्ति की वैसे भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दीपावली के लिए चाँदनीवाला दिन उतना उपयोगी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक मुख्य कारण यह भी है कि शरद् ऋतु में मलेरिया आदि रोगों की उत्पत्ति की संभावना अधिकतर रहती है और रोग के कीटाणु सूर्य और चन्द्र के प्रकाश में या तो पनपते ही कम हैं और यदि पनप भी गये तो उनका प्राचुर्य्य या प्राबल्य उतना नहीं हो पाता, जितना अन्धकार में हो सकता है। इसलिए दीपावली का प्रकाश अमावस्या के अन्धकार में ही करना उचित है, क्योंकि उस समय पुञ्जीभूत कीटाणु इस प्रकाश के द्वारा अनायास ही विनष्ट किये जा सकते हैं। सायंकाल का समय भी इसीलिए उपयोगी होता है कि—उस समय शीत और उष्ण दोनों प्रकृति के कीटाणु संगृहीत रूप में प्राप्त हो सकते हैं; अन्यथा रात्रि में उष्णताप्रधान कीटाणुओं का और दिन में शीतप्रधान कीटाणुओं का संग्रह प्रकृति-विरुद्ध होने के कारण सहसा एकत्र प्राप्त नहीं हो सकता।

विधि-विज्ञान

भारतवर्ष के चार प्रधान राष्ट्रीय त्यौहारों में से, जैसे कि— रक्षाबंधन के प्रकरण में लिखा जा चुका है, यह त्यौहार भी एक है। इस त्यौहार में लक्ष्मी-पूजन की मुख्यता के कारण यद्यपि वैश्यों की प्रधानता है, क्योंकि प्राचीन भारतीय समाज में धनार्जन और धन-सञ्चय का काम प्रायः वैश्यों के ही अधीन था तथापि वर्ण-विभाग को समाज के अंग-विभाग के समान सहयोगी विभाग ही माना जाता रहा है, अतः किसी भी वर्ण का त्यौहार राष्ट्रीय त्यौहार ही होता है, जैसे कि हाथ-पैर आदि के द्वारा किया जानेवाला कार्य शारीरिक कार्य ही समझा जाता है। सभी भारतीय त्यौहारों को सब लोग आज भी राष्ट्रीय रूप में ही मानते हैं। वर्णाश्रमों के कारण भिन्नप्राय भारतीय समाज की इसी विशेषता ने उसमें ऐक्य बनाये रक्खा।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है इस त्यौहार में यद्यपि लक्ष्मी-पूजन की ही प्रधानता है तथापि चतुर्दशी और अमावस्या का अभ्यङ्ग-स्नान; दीपावली और दीप-दानादिक ये सभी अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। इनमें से अभ्यङ्गस्नान का संवत्सरोत्सव के प्रसङ्ग में विस्तृत विवेचन किया जा चुका है, अतः यहाँ उसका दोहराना व्यर्थ है।

यम-दीपदान—त्रयोदशी के दिन चौराहे में या घर के द्वार पर दीपक जलाया जाता है। जैसा कि काल-विज्ञान में लिखा जा चुका है, चातुर्मास्य के सञ्चित कीटाणुओं की निवृत्ति ही मुख्यतया इस दीप-दान का हेतु प्रतीत होता है। इसी कारण इस (दीपदान) को यम-दीप-दान नाम भी दिया गया है। यम मृत्यु का अधिष्ठाता देवता है और रास्ते, चौराहे आदि में प्रायः मलिनता, कूड़ा आदि का संसर्ग होने से मार्ग की धूलि में रोगों के अनेक कीटाणु विद्यमान रहते हैं। तैल के जलने से जो तीव्र गन्ध उत्पन्न होती है उससे अधिकांश धूलि-गत

कीटाणुओं का नाश संभव है। इसी कारण निर्णयसिन्धु में यम-दीप-दान का वर्णन करते हुए स्कन्दपुराण का यह वचन उद्धृत किया गया है कि—

कार्तिकस्यासिते पक्षे त्रयोदश्यां निशामुखे।
यमदीपं बहिर्दद्यादपमृत्युर्विनश्यति॥

अर्थात् कार्तिक की त्रयोदशी को सायंकाल के समय घर से बाहर दीपदान करना चाहिए। इससे अपमृत्यु नष्ट होती है।

यह दीप-दान दीपावली का आरम्भिक रूप है। दीप-दान कीटाणु-विनाश-द्वारा अपमृत्यु-विनाश में सहायक होता है। यह बताया जा चुका है।

इस तरह त्रयोदशी को बाहर के कीटाणुओं की शुद्धि करने के बाद चतुर्दशी को अभ्यङ्गस्नान द्वारा शरीरगत कीटाणुओं की निवृत्ति की जाती है और तब दीपावली का मुख्य उत्सव आरम्भ होता है।

भारतवर्ष का यह उत्सव सचमुच लक्ष्मी के आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों स्वरूपों का उल्लासमय प्राकट्य करनेवाला है। लक्ष्मी का आधिभौतिक-रूप धन-सम्पत्ति अर्थात सोना, चाँदी, मणि, रत्न आदि हैं, आध्यात्मिक स्वरूप शोभा है और आधिदैविक रूप भगवती पद्मा या महालक्ष्मी है, जो विष्णु की प्रिया कहलाती है। अतएव संस्कृत भाषा के कोशों में लक्ष्मी और श्री शब्द के उक्त तीनों अर्थ माने गए हैं—

शोभासंपत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव कथ्यते।

पहले बताया जा चुका है कि भारतीय पद्धति के अनुसार प्रत्येक आराधना, उपासना वा अर्चना में आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक इन तीनों रूपों का सम्मिलित रूप में व्यवहार किया जाता है। तदनुसार इस उत्सव में भी चाँदी, सोने, सिक्के आदि के रूप में आधिभौतिक लक्ष्मी का आधिदैविक लक्ष्मी से सम्बन्ध स्वीकार करके पूजन

किया जाता है। घरों का सम्मार्जन, उपलेपन और सुधासेचन (कलई आदि से पोतना) प्रभृति परिष्कार (सजावट) और दीपमाला आदि से अलंकृत करना इत्यादि कार्य लक्ष्मी के आध्यात्मिक स्वरूप शोभा को आविर्भूत करने के लिए किये जाते हैं। इस तरह इस उत्सव में उक्त त्रिविध लक्ष्मी का समाराधन हो जाता है।

वास्तव में सभी उत्सवों में दीपावली का उत्सव घर-घर, गाँव-गाँव और नगर-नगर में बालक से लेकर वृद्ध तक, मूर्ख से लेकर पण्डित तक और रङ्क से लेकर राजा तक सर्वत्र ही आमोद-प्रमोद और आनंद-विनोद का उल्लासक मुख्य त्यौहार है।

इसलिए इसकी आनन्दजनकता में तो कोई सन्देह है ही नहीं, किन्तु इसका केवल इतना ही महत्त्व नहीं है। इसके अतिरिक्त इस उत्सव का वैज्ञानिक महत्त्व भी है। वह यह है कि—चातुर्मास्य में सभी भूमि-भाग के भींगे रहने के कारण अनेक प्रकार के जीव-जन्तु और रोगों के कीटाणु पर्याप्त से अधिक रूप में फैल जाते हैं, उनमें से मोटे-मोटे कीट-पतंगादि तो शरदृतु के आने पर भगवान् भास्कर के अति तीव्र आतप से सन्तप्त होकर अथवा शरत्काल के अनन्तर तत्काल ही आने वाले हेमन्त के अति शीत द्वारा नष्ट अथवा लुप्त हो जाते हैं, किंतु साधारण दृष्टि से तिरोहित रहनेवाले अति सूक्ष्म कीटाणु न तो सूर्यताप से ही और न शीत से ही सर्वथा निवृत्त हो सकते हैं; अतः उनको निवृत्त करने के लिए कच्चे मकानों को शुद्ध गोबर, खड़ी आदि से और पक्के मकानों को चूना, कलई आदि से वर्षभर में एक बार साफ कर देना आवश्यक होता है। गोबर, चूना आदि की कीटाणुनाशकता सर्वविदित है। इतने पर भी जो कीटाणु बच ही रहें उनको निवृत्त करने के लिए सारे घर में तेल के दीपकों की तीव्रगन्ध अत्यन्त उपयोगी होती है। इससे रहे-सहे सभी चातुर्मास्य के कीटाणु विनष्ट हो जाते हैं और

निवासस्थान रोगाणुओं से रहित और स्वास्थ्य-रक्षा में सहायक हो जाता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर आजकल की बिजली की रोशनी शोभाजनक भले ही कही जा सके, किन्तु कीटाणु-विनाशक के रूप में उतनी उत्तम नहीं मानी जा सकती जितनी कि तैल-दीपकों की रोशनी होती है।

कथा

नारद ने कहा—अब मैं दीपावली के महोत्सव का वर्णन करता हूँ। इस उत्सव को दीपमाला, कौमुदी और सुखसुप्ति के नाम से कहा जाता है। इस दिन प्रदोष के समय लक्ष्मी का पूजन करके जो भी स्त्री या पुरुष भोजन करते हैं उनके नेत्र वर्ष भर निर्मल रहते हैं। कार्तिक मास की अमावस्या के दिन विष्णु भगवान् क्षीरसमुद्र के तरङ्गों पर सुख से सोये और लक्ष्मी भी दैत्यभय से विमुक्त होकर कमल के उदर में सुख से सोईं। इसलिए मनुष्यों को सुख-सुप्ति का उत्सव विधिपूर्वक करना चाहिए।

उस दिन बालक, वृद्ध और रोगियों के सिवाय किसी को दिन में भोजन नहीं करना चाहिए। सायंकाल के समय देवी (लक्ष्मी) का यथाविधि पूजन करके देवालयों में शक्ति के अनुसार दीपकों के समूह जलाने चाहिएँ।

राजा उस दिन दीपमाला से युक्त प्रदोष के समय ब्राह्मणों को भोजन करवाके, श्राद्ध करके पितरों को पिण्डों से सन्तुष्ट करे और दीप-दान करे। फिर भूखों को प्रेष्ठपिण्डों (प्रिय भोजन) का दान करके स्नेही, मोही, सुखी और चतुर बान्धवों के साथ दीपावली का महोत्सव करे। सायंकाल के समय राजा नगर में घोषणा करे कि—सारी राज्य

की सेना और प्रजा यथेष्ट चेष्टा करे। प्रजा को भी नगर के सुन्दर प्राङ्गण को कलई से सफेदी करके वृक्ष और चन्दन की माला से युक्त करना चाहिए और प्रत्येक घर को खूब सजाना चाहिए। द्यूत (जुआ), पान (भांग ठंडाई)आदि सुखों से युक्त होकर स्त्री-पुरुष सब मनोहर बनें। नाच और बाजों की आवाज से (नगर को) गुंजा दें। दीपक जलाये जावें। दीपकों की सुन्दर पंक्ति से अन्धकार का समूह नष्ट हो जाना चाहिए। तब निर्दोष प्रदोष के समय रात्रि के शुभ आरम्भ की वेला में स्वस्ति और मङ्गल करनेवाली वेश्याएँ और विलासिनियों के समूह सुख देते हुए एक घर से दूसरे घर तक फिरें। फिर अर्धरात्रि के समय राजा सुन्दर नगर को अवलोकन करने के लिए धीरे-धीरे पैदल ही घरों में जाय।

इस दिन यथाशक्ति ब्राह्मणों के घरों में, मन्त्रियों के घरों में, देवालयों में, चौराहों में, श्मशान में, पर्वत में, गायों के खिड़कों में दीपदान करना चाहिए। सायंकाल के समय पितृभक्त लोगों को श्राद्ध भी करना चाहिए और दीपमाला करनी चाहिए।

तब दीपदान के पश्चात् सोई हुई लक्ष्मी को जगाना चाहिए। पहले असुरविनाशक विष्णु भगवान् को क्षीरसागर में सोया हुआ जानकर डरी हुई लक्ष्मी ब्राह्मणों से अभय प्राप्त करके कमल में रहने लगी, उसी लक्ष्मी को आज स्त्रियाँ भगवान् के जगाने के पहले जगाती हैं।

हे ब्राह्मणो ! दीपक हाथ में लिए स्त्रियाँ देवी कमला (लक्ष्मी) को इस मन्त्र से जगावें।

त्वं ज्योतिः श्री रविश्चन्द्रो विद्युत्सौवर्णतारकाः।
सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिर्दीपज्योतिःस्थिते नमः॥

अर्थात् हे दीप की ज्योति में स्थित (कमले !) आप ही ज्योतिरूप हैं, लक्ष्मी हैं, सूर्य-चन्द्र, सुवर्णसमूह और तारे हैं। सब ज्योतियों की ज्योति आप ही हैं। आपको नमस्कार। उसके बाद भोजन करें। जैसे पतिव्रता

नारी ब्राह्म-काल में पति के पहले जागती हैं वैसे ही लक्ष्मी भी अपने पति विष्णु से बारह दिन पहले जागती हैं। इस कारण सायंकाल के समय लक्ष्मी को जगाकर जो भोजन करता है उस पुरुष को वर्ष भर लक्ष्मी नहीं छोड़ती।

दूसरे दिन प्रातःकाल गोवर्धन की पूजा करनी चाहिए और रात्रि में द्यूत-क्रीड़ा करनी चाहिए। वर्ष भर का फल जानने के लिए द्यूत-क्रीड़ा अवश्य करनी चाहिए। दीपावली की रात्रि में जय हो तो वर्ष भर अवश्य ही जय रहता है और पराजय हो तो वर्ष भर अपकर्ष रहता है। जूवा खेलनेवालों को—

या लक्ष्मीर्दिवसे पुण्ये दीपावल्याश्च भूतले।
गवां गोष्ठे च कार्त्तिक्यां सा लक्ष्मीर्वरदा मम॥

इस मन्त्र से विजया की पूजा करनी चाहिए।

शिव और पार्वती ने द्यूत-क्रीड़ा की थी, किन्तु पार्वती जी ने लक्ष्मी का पूजन किया था इसलिए शिवजी को जीत लिया।

इस दिन अर्ध-रात्रि के समय लक्ष्मी भ्रमण करती हैं और घरों में निवास करती हैं। इसलिए बड़े उत्सव के साथ घरों को धूप, दीपों से खूब सजाना चाहिए और कलई से पुतवाना चाहिए, पुष्पमालाओं से सुशोभित करना चाहिए, लक्ष्मीजी को भी दक्षिणा-सहित चन्दन और मालाएँ भेंट करनी चाहिएँ।

उस दिन स्त्री-पुरुष नवीन वस्त्र और भूषणों से अलंकृत हों और उस रात्रि को गीत और हास्यरस एवं भोगों से बिताना चाहिए। ब्राह्मणों, सम्बन्धियों और बान्धवों का नवीन वस्त्रों से सत्कार करना चाहिए और सम्पूर्ण रात्रि में दीपक रखना चाहिए। अन्धकार उचित नहीं है।

हे तपोधनो ! उस रात्रि में जो घर अन्धकार से युक्त होता है वह लक्ष्मी से छोड़ दिया जाता है और उस घर में अलक्ष्मी आश्रय लेती है। इस तरह जब दीपावली सहित अर्धरात्रि बीत जाय और सब मनुष्य आमोद-प्रमोद में मग्न हों उस समय चौथे पहर में स्त्रियों को सूप और डिण्डिम बजाते हुए प्रसन्न होकर अपने घर के आँगन से अलक्ष्मी को निकालना चाहिए। भगवान् कृष्ण के सोते रहते हुए ही हितैषिणी लक्ष्मी जग जाती है, किन्तु निरालम्ब होने के कारण बहुत समय तक प्रकाशयुक्त भवन में आश्रय लेती है। इस विषय में धन की इच्छा रखनेवाले किसी कृष्णभक्त सत्यशर्मा ब्राह्मण के द्वारा एक गाथा वर्णन की गई है।

शौनक पूछते हैं कि हे नारद ! यह सत्यशर्मा नाम का ब्राह्मण कौन था ? गाथा क्या थी ? और प्रकाशसहित भवन में लक्ष्मी किस तरह आश्रय लेती हैं ? इसका कृपाकर वर्णन करिए।

नारदजी ने कहा—शूरसेन देश में एक सत्यशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था। उसका चित्त तृष्णा से व्याकुल था और धन के लिए चेष्टा किया करता था। वह सोचता—यदि मेरे धन हो जाय तो मैं सुख-पूर्वक धर्म करूँ, स्त्री और पुत्रों को अलंकृत करूँ और मनोहर घर बनाऊँ। इस तरह मनोरथ से युक्त होकर सब देवताओं में हरि को सर्वश्रेष्ठ जानकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करने लगा। इस तरह विष्णु-पूजा करते हुए कभी कुछ धन आ जाता तो वह बीच में ही नष्ट हो जाता। सञ्चय न हो पाता। इससे वह बहुत विरक्त एवं दुखी हुआ और धन के लिए बड़े प्रयत्न के साथ उसने किसी ज्ञान-विज्ञान से युक्त विद्वान् से प्रश्न किया, उसने कहा कि तुमको धन की कामना है, इसलिए अब तुम शिवजी की आराधना करो। विष्णु तो कामी की कामना पूरी नहीं करते जैसे कि रोगी को कुपथ्य नहीं दिया जाता।

जो लोग निष्काम हैं और भजनानन्द से ही सुखी हैं तथा सब जगह जिनको वैराग्य हो गया है उनको ही विष्णु की पूजा करनी चाहिए। हे ब्राह्मण, तुम वैसे नहीं हो। यह सुनकर वह ब्राह्मण यमुना के तट पर स्थित शिवलिङ्ग की संयमसहित प्रतिदिन पूजा करने लगा। वर्षभर में भगवान् शिव प्रसन्न हुए और ब्राह्मण का रूप धारण करके उस सत्यशर्मा को हँसते हुए लक्ष्मीप्राप्ति का उपाय बतलाया। उन्होंने कहा—तुम जाओ और राजा से यह छोटा सा वचन माँगो कि दीपावली की रात्रि के आरम्भ में मेरे सिवाय कोई भी नगरवासी अपने-अपने घर में दीपक न जलावे। ब्राह्मण ने इस बात को स्वीकार करके राजा से यही वचन कहा। राजा ने उस वचन को अत्यन्त तुच्छ जानकर हँसते हुए कहा—क्या इतनी छोटी सी चीज माँगी? राजा ने उसको यह वर दे दिया और ब्राह्मण हर्षयुक्त अपने घर को चला गया।

नारदजी ने कहा—जब वह रात्रि आई तब उस दिन सत्यशर्मा ने अपने याचना किए हुए वचन की राजा को फिर याद दिलाई। उसी समय राजा ने अपने पुर में घोषणा करवा दी कि आज सायंकाल के समय किसी को दीपक नहीं जलाने चाहिएँ। इसके बाद उस सत्यशर्मा ने अपने घर को सुशोभित किया, रात्रि में दीपमाला सजाई और हर्ष, गीत आदि कौतुक किया। लक्ष्मी को कहीं आश्रय नहीं मिला। वह अन्धकार से विरक्त होकर ज्योति से प्रकाशमान उसके अलंकृत भवन में प्रविष्ट हो गई। हाथ में लीला-कमल लिए हुए, कान्ति से मन को प्रसन्न करने वाली, मधुर हास्य युक्त मनुष्य की स्त्री के समान आकृति वाली लक्ष्मी उसके घर में प्रवेश करने लगी। उसको घर में प्रवेश करते देख सत्यशर्मा ने मना किया। उसने कहा—हे भद्रे! तुम्हारा पति बड़ा कठोर है किसी पर शीघ्र प्रसन्न नहीं होता और तुम भी संसार में चपल हो। तुम दोनों ही स्त्री-पुरुष दोषयुक्त हो। तुमको

यहाँ नहीं रहना चाहिए। जाओ, जो इस बात को नहीं जानते उन लोगों को धोखा दो।

लक्ष्मी ने कहा—कृष्ण सोये हुए हैं, तुम्हारा यह घर ही अच्छा आश्रय है और कोई नहीं। मैं तुम्हारे घर में निश्चल हो जाऊँगी। मुझको तुम घर में प्रविष्ट होने दो। सत्यशर्मा ने कहा—यदि तीन पीढ़ी तक तुम मेरे यहाँ रहो तो शपथ करो और मुझको मदान्ध मत करना—यदि ये शर्तें मञ्जूर हों तो मेरे घर में रहो, अन्यथा चली जाओ।

नारद जी कहते हैं—लक्ष्मी ने 'तथास्तु' कहकर उसके घर में प्रवेश किया। उसके बाद उसके घर में सम्पत्तियाँ बढ़ने लगीं और दारिद्र्य दूर हो गया। उस दिन से उस ब्राह्मण ने यज्ञ, दान, व्रत आदि कर्म किए और विष्णु-पूजा की, तथा वृद्धावस्था में वैराग्य प्राप्त किया।

इस कारण इस रात्रि में हे ब्राह्मणो! घर में अखण्ड दीपक जलाकर लक्ष्मी की कामनावाले गृहस्थियों को अलङ्कृत होकर रहना चाहिए। उस ब्राह्मण की यह निम्न गाथा मैं तुम्हें वर्णन करता हूँ।

सत्यशर्मा ने कहा—

'सर्वाश्रमेषु गार्हस्थ्यं धन्यं च सबलं तथा।
अत्र स्थित्वा हि कामादीन् दुर्जयान् जयते पुमान्॥
अन्येषामुपकाराय त्रयाणामेष एव हि।
स गृहस्थो धनमृते किं करोत्युचितां क्रियाम्॥
श्राद्धं चातिथि-पूजां च यज्ञदानव्रतादिकम्।
विप्रेण धनहीनेन कथं साध्यं भवेदिह॥
धनं धर्ममबाधित्वा समुत्पाद्यं पुनर्नरः।
धर्ममेवाग्रतः साध्यं नान्यथा तद्व्ययो गुणः॥
ऋणत्रयापाकरणे वैराग्ये च दृढे सति।
धनाशां च गृहाशां च त्यक्त्वैकान्तं समाश्रयेत्॥
यावद्गृहस्थस्तावद्वै कर्म कुर्वन् हरिं स्मरेत्।

धनमीहेत कृष्णस्य पूजनैश्च व्ययं नयेत् ॥
नमो लक्ष्म्यै महादेव्यै जगन्मात्रे हरिप्रिये ।
त्वां विना शून्यतां याति जगद्यज्ञैर्विवर्जितम् ॥

अर्थात् सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही धन्य है और बलवान है; क्योंकि मनुष्य इस आश्रम में रहकर दुर्जय काम आदि को जीतता है। अन्य तीन आश्रमों के उपकार के लिए भी यही आश्रम है।

वह गृहस्थ बिना धन के क्या उचित क्रिया कर सकता है? धन-हीन ब्राह्मण के द्वारा श्राद्ध, अतिथि-सत्कार, दान, जप आदिक किस तरह सिद्ध किए जा सकते हैं। मनुष्यों को धर्म को बाधित न करके धन पैदा करना चाहिए। धन पैदा करके बाद में भी धर्म ही सिद्ध करना चाहिए। दूसरे प्रकार से धन का व्यय गुण नहीं है। जब तीनों ऋण (देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण) निवृत्त हो जाँय (अर्थात् यज्ञ, अध्ययन और पुत्रोत्पादन हो चुके) और वैराग्य दृढ हो जाय तब धन की आशा और घर की आशा को छोड़कर मनुष्य को एकान्त का आश्रय ले लेना चाहिए, किन्तु जब तक गृहस्थ है तब तक कर्म करता रहे, हरि का स्मरण करता हुआ धन की चेष्टा करे और कृष्ण के पूजन में व्यय करे।

महादेवी जगन्माता लक्ष्मी को नमस्कार! हे हरिप्रिये! तुम्हारे बिना जगत् यज्ञों से रहित होकर शून्य हो जाता है।'

नारदजी कहते हैं—इस तरह कहकर वह ब्राह्मणश्रेष्ठ घर छोड़ कर विरक्त बुद्धि से संन्यास के द्वारा मथुरापुरी में जाकर शुद्ध चित्त से समाधि द्वारा भगवान् हरि की आराधना करके हरि की शरण गया और उसके वंश के पुरुष धनवान् हुए।

(व्रतार्क में पद्मपुराण-उत्तरखण्ड से)

अभ्यास

(१) दीपावली कब होती है ?

(२) दीपावली में क्या-क्या कार्य होते हैं ?

(३) दीपावली कार्त्तिकमास की अमावस्या के सायंकाल में क्यों की जाती है ? ऋतु, मास, तिथि और समय का विज्ञान यथार्थ रूप में समझाइए।

(४) दीपावली का विधिविज्ञान स्पष्ट रूप से समझाइए।

(५) लक्ष्मीजी को धन के रूप में क्यों पूजा जाता है ? संस्कृत में लक्ष्मी शब्द के क्या-क्या अर्थ हैं ? वे इस उत्सव में संगत होते हैं क्या ?

(६) दीपावली की कथा क्या है तथा उससे क्या शिक्षा मिलती है ?

अन्नकूट

समय—कार्तिकशुक्ला प्रतिपदा

कालनिर्णय

यह प्रतिपदा अमावस्या के साथवाली (पूर्वविद्धा) ली जानी चाहिए, द्वितीया के साथवाली नहीं; क्योंकि जिस दिन चन्द्र-दर्शन हो उस दिन गोवर्धन-पूजा का निषेध है, तथापि यदि दूसरे दिन प्रतिपदा २० घड़ी हो तो चन्द्रदर्शन न होने के कारण अन्नकूटादिक दूसरेदिन ही होना चाहिए। ऐसा धर्मसिन्धु का मत है।

विधि

इस दिन बलिपूजा, गोक्रीडन, गोवर्धन-पूजा, अन्नकूट, मार्गपाली-बन्धन इत्यादि होते हैं। दीपावली की तरह इस दिन भी अभ्यङ्ग और दीपोत्सव का भी विधान है। गुजरात-महाराष्ट्रादि देशों में इसी दिन से नवीन वर्षारम्भ भी मानते हैं।

बलि-पूजा—इस कर्म में सुप्रसिद्ध दानी असुरराज बलि का पूजन होता है।

गोक्रीडन—इस कर्म में गाय-बैलों को अलङ्कृत करके उनका पूजन किया जाता है और उनको खिलाया जाता है।

गोवर्धन-पूजा—इस उत्सव में गोबर का अन्नकूट बनाकर उस पर अथवा उसके सन्निधान में विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष गाय व ग्वालों की पूजा की जाती है।

अन्नकूट—इसमें देवमन्दिरों में विविध प्रकार की सामग्रियाँ भगवान् को भोग लगाई जाती हैं और महाप्रसाद बँटता है। सभी मन्दिरों में यह उत्सव विशेष रूप से मनाया जाता है।

मार्गपाली-बन्धन—यह एक प्रकार की रस्सी होती है—जिसमें नारियल आदि माङ्गलिक वस्तुएँ बाँध कर पेड़-खम्भे आदि में बाँध दिया जाता है, उसके नीचे होकर राजा व प्रजा निकलती है।

[1]कालविज्ञान और विधिविज्ञान

बलि-पूजा

कार्तिक-कृष्णा अमावस्या को लक्ष्मीपूजन का विधान ऊपर आ चुका है और यह भी बताया जा चुका है कि लक्ष्मी का आधिभौतिक स्वरूप धन-सम्पत्ति है। उस धन-सम्पत्ति की शुद्धि दान के द्वारा ही होती है। जैसा कि श्रीमद्भागवत में लिखा है—

'कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया।
शुद्ध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया॥

अर्थात् कुछ वस्तुएँ काल से, कुछ स्नान और शौच से, कुछ संस्कारों से, कुछ तप से और संगृहीत धनादिक यज्ञ, दान और सन्तोष से तथा आत्मा आत्मज्ञान से शुद्ध होता है।

वास्तव में संगृहीत द्रव्य का संशोधन दान ही है; अन्यथा दानरहित द्रव्य अपमार्गों में व्यय होता है। अतः लक्ष्मी के साथ ही साथ दानियों में प्रधान राजा बलि का पूजन इस दिन उचित ही है, जिससे लक्ष्मी-

---

१. इस उत्सव में अनेक विधियाँ सम्मिलित हैं, जिनमें से कई एक आजकल कम प्रचलित हैं। विज्ञान समझे विना उनका कालविज्ञान समझना कठिन है, अतः हमें विवश होकर यहाँ कालविज्ञान और विधिविज्ञान को सम्मिलित कर देना पड़ा है।

पूजकों को दान की श्रेष्ठता विदित रहे। दानियों में श्रेष्ठ बलि की पूजा का इससे उत्तम समय और कौन-सा हो सकता है ?

गोक्रीडन और गोवर्धन-पूजा

ऊपर कई बार बताया जा चुका है कि भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है। कृषि का मुख्य साधन गाय और बैल हैं, इन्हीं से खेतों में डालने के लिए खाद उत्पन्न होता है। बैल ही खेत जोतते हैं और बैलों के द्वारा ही प्राचीन भारत का सारा व्यापार भी बनजारे लोग चलाते थे। गोवंश के ह्रास से ही वास्तव में भारत में कृषि का विनाश और खाद्यान्न का संकट समुपस्थित हुआ है। यदि सौभाग्य से गाय-बैलों की सुरक्षा होती तो देश को यह दुर्दशा न देखनी पड़ती। इसलिए अन्नरूप महालक्ष्मी के मुख्य साधन गाय-बैलों का पूजन भी लक्ष्मीपूजन के साथ भारतीयों की कृतज्ञता का एक सुन्दर आदर्श उपस्थित करता है।

गोवर्धन शब्द तृण-सम्पत्ति से पर्वतों के द्वारा गोवंश के वर्धन का सूचक है। जिस प्रकार अन्न का साधन होने से गोवंश का सत्कार आवश्यक है, उसी प्रकार गोवंश के वर्धन के लिए मुख्य गोचर-भूमि-रूप (क्योंकि साधारण भूमि में तो कृषि भी हो सकती है, किन्तु पर्वत के तृणादिक तो गोवंश की रक्षा के लिए सुरक्षित सम्पत्ति हैं) पर्वतों के प्रतीक रूप में तथा गोपाल-रूप से परम प्रसिद्ध भगवान् श्रीकृष्ण के गोचारण का मुख्य-क्षेत्र होने के कारण इस दिन गोवर्धन पर्वत का पूजन किया जाता है। गोक्रीडन के साथ इसका भी होना समुचित है।

अन्नकूट

वैदिक काल में आश्विन अथवा कार्तिक की अमावस्या अथवा पूर्णिमा के दिन नवीन उत्पन्न व्रीहियों (चावलों) के द्वारा आग्रयणेष्टि[1]

---

१. 'आश्विनकार्तिकयोः पौर्णमास्याममावस्यायां वा शुक्लपक्षगतकृत्तिकादिविशाखान्तनक्षत्रेषु शुक्लपक्षस्थरेवत्यां वा व्रीह्याग्रयणम्।'—धर्मसिन्धु

नामका एक छोटा यज्ञ किया जाता था। इस यज्ञ में नवीन अन्न की आहुति दिए बिना नवीन अन्न का अशन[1] (भोजन) नहीं किया जाता था। जैसा कि निम्न कारिका से स्पष्ट है:—

'अकृताग्रयणोऽश्नीयान्नवान्नं यदि वै नरः।
वैश्वानराय कर्त्तव्यश्चरुः पूर्णाहुतिस्तु वा॥
यद्वा समिन्द्ररायेति शतवारं जपेन्मनुम्॥' (धर्मसिन्धु)

अर्थात् विना आग्रयण किए मनुष्य यदि नवीन अन्न खावे तो उसे (प्रायश्चित्त रूप में) वैश्वानर के लिए चरु अथवा पूर्णाहुति करनी चाहिए। अथवा 'समिन्द्ररायां' (ऋक् संहिता १।४।१५) इस मन्त्र का सौ वार जप करना चाहिए।

इस आग्रयणेष्टि यज्ञ के प्रधान देवता इन्द्र,[2] अग्नि, विश्वेदेवा और द्यावापृथिवी थे। उनमें भी सबसे प्रधान देवता इन्द्र ही है, क्योंकि आग्रयणेष्टि न करने पर प्रायश्चित्त रूप में जिस उपर्युक्त मन्त्र का जप बतलाया गया है, उस मन्त्र में केवल इन्द्र से ही प्रार्थना की गई है।

परन्तु काल-क्रम से यह आग्रयण-पद्धति शिथिल होती चली गई और मुख्यकल्प के स्थान पर अनुकल्प होने लगे। ये अनुकल्प (१) नवान्न[3] के द्वारा दर्शपूर्णमासेष्टि (२) अग्निहोत्र में होम (३) नवान्न को अग्निहोत्रवाली गाय को खिलाकर उसके दुग्ध से होम अथवा (४) नवान्न से ब्राह्मण-भोजन, इस रूप में क्रमशः परिवर्तित होते चले गये।

---

१. 'आग्रयणमकृत्त्वा किमपि नवोत्पन्नं सस्यं न भक्षणीयम्।'—धर्मसिन्धु

२. 'इन्द्राग्निविश्वेदेवार्थमष्टौ व्रीहिमुष्टीन्निरूप्य'......धर्मसिन्धु।

३. 'एतदसम्भवे नवश्यामाकव्रीहियवैः पुरोडाशं कृत्वा दर्शपूर्णमासौ कुर्यात्, यद्वा नवव्रीह्यादिभिरग्निहोत्रहोमं कुर्यात्, अथवा नवान्नान्यग्निहोत्र्या गवा खादयित्वा तस्याः पयसाग्निहोत्रं जुहुयात्, यद्वा नवान्नेन ब्राह्मणान् भोजयेदिति संक्षेपः।' (धर्मसिन्धु)

प्रतीत होता है कि यही आग्रयण कालान्तर में द्वापर युग के अन्त के समय केवल इन्द्र-याग के रूप में रह गया था। भगवान् कृष्ण के अवतार के समय यह इन्द्र-याग[1] किया जाता था। इस इन्द्र-याग का नन्दरायजी ने खूब जोरों से समर्थन[2] भी किया है।

किन्तु बाद में भगवान् कृष्ण ने इन्द्र-याग के स्थान पर गऊ-ब्राह्मण और गोवर्धन पर्वत[3] का याग आरम्भ करवाया। यही वर्त्तमान अन्नकूट है। 'अन्नकूट' शब्द का शब्दार्थ अन्नसमूह है। अनेक प्रकार का अन्न समर्पित और वितरण करने के कारण ही इस उत्सव का नाम अन्नकूट पड़ा है। भगवान् ने इसके वर्णन में विविध पाकों का महत्त्व बताया भी है—

पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥
हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वा धेनुदक्षिणाः॥

---

१. 'अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान्।'
(श्रीमद्भागवत, १० स्कं. अ. २४ श्लोक १)

२. 'पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः।
तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः॥
तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम्।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः॥
तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे।
पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः॥
य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः।
कामाल्लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम्॥'
(भा.-१०-२४-८-११)

३. 'तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।'
(श्री भा. १०।२४।२५)

अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः ।
यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः ॥
(भा. १०।२४।२६-२८)

अर्थात् दाल से लेकर खीर तक अनेक प्रकार के पाक और हलुवा, पूआ, जलेबियाँ (अथवा पूड़ियाँ) बनाई जायँ और सब दूध-दही ले लिया जाय, ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के द्वारा अग्नियों का अच्छी तरह हवन कराया जाय और उनको अनेक प्रकार का अन्न, गायें तथा दक्षिणाएँ दी जायँ। कुत्ता, चाण्डाल और पतितों तक सभी को यथायोग्य भोजनादि और गायों को बाँटा देकर पर्वत को बलि दी जाय।

आजकल यह ब्रज में श्रीकृष्ण द्वारा प्रचारित अन्नकूट सारे भारतवर्ष में मनाया जाता है। प्रत्यक्ष गोवर्धन-पर्वत के स्थान पर सभी नगरों में उस दिन गोबर का गोवर्धन बनाया जाता है और उसके समक्ष भगवान् कृष्ण और गायों का पूजन किया जाता है। अन्नकूट के रूप में मन्दिरों में विविध सामग्रियाँ निर्मित की जाती हैं, जिनमें शरद् ऋतु में उत्पन्न सस्य के अन्न और शाक-पाकादि भगवान् को अर्पण किए जाते हैं तथा भगवान् को अर्पण करने के अनन्तर ऊपर उद्धृत भागवत के वचनानुसार उनका विशेषतः ब्राह्मणों के लिए और सामान्यतः सर्वसाधारण के लिए वितरण किया जाता है।

यह उत्सव बड़ा ही आनन्दमय है, क्योंकि इस दिन सब लोग भेद-भाव भूलकर मन्दिरों में सहभोज करते हैं। कृषिप्रधान देश का यह अन्नमय यज्ञ वास्तव में सर्वसुखद है। ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सभी को इस दिन नवीन अन्न की नवीन-नवीन सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं।

मार्गपाली-बन्धन

ऊपर लिखा जा चुका है कि मार्गपाली एक प्रकार की रस्सी है। जिस तरह आजकल रस्साकसी होती है ठीक उसी प्रकार उपरिलिखित मार्गपाली को खींचने का भी आदित्यपुराण में विधान है—

कुशकाशमयीं कुर्याद्यष्टिकां सुदृढां नवाम् ।
तामेकतो राजपुत्रा हीनवर्णास्तथान्यतः ॥
गृहीत्वा कर्षयेयुस्तां यथासारं मुहुर्मुहुः ।
जयोऽत्र हीनजातीनां जयो राज्ञस्तु वत्सरम् ॥

अर्थात् दर्भ और कांस के द्वारा एक नवीन सुदृढ़ रस्सी बनानी चाहिए। उसको एक तरफ से राजकुमार और दूसरी तरफ से हीनवर्ण के लोग पकड़कर जितना बल हो सके उसके अनुसार बार-बार खींचें। खींचने में यदि हीन जातिवालों का विजय हो तो वर्ष भर तक राजा का विजय समझा जाता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रीय त्योहारों में राजा से लेकर हीन जाति के लोग तक किस प्रकार सम्मिलित होते थे और हीन जाति की विजय औरों के लिए कितनी आनन्दप्रद होती थी। ऐसे उत्सवों का भारत में इस समय पुनः प्रचार अत्यावश्यक है।

१. कथा

(गोवर्धन-पूजा की)

नारदजी ने कहा—अब मैं बलि राजा के दिन के महोत्सव का वर्णन करूँगा। उस दिन गोवर्धन पर्वत की पूजा करनी चाहिए। गाय, भैंस आदि का पूजन करना चाहिए। अत्यधिक दूध देनेवाली गायों का शृङ्गार करना चाहिए। गोवर्धन की पूजा का मंत्र यह है—

गोवर्धन धराधार गोकुलत्राणकारण ।
विश्वबाहुकृतोत्साह गवां कोटिप्रदो भव ॥

हे गोवर्धन, हे पृथ्वी के आधार, हे गोकुल की रक्षा के हेतुभूत, विश्वबाहु भगवान् के द्वारा जिनको उत्साह दिया है ऐसे आप (हमारे लिए) करोड़ों गायें देनेवाले हों।

इस मन्त्र से गोवर्धन की पूजा करने के बाद—

या लक्ष्मीर्लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता।
घृतं वहति यज्ञार्थे सा मे पापं व्यपोहतु॥
नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥
वन्दितासि वशिष्ठेन विश्वामित्रेण चात्रिणा।
सुरभे ! हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥
अग्रतः सन्तु मे गावो गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥
सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

जो लोकपालों की लक्ष्मी धेनु के रूप में स्थित है और जो यज्ञ के लिये घृत धारण करती है वह (गौ माता) मेरा पाप निवृत्त करे। सुरभि (कामधेनु) की पुत्री श्रीमती गौओं को नमस्कार। ब्रह्माजी की पवित्र पुत्रियों को बार-बार नमस्कार। हे सुरभे ! आप वसिष्ठ, विश्वामित्र और अत्रि से वन्दित हैं, मैंने जो बुरा काम किया है उस मेरे पाप को हरण करिए। गायें मेरे आगे हों, गायें मेरे पीछे हों, गायें मेरे हृदय में हों, मैं गायों के मध्य में रहूँ। सुरभि की पुत्रियाँ (गायें) सबका हित करने-वाली हैं, पवित्र हैं और पुण्य की राशि हैं; ऐसी त्रैलोक्य की माता गायें मेरा (दिया हुआ) ग्रास ग्रहण करें।

इन मन्त्रों से गायों का पूजन करना चाहिए। वृषभ के पूजन का मन्त्र यह है—

धर्मस्त्वं वृषरूपेण जगदानन्दकारक।
अष्टमूर्तेरधिष्ठान मनःशान्तिं प्रयच्छ मे॥

तुम धर्म हो और वृषभरूप से जगत् को आनन्दित करनेवाले हो। हे आठ मूर्तियोंवाले (शिव) के वाहन ! मुझे मन की शान्ति दो।

हे शौनक ! इसके बाद भैंस आदि को सजाना, खेल करवाना तथा रड़कवाना (बुलवाना) चाहिए । इसके बाद तीसरे पहर के समय पूर्व दिशा की तरफ ऊँचे खम्भे और मेंड़ पर, जिसमें बहुत-सी चीजें लटक रही हों ऐसी कुश-काश की बनी हुई मार्गपाली बाँधनी चाहिए । मार्ग-पाली बाँधने से पहले ब्राह्मणों द्वारा होम कराना चाहिए । फिर इस मंत्र से नमस्कार करना चाहिए—

मार्गपालि ! नमस्तेऽस्तु सर्वलोकचमस्कृते ।
विविधैः पुत्रदाराद्यैः पुनरेहि युतस्य मे ॥

अर्थात् सब लोगों से नमस्कृत हे मार्गपाली, आपको नमस्कार। अनेक पुत्र स्त्री आदि सहित मेरे लिए आप फिर आना।

वहाँ राष्ट्र को अभय देनेवाला नीराजन भी करना चाहिए। फिर मार्गपाली के नीचे होकर गाय, बैल, हाथी, घोड़े, राजा, राजपुत्र, ब्राह्मण और शूद्रजाति के लोग निकलते हैं। मार्गपाली का उल्लंघन करने से नीरोग और सुखी होते हैं। जो राजा इस तरह ग्राम, पुर और नगर में उत्सव करता है, वहाँ ईतियाँ[1] नष्ट हो जाती हैं और प्रजा चिरकाल तक आनन्दित रहती है। कुश-काश की बनी हुई सुदृढ और नवीन रस्सी तैयार करनी चाहिए। उसको एक तरफ राजपुत्र और दूसरी तरफ हीन वर्ण के लोग पकड़कर बल के अनुसार बार-बार खींचें। हीन जातियों का जय होने से राजा का साल-भर जय होता है। इस जय के चिह्न को राजा यत्नपूर्वक विधान करें। इस तरह गोवर्धन तथा गायों की विधि-पूर्वक पूजा करनी चाहिए। यह सुन्दर गोवर्धन-यज्ञ कृष्ण को सन्तुष्ट करनेवाला है। मथुरा में तथा अन्यत्र भी गोबर से बहुत बड़ा गोवर्धन पर्वत बनाकर विधि-पूर्वक

---

१. अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहे, टिड्डियाँ, तोते और समीपवर्त्ती शत्रु राजा ये छः ईतियाँ कही जाती हैं।

पूजन करना चाहिए। इस दिन मथुरा में साक्षात् गोवर्धन की प्रदक्षिणा करने से भगवद्धाम को प्राप्त होकर, भगवान् के सन्निधान में आनन्दित होता है। गोवर्धनधारी की इस कथा को जो सुनते हैं, वे राजसूय यज्ञ के फल को प्राप्त करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कथा

(बलि-पूजन की)

नारद कहते हैं—इसके अनन्तर सायंकाल के समय बलिदैत्य का पूजन करना चाहिए। पट्टे के ऊपर दैत्यराज बलि का पाँच रंगों से विशाल चित्र लिखना चाहिए। मिथ्या वचन से डरे हुए इस दैत्य-राज बलि ने भगवान् विष्णु को अपना देह अर्पण कर दिया और वामन मूर्ति भगवान् ने कठोर चेष्टा से उसको बाँध लिया। बाँध कर खिन्न मनवाले और दुखी बलि को पाताल में ले गये किन्तु इस सुबुद्धि दैत्य ने अहन्ता-ममता छोड़कर भगवान् से असूया (दोष-बुद्धि) नहीं की। तब प्रसन्न होकर भगवान् ने दैत्यराज से कहा कि जो कार्तिकशुक्ल प्रतिपदा के दिन तुम्हारा पूजन नहीं करे उसका सारा सुकृत अविद्वान् के दान, मन्त्ररहित हवन और व्यग्र बुद्धि से किये जप के समान निष्फल होगा। यह भगवान् ने दैत्यराज को वरदान दिया है। इसलिए कार्तिक में प्रतिपदा के दिन बलि की अवश्य पूजा करनी चाहिए। भग-वान् के सम्मुख कूष्माण्ड, बाण, जम्भ, ऊरु और मय नामक दानवों से युक्त बलि राजा का पूजन करना चाहिए। घर के अन्दर बड़े भारी कमरे में पूर्णतया प्रसन्नमुख, किरीट-कुण्डल से युक्त, दो भुजावाले दैत्यराज को बनाकर राजा स्वयं विधि-पूर्वक पूजा करे। इस दिन राजा बलि के उद्देश्य से जो दान वेदपाठी ब्राह्मण को दिए जाते हैं वे अक्षय होते हैं तथा भगवान् को प्रसन्न करते हैं।

बलिराज ! नमस्तुभ्यं दैत्यदानववन्दित !
इन्द्रशत्रो ! महाराज ! विष्णुसान्निध्यदो भव ॥

हे दैत्य-दानवों से वन्दित बलिराजा ! आपको नमस्कार । हे इन्द्र के शत्रु महाराज ! आप हमें विष्णु का संनिधान (समीप निवास) दीजिए। इस मन्त्र से फल, पुष्प और अक्षतों के द्वारा राजा बलि की पूजा करनी चाहिए।

(व्रतार्क में पद्मपुराण से)

अभ्यास

(१) अन्नकूट कब होता है ?
(२) इस दिन क्या-क्या उत्सव होते हैं और क्या-क्या होने चाहिएँ ?
(३) इस उत्सव के कालविज्ञान और विधिविज्ञान के संबन्ध में आप क्या जानते हैं ?
(४) आग्रयणेष्टि क्या है और वह अन्नकूट के रूप में कैसे आ गई ?
(५) दोनों कथाओं का सार लिखिएँ।

—o—

यमद्वितीया अथवा भ्रातृद्वितीया

समय

कार्तिक शुक्ला द्वितीया

समय-निर्णय

यह द्वितीया यदि प्रतिपदा के दिन संपूर्ण अपराह्ण में हो तो पहले दिन करना चाहिए, अन्यथा द्वितीया के दिन ही करनी चाहिए।

विधि

इस दिन यमुनास्नान, यमपूजन और बहिन के घर भाई का भोजन विहित है। इसीलिए इसे साधारण भाषामें भाईदोज भी कहते हैं।

कालविज्ञान

शरदृतु रोगों की माता कही जाती है—'रोगाणां शारदी माता,' और उसमें भी कार्तिक मास का अन्तिम भाग 'यमदंष्ट्रा'[1] कहा जाता है। 'यमदंष्ट्रा' से पूर्व द्वितीया के दिन यमुनास्नान और यमपूजन का विधान उचित ही है। द्वितीया का दिन इसलिए रक्खा गया है कि द्वितीया[2] यात्रा, व्रतारम्भ तथा मङ्गलकार्यों के लिए विशेष रूप से विहित है और इस दिन यमुना की यात्रा, व्रत तथा यमपूजन ही किए जाते हैं।

---

१. कार्त्तिकस्य दिनान्यष्टावष्टावाग्रहणस्य च।
यमदंष्ट्रा समाख्याता स्वल्पभुक्तो हि जीवति॥
(शार्ङ्गधरसंहिता ५. ख. अ. ३ श्लो.-२०)

२. सप्ताङ्गचिह्नानि नृपस्य वास्तुव्रतप्रतिष्ठाखिलमङ्गलानि।
यात्राविवाहाखिलभूषणाद्यं कार्यं द्वितीयादिवसे सदैव॥
(मु० चि० पीयूषधारा में वशिष्ठ का वचन)

विधिविज्ञान

स्नान के गुणधर्म तो पहले लिखे ही जा चुके हैं। वह शरदृऋतु में प्रशस्त है—यह भी लिखा जा चुका है (देखिए शरत्पूर्णिमा)। यमुनाजल की विशेषताएँ आगे बताई जा रही हैं। यम मृत्युदेवता हैं और कृषिप्रधान भारतवर्ष में शरदृऋतु में मलेरिया आदि रोगों की प्रधानता रहती है, अतः उस समय यम का पूजन उचित ही है।

भारतीय संस्कृति में बहिन दया की मूर्त्ति मानी गई है—'दयाया भगिनी मूर्त्तिः' (श्रीमद्भागवत ११ स्कं.) उसके शुभाशीर्वादपूर्वक उसके हाथ से भोजन करना आयुवर्धक तथा आरोग्यकारक है, अतः शुद्ध प्रेम के प्रतीकरूप इस उत्सव को बड़े प्रेम से मनाना चाहिए।

यमुना-माहात्म्य

यमुनाजी सूर्यनारायण की पुत्री हैं। कारण यह है कि जिस प्रकार गङ्गा प्रथमतः हिमनदी (ग्लैसियर) है उसी प्रकार यमुना भी हिमनदी है। सूर्य की किरणों से उत्पन्न भाप (बाष्प) जो शुद्ध जलरूप होती है वही हिमनदी के रूप में परिणत होती है। मूलतः वही शुद्ध जल यमुना के जलरूप में आता है। शरदृऋतु से स्वच्छ किया हुआ वह यमुना-जल यदि कार्त्तिक में प्राप्त हो जाय तो सर्वरोगनिवर्तक है। यह तो भौतिक दृष्टि से यमुना का माहात्म्य है। पर आस्तिकों के लिए तो यमुना के समान किसी नदी का माहात्म्य ही नहीं है, क्योंकि परब्रह्म के पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का सम्पूर्ण सम्पर्क इसी के जल और इसी की रज से है। अन्नकूट के दूसरे दिन ऐसे पवित्र जल का पान और स्नान श्रद्धालु के हृदय को भगवल्लीलाओं के निकट सम्पर्क में ले जा सके और सब पापों की निवृत्ति कर सके इसमें सन्देह का अवकाश ही नहीं है।

यमद्वितीया का माहात्म्य

यमद्वितीया के विषय में लिखा है कि—

कार्त्तिकमास के शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन अपराह्ण के समय जो यमराज का पूजन करता है और यमुनाजी में स्नान करता है वह यमलोक नहीं देखता। कार्त्तिकशुक्ला द्वितीया के दिन पूजन और तर्पण करने से अपने प्रसन्न किंकरों से युक्त यमराज पूजा करनेवाले को वांछित फल प्रदान करते हैं। (व्रतार्क में स्कन्दपुराण से)

भगवान् कृष्ण ने कहा—हे युधिष्ठिर ! श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कात्तिक की चार द्वितीयाएँ प्रशस्त हैं। उनमें से कार्त्तिक के शुक्लपक्ष में द्वितीया के दिन यमुनाजी ने पहले अपने घर पर यमराज को भोजन कराया था और उनका सत्कार किया था, अतः यह द्वितीया त्रिलोकी में यम-द्वितीया के नाम से विख्यात है। इस दिन मनुष्यों को अपने घर नहीं खाना चाहिए। प्रयत्न करके बहिन के हाथ से खाना चाहिए। यह भोजन पुष्टि बढ़ानेवाला है। इस दिन बहनों को विशेष रूप से दान देने चाहिएँ। सब बहनों का सुवर्ण के गहने, वस्त्र, अन्न, सत्कार और भोजन द्वारा पूजन करना चाहिए। यदि सगी बहन न हो (अथवा प्राप्त न हो सके) तो प्रतिपन्ना[1] (मौसी) के हाथ से खाना चाहिए। पूर्वोक्त चारों द्वितीयाओं में बहिन के हाथ से खाना चाहिए। इससे बल की वृद्धि होती है। यह भोजन धन, यश और आयु के लिए हितकारी है। धर्म, काम तथा अर्थ का सिद्ध करनेवाला है। जिस तिथि को बहिन के प्रेम से यमुनाजी ने अपने हाथ से यमराज देव को भोजन कराया उस दिन जो बहिन के हाथ से खाता है वह सर्वोत्तम धनधान्य प्राप्त करता है। (हेमाद्रि में भविष्यपुराण से)

---

१. 'प्रतिपन्ना मातृभगिन्यः।' इति हेमाद्रिः (निर्णयसिन्धु)

जो स्त्री द्वितीया के दिन भाई को भोजन करवाती है और ताम्बूलों द्वारा सत्कार करती है वह विधवा नहीं होती और न कभी भाई का आयुःक्षय होता है। इस दिन यमराज, चित्रगुप्त और यमदूतों की पूजा करनी चाहिए। इस दिन भ्रातृमती बहनों को अर्घ्य भी देना चाहिए।

अर्घ्य देने का मन्त्र यह है—

एह्येहि मार्त्तण्डज पाशहस्त यमान्तकालोकमयाऽमरेश।
भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां गृहाण चार्घ्यं भगवन्नमस्ते॥
धर्मराज नमस्तुभ्यं नमस्ते यमुनाग्रज।
त्राहि मां किंकरैः सार्धं सूर्यपुत्र नमोऽस्तु ते॥

कार्त्तिक के शुक्लपक्ष में द्वितीया के दिन जो बहनें भाई का पूजन नहीं करतीं उनके सात जन्मों में भाई नष्ट होते हैं। (व्रतार्क में स्कन्द-पुराण से)

(भाई कहे कि) मैं तुम्हारे घर आया हूँ। हे भली बहिन, मुझे तुम कल्याणार्थ स्वादिष्ठ ग्रास खिलाओ।

भाई का कोमल वचन सुनकर बहिन शीघ्रता करती है और कहती है—हे मानदाता भाई, मैं आज तुम्हारे कारण भ्रातृमती हूँ और धन्य हूँ। तुम्हें आज मेरे मान तथा तुम्हारी आयु के लिए मेरे घर पर भोजन करना चाहिए। हे भाई, कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया के दिन अपने सगे भाई यमराज को यमुनाजी ने अपने घर सत्कारपूर्वक भोजन कराया था। इस दिन यमराज ने जो स्त्री-पुरुष कर्मपाशों से बँधे हुए स्वेच्छा से पाप-फल भोगते हैं उन्हें कर्मबन्धनों से छुड़ा दिया था। उन लोगों ने यमराष्ट्र में सुखदायी महोत्सव किया था इसलिए हे बन्धु, मेरे घर भोजन करो।

इस तरह बहन का आशीर्वाद लेकर उसे नमस्कार करे और उसकी पूजा करे। इस दिन (छोटी-बड़ी) सब बहनों की पूजा करनी चाहिए।

इस दिन छोटी-बड़ी दोनों बहनें बड़ी हैं। वित्त के अनुसार वस्त्रादिक से उनका सत्कार करना चाहिए।

भाई की आयुष्य बढ़ने के लिए बहनों को यमराज तथा चिरजीवियों की प्रतिमाओं की पूजा करनी चाहिए। आठ चिरजीवी ये हैं—मार्कण्डेय, बलि, व्यास, हनूमान, विभीषण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा और परशुराम।

(फिर मार्कण्डेय से प्रार्थना करनी चाहिए कि—)

मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवित।
चिरजीवी यथा त्वं हि तथा मे भ्रातरं कुरु॥

हे महाभाग मार्कण्डेय, आप सात कल्पों के अन्त तक जीनेवाले चिरजीवी हैं। जैसे आप हैं वैसा ही मेरे भाई को कर दीजिए। (व्रतार्क में पद्मपुराण से)।

अभ्यास

(१) यमद्वितीया कब होती है ? इसका दूसरा नाम क्या है ?

(२) इस दिन क्या करना चाहिए ?

(३) यमद्वितीया का कालविज्ञान और विधिविज्ञान समझाइए।

(४) यमुनाजी का क्या माहात्म्य है ?

(५) यमद्वितीया के माहात्म्य का सारांश कहिए।

—००:०:००—

मकरसंक्रान्ति

समय

सूर्य जिस दिन मकर राशि में प्रविष्ट हों

काल-निर्णय

संक्रान्ति के प्रवेश से अनन्तर की ४० घड़ियाँ (१६ घंटे) पुण्यकाल माना जाता है। उनमें भी २० घड़ियाँ (८ घंटे) अत्युत्तम हैं। यदि सायंकाल में सूर्यास्त से १ घड़ी (२४ मिनट) पहले प्रवेश हो तो संक्रान्ति से पूर्व ही स्नान-दानादिक करने चाहिएँ, क्योंकि संक्रान्ति के दिन रात्रि में भोजन का निषेध है और संतानयुक्त गृहस्थ के लिए उपवास का भी निषेध है। रात्रि में संक्रान्ति का प्रवेश हो तो दूसरे दिन मध्याह्न तक स्नान-दानादि किये जा सकते हैं, किन्तु सूर्योदय से ५ घड़ी (२ घंटे) अत्यन्त पवित्र हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि संक्रान्ति के जितना समीप स्नान-दानादि हों उतना उत्तम माना जाता है।

या याः संनिहिता नाड्यस्तास्ताः पुण्यतमाः स्मृताः।

शुक्लपक्ष[1] में सप्तमी के दिन यदि यह संक्रान्ति हो तो वह ग्रहण से भी अधिक मानी जाती है।

विधि

यह स्नान-दान का पर्व है। जो इस दिन स्नान[2] न करे उसके

---

१. 'शुक्लपक्षे तु सप्तम्यां संक्रान्तिर्ग्रहणाधिका।' (धर्मसिन्धु)

२. 'रविसंक्रमणे प्राप्ते न स्नायाद्यस्तु मानवः।
सप्तजन्मसु रोगी स्यान्निर्धनश्चैव जायते॥' (धर्मसिन्धु)

लिए लिखा है कि वह सात जन्म तक रोगी और निर्धन होता है। प्रयागस्नान का इस दिन विशेष माहात्म्य है। संतानरहित व्यक्ति को उपवास भी करना चाहिए। संतानवाले को उपवास का निषेध है। अधिकारी व्यक्ति को श्राद्ध भी करना चाहिए। इस दिन तिलदान और वस्त्रदान का विशेष फल है।

काल-विज्ञान

ग्रहों के घूमने के मार्ग को क्रान्तिवृत्त कहा जाता है। इस वृत्त के बारह विभाग हैं जिनको मेष, वृष इत्यादि बारह राशियाँ कहा जाता है। सूर्य भी इन १२ राशियों का एक वर्ष में परिक्रमण कर लेता है। उसके एक राशि से दूसरी राशि पर जाने को संक्रमण अथवा संक्रान्ति कहते हैं। १२ राशियों में से कर्क से धनराशि (चौथी से नवीं) तक दक्षिणायन रहता है। जिस दिन सूर्य मकर (दसवीं) राशि पर प्रवेश करता है उस दिन से उत्तरायण आरम्भ होता है। अभिप्राय यह कि सूर्य की मकरसंक्रान्ति उत्तरायण का आरम्भ है। पूर्वोक्त बारह संक्रान्तियों में से प्रत्येक संक्रान्ति का दिन पवित्र माना जाता है, पर उनमें भी अयन-संक्रान्ति (कर्क और मकर) विशेष पवित्र और उन दोनों में से उत्तरायण की संक्रान्ति देवताओं के दिनारम्भ का दिवस होने से सर्वोत्तम मानी जाती है। धर्मशास्त्रों में इस पवित्र दिवस के दिन स्नान-दानादि का विशेष फल लिखा है। सप्तमी सूर्य का दिन है— 'सप्तम्यां भास्करस्य च (अग्निपुराण)' और शुक्लपक्ष की प्रशस्तता तो पहले अनेक स्थानों पर बताई ही जा चुकी है। अतः शुक्लसप्तमी को इसकी विशिष्टता उचित ही है।

विधि-विज्ञान

स्नान और दान के गुणधर्म पहले लिखे जा चुके हैं। इस पवित्र काल में वे दोनों पवित्र कार्य अवश्य ही होने चाहिएँ, इसमें विशेष

उपपत्ति की आवश्यकता नहीं है। तिलों का उपयोग इस दिन इसलिए श्रेष्ठ माना गया है कि दानों में हमारे यहाँ गौ और भूमि के अनन्तर तिल का ही माहात्म्य है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—

'गोभूतिलहिरण्यादि पात्रे दातव्यमुत्तमम्'।

और यह समय तो शीतकाल का है। शीतकाल में तो तिल और वस्त्र जैसा दान और हो ही क्या सकता है। अतः इस दिन इनका दान अवश्य करना चाहिए। प्रत्येक धर्मकार्य में, देवता और पितर ही मुख्य हैं। अतः पितरों की तृप्ति के लिए इस दिन श्राद्ध करने का भी विधान है।

सूर्यपुत्री यमुना और भगवान् के चरणोदकरूप गङ्गाजी का संयुक्त जल ऐसे स्नान के पर्व में सर्वोत्तम समझा ही जाना चाहिए इसमें विशेष उपपत्ति अनावश्यक है।

अभ्यास

(१) संक्रान्ति कब होती है? संक्रान्तियों में मकरसंक्रान्ति की विशिष्टता क्यों मानी जाती है?

(२) इस दिन क्या-क्या कार्य होते हैं?

(३) इस दिन सप्तमी का योग क्यों प्रशस्त है?

(४) तिलदान और गङ्गा-यमुना स्नान की क्यों विशिष्टता है?

—०:०:०:०—

वसन्तपञ्चमी

समय

माघशुक्ल पंचमी

काल-निर्णय

यह पूरे पूर्वाह्न में हो तो दूसरे दिन अन्यथा पूर्व दिन करनी चाहिए।

विधि

यह उत्सव ऋतुराज वसन्त के आरम्भ का है, अतः इस दिन से होरी और धमार का गाना आरम्भ होता है। जौ और गेहूँ की बालें इत्यादि भगवान् को सबसे प्रथम अर्पण की जाती हैं। इस दिन रति और काम की पूजा का विधान है। सरस्वतीपूजन और वैदिकों का पूजन भी किया जाता है। शास्त्रों में इस दिन विष्णु भगवान्[1] के पूजन की विधि है। मथुरामण्डल और व्रज का यह महान् उत्सव है। कथा से भी इस उत्सव में भगवान् कृष्ण की ही प्रधानता सिद्ध होती है।

काल-विज्ञान

यद्यपि यह उत्सव वसन्त के आरम्भ का दिन माना जाता है, किंतु वास्तव में बवन्त का आरम्भ चैत्र मास से अथवा सूर्य के मेष राशि पर प्रवेश से होता है, अतः साधारण बुद्धि से इस दिन वसन्तारम्भ की बात समझ में नहीं आती, तथापि इस दिन वसन्तारम्भ का कारण यह है कि प्रत्येक ऋतु का ४० दिन का गर्भकाल होता है और यह दिन

---

१. 'माघे मासि सिते पक्षे पञ्चम्यां पूजयेद्धरिम् ।' (हेमाद्रि)

वैशाख कृष्ण प्रतिपदा (जो चान्द्रमास के हिसाब से वसन्तारम्भ का दिन है) से पूरे ४० दिन पूर्व पड़ता है। प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि वसन्त का कुसुमाकरत्व वसन्तपञ्चमी के आसपास ही आरम्भ होता है। आमों में बौर आ जाते हैं, गुलाब-मालती आदि खिलने लगते हैं, भौरों की गुंजार और कोयलों का आमों पर कुहूरव आरम्भ हो जाता है और जौ-गेहूँ में बालें भी इसी समय आने लगती हैं। अतः इसका वसन्तपञ्चमी नाम सार्थक ही है।

विधि-विज्ञान

वसन्तऋतु में प्रकृति स्वभावतः प्रमुदित होती-सी प्रतीत होती है। सब वृक्षों में नवीन पत्र-पुष्प आते हैं। पुरानी वस्तुएं भी नवीन होने लगती हैं। न अत्यन्त शीत रहता है, न अत्यन्त उष्णता, अतः स्वस्थ मनुष्यों में स्वतः ही विविध विहारों की इच्छा प्रकट होती है। गाने को जी चाहता है। आयुर्वेद[1] कहता है कि वसन्त में शीतकाल का कफ सूर्य की किरणों से प्रेरित होकर अग्नि को बाधित करता है और अनेक रोग उत्पन्न करता है। अतः कफ को निवृत्त करना आवश्यक है। गाने और खूब बोलने से गले में एकत्रित कफ शान्त होता है। इसीलिए वसन्तोत्सव में आनन्ददायक होरी, धमार आदि का गाना रखा गया है।

वसन्त ऋतु मदनोद्दीपक है, अतएव इस ऋतु में आयुर्वेद स्त्रियों के और काननों के यौवन के सेवन की आज्ञा[2] देता है। इस सेवन के अधिदेवता हैं काम और रति। अतः इस उत्सव में काम और रति की

---

१. वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥ (च० सं० ६।२२)

२. वसन्तेऽनुभवेत् स्त्रीणां काननानां च यौवनम्। (च. सं. ६।२६)

प्रधानरूप से पूजा की जाती है। पराधीनता के समय यद्यपि ये उत्सव शिथिल हो गए तथापि स्वतन्त्र भारत में इनका बहुत प्रचार था। (देखिए महाराज श्रीहर्ष की 'रत्नावली नाटिका' में वसन्तोत्सव वर्णन)

वेदाध्ययन के आरम्भ का भी प्रधान समय यही था। वेद कहता है 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत'। विद्या की अधिदेवता सरस्वती है, अतः इस दिन सरस्वती और सब विद्याओं के निधान वेदों के रक्षक वैदिकों का पूजन उचित ही है। वैदिकों की तो पूजा ही आजकल वसन्तपूजा के नाम से कही जाती है।

जगत् के पालनकर्ता भगवान् विष्णु और परब्रह्म के पूर्णावतार आनन्दमूर्त्ति भगवान् कृष्ण तो इस उत्सव के अधिदेवता होने ही चाहिएँ, क्योंकि यह आनन्दोत्सव है।

सारांश यह कि यह उत्सव आनन्द-विनोदमय है और इसीलिए भगवान् की लीलाभूमि व्रज में इस उत्सव की प्रधानता है।

कथा

राजा अम्बरीष ने पूछा—हे ब्रह्मन्, वसन्तोत्सव किस विधि से किया जाता है ? हे विधिज्ञों में श्रेष्ठ मुनिराज ! मुझे सब वर्णन करिए।

वशिष्ठजी ने कहा—वसन्त का आरम्भ माघशुक्ल पंचमी के दिन होता है। उस दिन सब पापों का नाशक यह उत्सव करना चाहिए। प्रातःकाल के समय (स्नानादि द्वारा) पवित्र होकर अच्छे प्रकार से भक्तियुक्त होते हुए भगवान् कृष्ण के दिव्य मन्दिर में अच्छी तरह शोभा की जाती है।

रेशमी वस्त्र, मणि, मुक्ताफल आदि के द्वारा और पत्र-पुष्प तथा फलों के द्वारा एवं विशेषतः नवीन पल्लवों की बन्दनवारों द्वारा मण्डप की शोभा करके रेशमीव स्त्र से आच्छादित बड़े सिंहासन पर गोविन्द भगवान् (श्रीकृष्ण) को विराजमान करे।

इस दिन नाना रत्नों से सुशोभित भूषणों से भगवान् को भूषित करने से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।

फिर गोविन्द के आगे गीत, नृत्य, वाद्य, सितार, मृदङ्ग, वीणा और वंशी के शब्द करने चाहिएँ। वेद के विद्वान् ब्राह्मण को व्यासरूप से बैठाकर उससे वसन्तोत्सव की कथा सुनना चाहिए, तदनन्तर दक्षिणा, गन्ध और पुष्पों से व्यास का पूजन करके वस्त्रादि द्वारा वैष्णवों का पूजन करना चाहिए। जितने श्रोता आए हों उनका भी श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए चरणामृतदान और महाप्रसाद आदि से पूजन करना चाहिए।

हे राजन्, इस प्रकार जो वसन्तोत्सव करता है वह इस लोक में परम सुख और धन-धान्य को प्राप्त होता है। इस उत्सव का करनेवाला पुरुष आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, बुद्धि और सब लोक में प्रधानता को प्राप्त करता है।

महाभाग राजा अम्बरीष ने मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजी से जब यह सुना तो उसने वसन्तपञ्चमी के दिन विधिपूर्वक उत्सव किया। उस पुण्य के प्रभाव से उसे अत्यन्त सफलता प्राप्त हुई। अतः मनुष्यों को वसन्तोत्सव सदा करना चाहिए।

श्रीपंचमी (वसन्तपंचमी) से लेकर हरिशयनी एकादशी पर्यन्त वसन्तराग गाना चाहिए। अन्य किसी ऋतु में नहीं।

अब मैं कुंजविलासिनी, कुंजेश्वरी (श्रीराधा) को नमस्कार करके यथाबुद्धि वसन्तोत्सव के कृत्य का वर्णन करता हूँ।

माघ मास की शुक्लपंचमी के दिन पूर्ण भक्तिमान् होकर श्रीकृष्ण का प्रीतिदायक वसन्तोत्सव करना चाहिए। श्रीकृष्ण की मूर्त्ति के आगे अथवा स्वरूप (वेषधारी बालक) बनाकर तीन, पाँच अथवा आठ व्रजाङ्गनाएँ बनानी चाहिएँ। अनेक प्रकार के भावों और विधानों के जाननेवाले श्यामवर्ण कमलनयन गोपालवेषधारी श्रीधर (भगवान्

श्रीकृष्ण) बनाकर उत्सव करना चाहिए। परमात्मा कृष्ण के लिए बहुत सी रोरी, बहुत से ताम्बूल के बीड़े और अनेक मिष्टान्न तयार करने चाहिएँ।

पुरुष को पुष्पों और पल्लवों की शोभा से युक्त और आम्रमञ्जरियों से सुन्दर वसन्तोत्सव बड़े भक्तियुक्त होकर मनाना चाहिए। उस दिन ऐसा सुन्दर वन बनाना चाहिए जिसमें वीणा, मृदङ्ग, ताली आदि वाद्यों से परिपूर्ण नृत्यों के द्वारा सानन्द कृष्ण को व्रजसुन्दरियाँ चारों ओर से वक्र नेत्रों द्वारा देख रही हैं, श्रीकृष्ण उन्हें सींच रहे हैं और कुंकुम की बिन्दियाँ लगा रहे हैं तथा वे भी उनको कस्तूरी, कपूर, अगर और चन्दन की सुन्दर रज के पुंजों से खिला रही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण राधाजी को ताम्बूल दे रहे हैं और राधिकाजी उन्हें दे रही हैं तथा गोपियाँ मनोहर वसन्तराग गा रही हैं।

अनन्तर सबसे पहले भगवान् को भोग लगाकर भगवान् की आरती करे और फिर भक्तों को दान, मान और भोजन द्वारा सन्तुष्ट करे।

श्रीकृष्ण का मन्दिर धूप और दीपक आदि से खूब सजाना चाहिए और वैष्णवों को आमन्त्रित करके स्वयं पूजाविधि करनी चाहिए।

(व्रतार्क में विष्णुधर्मोत्तरपुराण से)

अभ्यास

(१) वसंतपंचमी कब होती है ?

(२) यह वसन्तारम्भ का दिन क्यों माना जाता है ? जब कि नियमानुसार वसन्त ऋतु का आरंभ इस दिन नहीं होता।

(३) विधि और विधि-विज्ञान समझाइए।

(४) कथा का सारांश कहिए।

शिवरात्रि

समय—फाल्गुनकृष्ण चतुर्दशी ।

काल-निर्णय

जिस दिन अर्धरात्रि में चतुर्दशी हो उस दिन करना चाहिए। रात्रि के अष्टम मुहूर्त का नाम अर्द्धरात्रि है। यदि दोनों दिन अर्धरात्रि में न हो तो पहले दिन करनी चाहिए। यदि पहले दिन अर्धरात्रि के एक हिस्से में ही हो और दूसरे दिन पूरी अर्धरात्रि में हो तो दूसरे दिन करना चाहिए। यह व्रत रविवार, भौमवार और शिवयोग होने पर अत्यन्त प्रशस्त माना जाता है। जो वैष्णव शिवरात्रि व्रत करते हैं वे इस व्रत को भी अन्य व्रतों के समान उदयव्यापिनी चतुर्दशी में ही करते हैं।

विधि

त्रयोदशी के दिन एक समय भोजन कर चतुर्दशी के दिन उपवास करना चाहिए। काले तिलों से स्नान कर सायंकाल अथवा रात्रि में एक बार किंवा रात्रि के प्रत्येक प्रहर में षोडशोपचार से शिव-पूजा का विधान है। शिवजी के प्रिय पुष्पों में आक,[1] कनेर, विल्वपत्र और मौलसिरी मुख्य हैं। धतूरा,[2] कटेली, छोंकर (खेजड़ा) आदि के पुष्प भी शिव को बहुत प्रिय हैं। शिव-पूजन में [3]विल्वपत्र सब में मुख्य है। पत्र,

---

१. 'चतुर्णां पुष्पजातीनां गन्धमाघ्राति शङ्करः।
अर्कस्य करवीरस्य विल्वस्य वकुलस्य च।' (धर्मसिन्धु)

२. 'धत्तूरैर्बृहतीपुष्पैश्च पूजने गोलक्षफलम्।'

३. 'मणिमुक्ताप्रवालैस्तु रत्नैरप्यर्चनं कृतम्।
न गृह्णामि विना देवि! विल्वपत्रैर्वरानने!' (धर्मसिन्धु)

पुष्प और फल जैसे पैदा हुए हैं वैसे ही अर्पण करना चाहिए। विल्वपत्र अपनी तरफ अग्रभाग करके उलटा अर्पण करना चाहिए। पके हुए आम्र-फल शिव को अर्पण करने का महान फल है।

शिवजी के चढ़े हुए पुष्प, फल, जल निर्माल्य[1] कहलाते हैं। उनके ग्रहण करने का निषेध है; किन्तु शालग्राम जी के साथ शिव हों तो वह पवित्र हो जाता है। निर्माल्य न लेने का नियम ज्योतिर्लिङ्ग, स्वयम्भू-लिङ्ग और सिद्ध पुरुषों द्वारा स्थापित शिवलिङ्गों के अतिरिक्त शिवलिङ्गों के विषय में है।

कालविज्ञान

शिवतत्त्व—यह तो सभी को विदित है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाली परब्रह्म की तीन विभूतियाँ हैं (अर्थात तीन स्वरूप हैं) जिनको क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहा जाता है। तदनुसार यह सिद्ध है कि परब्रह्म का जो प्रलयकारी या संहारकारी स्वरूप है उसी का नाम रुद्र[2] अथवा शिव[3] है। उसी एक शक्ति को रुलाने के कारण 'रुद्र' और जगत् का भला करने के कारण 'शिव' इन परस्परविरोधी नामों से पुकारा जाता है। यद्यपि ऊपर से देखने पर रुद्र और शिव ये नाम परस्परविरोधी प्रतीत होते हैं, क्योंकि रुलानेवाला कल्याणकारी कैसे हो सकता है, किन्तु यदि विचार किया जाय तो यह भावना सर्वथा

---

१. 'अग्राह्यं शिवनैवेद्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम्।
शालग्रामशिलासंगात् सर्वं याति पवित्रताम्।' (धर्मसिन्धु)

२. 'रुद्रो रौतीति सतो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा।'
'यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व' मिति कण्ठकम्।
'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व' मिति हारीद्रविकम्। (निरुक्त. १०।२।१९)

३. 'शिवः श्रेयस्करत्वात्' (क्षीरस्वामी–अमर. स्वर्गव. श्लो. ३०)

भ्रमपूर्ण है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रकृति के सभी कार्यों में विनाश या प्रलय ही शिव अथवा शुभ का कारण बनता है। बिना विनाश के सृष्टि होती ही नहीं। उदाहरण के लिए किसी अन्न को लीजिए। जब तक अनाज का एक कण पृथ्वी में मिलकर विनष्ट न हो जायगा तब तक वह अनेक कणों की सृष्टि नहीं कर सकता। इसी दृष्टान्त को प्रकृत में लीजिए। बीज का मिट्टी में मिलकर बरबाद होना ईश्वर के रुद्ररूप का कार्य है और इसका पुनः अनेक रूपों में प्रकट होना शिवरूप का। यदि बीज पर रुद्र की क्रिया न होगी तो शिव की क्रिया किस प्रकार होगी। यह रुद्र और शिव की क्रिया प्रकृति में प्रतिक्षण अपनी प्रवृत्ति चालू रखती है और इसी से सारे जगत् का व्यवहार नियमित रूप से चलता है। अतः हम यदि एक ही शक्ति को रुद्र और शिव—इन दो नामों से पुकारते हैं तो यह वास्तविक स्थिति है, न कि कल्पित। इन्हीं रुद्र अथवा शिव का महोत्सव-दिवस है शिवरात्रि।

ऋतु—शिवरात्रि शिशिर ऋतु में आती है। जिस ऋतु में वृक्षों के पुराने पत्र गिरते हैं और नवीन पत्र अङ्कुरित होते हैं उस ऋतु का नाम शिशिर है। यह बात ऋतु-विज्ञान में बताई जा चुकी है। ऊपर लिखे अनुसार शिव तत्त्व वही है जो जीर्ण-शीर्ण को समाप्त करके नवीनता का रूप देता है। शिशिर ऋतु में यह वस्तु स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है। अतः भगवान् शिव के उत्सव के लिए शिशिर ऋतु उपयुक्त हो सकती है।

मास—शिशिर ऋतु में माघ और फाल्गुन ये दो मास होते हैं। उनमें से माघ मास में पत्रों का शीर्ण होना आरम्भ मात्र होता है, किन्तु शिव का असली स्वरूप, नवपल्लवों का अङ्कुरित होना, फाल्गुन में ही प्रकट होता है। अतः फाल्गुन मास इस उत्सव के लिए रक्खा गया है।

पत्त—ऊपर बताया जा चुका है कि शिव या रुद्र भगवान् की संहारकारिणी शक्ति का नाम है। यह भी कहा जा चुका है कि चन्द्रमा से प्राप्त होनेवाले सोमरस के द्वारा सभी प्राणियों का जीवन चलता है। कृष्णपक्ष का अन्तिम भाग चन्द्रकलाओं की समाप्ति का सूचक है। अतः परब्रह्म की संहारक विभूति भगवान् रुद्र का कृष्णपक्ष के अन्त में ही उत्सव मनाना उचित है।

तिथि—प्रश्न हो सकता है कि—सोमरस देनेवाली चन्द्रकलाओं के संहार का यथार्थ समय तो अमावस्या है, फिर यह उत्सव अमावस्या को न मना कर चतुर्दशी को क्यों मनाया जाता है। इसका उत्तर यह है कि ईश्वर ने यह नियम रक्खा है कि पूर्णतया समाप्ति या मृत्यु के अनन्तर प्रकृति किसी भी वस्तु को पुनरुज्जीवित नहीं करती। जब तक थोड़ी बहुत भी जीवनकला अवशिष्ट रहती है तभी तक मंत्र, औषध और भगवत्प्रार्थना आदि जीवन के साधन काम किया करते हैं। इसी नियम को समझाने के लिए भगवान् शिव का महोत्सव चतुर्दशी को रक्खा गया है, तब तक जीवनदाता चन्द्रमा की एक कला अवशिष्ट रहती है।

अर्धरात्रि—कहा जा सकता है कि यह सब तो ठीक, किन्तु उत्सव मनाने का मुख्य समय अर्धरात्रि ही क्यों ? इसका भी उत्तर यही है कि जब निराशारूपी अन्धकार पूर्णतया घेर ले उस समय ही भगवान् का संहारकारी स्वरूप, जिसे काल कहते हैं, प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा उसकी चेष्टाओं को बार-बार देखते रहने पर भी माया-मोहित मानव प्रभु की तरफ आवर्जित नहीं होता। अतः यह बताने के लिए ही कि जब निराशा की घनी अँधेरी छा जावे और आशा की किरण मात्र भी दिखाई न देती हो वही समय भगवान् मृत्युञ्जय की आराधना का है। अर्धरात्रि का समय मुख्यतया रखा गया है। मृत्युञ्जय की आराधना का इससे अच्छा और कौन-सा समय हो सकता है।

विधि-विज्ञान

उपवास और प्रतिमा-पूजा के विषय में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ केवल दो बातों के विषय में विचार करना है। शिवलिङ्ग-पूजा और शिवजी की पूजा सामग्री।

१. शिवलिङ्ग-पूजा—आजकल कई लोग यह समझते हैं कि लिङ्ग-पूजा द्राविडों से अथवा यों कहिए अनार्य लोगों से आई हुई वस्तु है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ऐसा कहना कल्पित प्रतीत होता है, क्योंकि रुद्र और शिव का वर्णन वेदों में बार-बार प्राप्त होता है। वेदों के उन भागों को पढ़ने से ऐसी कोई बात सिद्ध नहीं होती कि शिवपूजा आर्यों के अतिरिक्त अन्य लोगों से ली गई है। यह कल्पना विदेशियों ने केवल इस बल पर की है कि लिङ्गपूजा असभ्यों में ही हो सकती है। किन्तु लिङ्गपूजा में न तो कोई ऐसी असभ्य वस्तु ही है और न उसका असभ्यता से सम्बन्ध ही है। लिङ्ग शब्द का अर्थ 'लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञापक अर्थात् ठीक पहिचान करानेवाला अथवा हेतु होता है। परब्रह्म के दो रूप माने जाते हैं—एक सगुण साकार और दूसरा निर्गुण निराकार अथवा लौकिक गुणों और आकार से शून्य। उस निर्गुण निराकार के रूप की कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए उसे जगत्कर्ता के रूप में मान कर निराकार की साकार में कल्पना करने के लिए ज्ञापक के रूप में पूजा की जाती है। इसका अभिप्राय यह है—यद्यपि शिव को वास्तविक रूप में समझना कठिन है तथापि उसकी सृष्टि अथवा संहारकर्त्ता के रूप में इस ज्ञापक के द्वारा आराधना की जानी चाहिए। मूलरूप का ज्ञापक जिसे लिङ्ग कहा जाता है असीम अथवा गोल ही हो सकता है, क्योंकि जिसके कोने होते हैं उसकी सीमा हो जाती है। अतः उस रूप को अनादि अनन्त जताने के लिए शिव की लिङ्ग

रूप में ही पूजा की जाती है। अतः असभ्यता की कल्पना करना मूर्खतापूर्ण है।

२. शिवपूजा की सामग्री—ऊपर बताया जा चुका है कि भगवान् की संहारकारिणी शक्ति ही रुद्र या शिव रूप में मानी जाती है। इसलिए उनकी पूजा-सामग्री में भी वे ही वस्तुएँ ली जाती हैं जो वास्तव में जगत् में भयङ्कर प्रतीत होती हैं। जैसे कि आक, धतूरा आदि। आभूषण रूप में सर्पादि और जहरीली चीजें भी शिव को इसीलिए अर्पण की जाती हैं। बिल्व-पत्र भी—'बिलति भिनत्तीति बिल्वः।' (क्षीरस्वामी) इस व्युत्पत्ति के अनुसार भेदक होने के कारण शिव के प्रिय पत्रों में माना गया है। बात भी ठीक है—मृत्युञ्जय वही हो सकता है जो संसार में प्रसिद्ध मृत्यु के साधनों के द्वारा पराहत न हो, जिस पर मृत्यु के साधन अपना प्रभाव न डाल सकें। सो यह बात शिवजी की पूजा-सामग्री से सिद्ध है। सामान्य पूजा-सामग्री तो अन्य देवों के समान है।

कथा

सूतजी ने कहा—कैलाश पर्वत का सुन्दर शिखर है, जो अनेक प्रकार की धातुओं से विचित्र वर्णवाला है, अनेक वृक्षों से व्याप्त है, नाना भांति के पुष्पों से शोभित है, नवीन सूर्य के समान प्रकाशमान है, तपे हुए सोने के समान कान्तिवाला है और नाना वर्ण की स्फटिक मणियों से जिसमें सिढ़ियाँ बनी हुई हैं। उस शिखर की एक चट्टान पर अति शान्त, देवों के देव, जगद्गुरु, पाँच मुखवाले, दशभुजावाले त्रिनेत्र शिव बैठे हुए थे। शिवजी के हाथ में शूल था, अङ्ग में भस्म लगी हुई थी और सर्पों से शोभित हो रहे थे। चन्द्रशेखर शिव की कान्ति नीले बादल के समान और प्रभा कोटिसूर्यों के समान थी। उन्होंने कपाल, खट्वाङ्ग, ढाल, तलवार एवं पिनाक (धनुष) धारण

कर रक्खे थे। यद्यपि शिवजी का रूप भयंकर था तथापि वर मुद्रा द्वारा वे सबकी इच्छाओं को पूरी करते थे और अभय मुद्रा द्वारा उन्हें देखते ही भय निवृत्त हो जाता था। प्रमथ आदि गणों ने उन्हें घेर रक्खा था और क्रीडा में तत्पर थे। ऐसे समय श्री महादेवजी को एकाकी पाकर सब देवताओं को विसर्जन करके हँसती हुई विकसित-नयना पार्वती ने पूछा।

देवी पार्वती ने कहा—हे देवदेवेश! आप सब व्रतों में उत्तम गुप्त व्रत का वर्णन करें। मैंने बहुत से व्रत, नियम, अनेक दान और धर्म एवं तप किए हैं। अनेक तीर्थों में भी गई हूँ, किन्तु हे विभो! हे नाथ! फिर भी मेरा सन्देह निवृत्त नहीं हुआ। मुझे आपने अभी तक चक्कर ही दिया है। हे त्रिपुरनाशक! जो व्रत सब व्रतों में उत्तम तथा भोग-मोक्ष देनेवाला हो उसको मैं आपसे सुनना चाहती हूँ।

श्री महादेवजी ने कहा—हे देवि! सुनो, सब व्रतों में उत्तम एक गुप्त व्रत मैं तुमको सुनाता हूँ। इस व्रत को मैंने किसी से नहीं कहा है। यह अत्यन्त गोप्य और मुक्तिदायक है। जिस व्रत के करने से यमराज भी दर्शन नहीं देता—उस व्रत को मैं कहूँगा—तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो।

माघ[1] और फाल्गुन के बीच में जो कृष्णपक्ष में चतुर्दशी होती है, उसे शिवरात्रि जानना चाहिए। यह सब यज्ञों से भी उत्तमोत्तम है। दान-यज्ञ, तपोयज्ञ तथा अन्य बहुत दक्षिणावाले यज्ञ शिवरात्रि के व्रत की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकते। यह कृष्णपक्ष की रात्रि क्लेश मिटानेवाली, यमलोक का निवारण करनेवाली और भोग मोक्ष देनेवाली है। हे वरानने! यह सत्य है, सत्य है।

पार्वती ने पूछा—शिवरात्रि के व्रत करनेवाले यमपुरी को छोड़कर

---

१. यह कथन अमान्त मास की दृष्टि से है।

शिवलोक किस प्रकार जाते हैं? हे प्रभो! इसका मुझे प्रत्यक्ष करवाइए अर्थात् स्पष्टरूप से समझाइए।

महादेवजी ने कहा—हे देवि! सुनो, मैं तुमसे पुराण की एक महाकथा कहूँगा, जिसको सुनकर मनुष्य सब पापों से छूट जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। अत्यन्त पापी भील के लिए शिवरात्रि किस प्रकार यम की आज्ञा को नष्ट करनेवाली तथा शिवलोक की देनेवाली हुई?

पहले कल्प में एक जीवघाती भील था। वह म्लेच्छ देशों में रहता था और पहाड़ों के समीप घूमा करता था। सदा राज्य की सीमा पर रहता और कुटुम्ब का पोषण करता था। उसका शरीर पुष्ट और काला था। धनुष हाथ में रखता, काला जामा पहनता, गोह के चमड़े के अंगुलित्राण (हाथ के मोजे) बाँधे रहता, कमर में तरकस रखता था। सदा पाप में लगा रहता और जीवहिंसा में तत्पर था। बाघ, चीता, भालू, हरिण, वानर, सेह, बघेरे, खरगोश, रीछ, सूअर, सियार आदि पशुओं को और तोते, पपीहा, टिटहरी आदि पक्षियों को इस तरह अनेक जीवों को मारकर अपनी जीविका चलाता था।

हे देवि! एक समय चतुर्दशी के शुभ दिन में वह बाएँ हाथ में धनुष और दाएँ हाथ में बाण लेकर अनेक प्राणियों से भरे हुए भयंकर जङ्गल में पहुँचा। जङ्गल अनेक पेड़ों से भरा हुआ था। जीवों के मारने की इच्छा से उसने वन में जाकर चौतरफ हरिणों को ढूँढ़ना आरम्भ किया। धनुष पर डोरी चढ़ा रक्खी थी और कुछ बाण भी निकाल रक्खे थे। हरिणों के पदचिह्न और पगडंडियों को देखता हुआ मांस का लोभी वह इधर-उधर दौड़ने लगा। उसका मन चक्कर खा रहा था और वह वन-पर्वतों में घूम रहा था। हरिण, सूअर और चीतल मिलते ही नहीं थे और पहले ही ओझल हो जाते थे। व्याध बड़ा निराश हुआ। यों करते-करते सूर्य-अस्त हो गया। पास में एक तालाब था। उसे

देखकर उस पापबुद्धि ने सोचा आज रात्रि में मैं अवश्य ही तालाब में जीव मारूँगा। इसमें कोई सन्देह नहीं। इसमें मेरी जीविका चल सकेगी और कुटुम्ब भी तृप्त हो जायगा। इस तरह सोचकर वह तालाब की तरफ चला और जलाशय के समीपवर्ती बिल्व के पेड़ के नीचे जा बैठा।

बिल्व के पेड़ की जड़ में एक शिवजी का बड़ा भारी लिङ्ग था। व्याध ने वृक्ष के पत्ते अपने दाहिने हाथ में लिए और दाहिने भाग में स्थित शिव के मस्तक पर डाल दिए। लिङ्गपूजा के प्रभाव से हे वरानने! उस व्याध के वाणों के दायरे में कोई भी हरिण न आ सके। इस तरह विल्व के पेड़ के नीचे उसका पहला प्रहर व्यतीत हो गया।

इसके बाद एक गर्भवती हरिणी पानी पीने आई। हरिणी जवान थी, सुडौल थी और दशों दिशाओं की तरफ चकित होकर झाँक रही थी। शिकारी ने भी उसे देख लिया। वह वाण के दायरे में आ गई। उसने धनुष पर बाण चढ़ाया और सावधान चित्त से पत्ते तोड़कर शिवजी के ऊपर डाले। ठंड से पीड़ित होने के कारण शिव-शिव का ध्यान करता हुआ हरिणी को मारने की इच्छा से विमोहित होकर खड़ा रहा। इसी बीच हरिणी ने शिकारी को देख लिया। उसने डरते हुए काल के समान शिकारी का रूप देखा। धनुष और वाण लिए हुए उसको यमराज के समान देखकर हरिणी ने दिव्य वाणी से शिकारी से कहना शुरू किया। 'हे सब जीवों के काल! महाव्याध! जरा स्थिर हो जाइए। हे मेरे स्वामी, तुम मुझे क्यों मार रहे हो ?' व्याध ने कहा—'हे शोभने! मेरा कुटुम्ब भूख से पीड़ित है। उसका मैं सदैव हरिणादिक के मांस के भोजन द्वारा पालन करता हूँ। मेरे घर में अनाज नहीं है, इसलिए मैं तुम्हें मार रहा हूँ।

शिवजी ने कहा—हे पार्वती ! एक प्रहर की पूजा के प्रभाव से, जागरण से, तथा उपवास से व्याध पाप के चतुर्थांश से मुक्त हो गया था। इसलिए मनुष्य के समान बोलती हुई उस हरिणी को देखकर उसे परम आश्चर्य हुआ। कुछ धर्मयुक्त होने के कारण उसने वाण को समेटा और सुन्दर बोलनेवाली उस हरिणी से कहने लगा। व्याध ने कहा—'मैंने उत्तम, मध्यम और अधम अनेक जीवों को मारा है, परन्तु वनवासी पशुओं की ऐसी वाणी नहीं सुनी। तुम किस वंश में उत्पन्न हुई हो ? कहाँ से आई हो ? कृपा कर मुझे बताओ। मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है।'

हरिणी ने कहा—हे श्रेष्ठ व्याध ! सुनो। तुमसे सब हाल कहती हूँ। मैं जो हूँ और जहाँ से इस पृथिवी पर आई हूँ। मैं पहले स्वर्ग में इन्द्र की अप्सरा रम्भा थी। अत्यन्त रूप–लावण्य और सुन्दरता के कारण मुझे बड़ा घमण्ड था। मैंने सुन्दरता के बल से अभिमत्त अत्यन्त बलवान दानव हिरण्याक्ष को, जो मेरे पास आया था, चुपचाप पति बना लिया। मैंने बहुत समय तक उसके साथ यथेष्ट भोग किया। दूसरे दिन मैं उसके साथ खेलती रही। जब मैं खेल रही थी उस समय शिवजी के आगे दिव्य ताण्डव नृत्य आरम्भ हुआ। तदनन्तर ज्यों ही मैं वहाँ पहुँची त्यों ही शिवजी ने मुझसे कहा—सच्ची-सच्ची बात मुझे बता, नहीं तो मैं तुझे शाप देता हूँ। शाप के डर के मारे मैंने शङ्कर के सामने कहा—'हे देव ! हे शाप और अनुग्रह करनेवाले ? सुनिए, मैं बताती हूँ। बल के कारण घमण्ड में चूर एक दानव मेरा प्राण–समान भर्त्ता है। उसके साथ मैं अपने घर पर बिहार करती रही। हे सृष्टि–स्थिति–संहार करनेवाले ! देव ! इसलिए मैं नहीं आने पाई।' शिवजी मेरा वचन सुनकर कुपित हुए और बोले—

शिवजी ने कहा—'कामातुर महासुर हिरण्याक्ष हरिण बनेगा और तू

उस की स्त्री होगी। इसमें कोई संदेह नहीं। तू स्वर्ग तथा देवताओं को छोड़कर दानव के भोग के योग्य है, इसलिए कुछ अधिक बारह वर्ष तक सुख से रहित रहेगी और परस्पर के शोक से तुम्हारे शाप का अन्त होगा'। फिर शङ्कर ने स्वयं ही अनुग्रह किया और कहा—'जिस समय मेरे सम्मुख व्याध आवेगा और वाण को सामने रखकर उसके पूछने पर तू पूर्वजन्म का स्मरण करेगी। वहाँ पर स्थित मेरे लिङ्ग का दर्शन करके तेरा छुटकारा होगा। हे रम्भोरु! तब तू शीघ्र ही अपने स्वरूप को प्राप्त हो जावेगी।'

हरिणी ने कहा—'इस तरह शिवजी के शाप से मैं पृथिवी पर हरिणी हो गई हूँ। वन में यत्नपूर्वक रहते हुए मैंने शिवजी के दर्शन किये हैं, तब से मैं दुःखी हो रही हूँ। न मेरे अन्दर मांस है न चरबी और विशेषतः मैं गर्भाक्रान्त हूँ, इसलिए अवध्य हूँ। यह निश्चित है। तुम भी मुझे गर्भ-पीड़ित और दुर्बल समझ कर छोड़ दो और मत मारो! मेरे मारने पर भी सकुटुम्ब तुम्हारा भोजन नहीं हो सकेगा। इसी रास्ते से एक दूसरी हरिणी आवेगी, वह पुष्ट है, जवान है, उसमें मांस भी अधिक है और बड़ी मदमत्त है। उस हरिणी से कुटुम्बसहित तुम्हारा भोजन हो सकेगा। इसलिए हे अच्छे व्याध! मुझको तुम छोड़ दो। मैं प्रातः काल ही बच्चा पैदा करके और उसे सखी को देकर आ जाऊँगी। इसके लिए मैं तुम्हारे सामने शपथ करती हूँ। इसमें कोई संदेह नहीं।'

शिवजी ने कहा—हरिणी के इस वचन को सुनकर व्याध बड़े आश्चर्य में पड़ गया। उसने एक क्षणभर सोचा और फिर हरिणी से कहा—'यदि तुम न आओगी तो मेरा प्राणान्त हो जायगा। मैं भूख से पीड़ित हूँ और कुटुम्ब तो और भी अधिक भूख से पीड़ित है। इसलिए तुम मेरे घर अवश्य आना। अब तुम शपथ खाकर जाओ जिस से मुझे विश्वास हो जावे।'

शिवजी ने कहा—इस तरह व्याध के वचन सुनकर गर्भ-पीड़ित हरिणी ने व्याध के आगे बार-बार सत्य प्रतिज्ञा की–'हे व्याध ! जो द्विज होकर वेद से भ्रष्ट हो जाता है, स्वाध्याय तथा संध्या से रहित होता है, सत्य तथा पवित्रता से वर्जित होता है, न वेचने की वस्तुएं वेचता है, न माँगने की चीजें माँगता है, यदि मैं न आऊँ तो उसके पाप से लिप्त होऊँ। कोई दान दे रहा हो उसके बीच में जो विघ्न करे उस पापी के पाप से लिप्त होऊँ। यदि मैं न आऊँ तो० । जो प्रदोष के समय संस्कृत भाषण करता है, अथवा जो अनध्याय में पढ़ता है, मैं यदि न आऊँ तो उन दोनों के पाप से लिप्त होऊँ। जो दीपक से दीपक जोड़ता है अथवा पैर से पैर धोता है, यदि मैं० । जो दुष्ट मनुष्य पालनकर्त्ता स्वामी को, मित्र को, अपने आपको, बालक को, ब्राह्मण को, और गुरु को मारता है, यदि मैं न० । जिस पुरुष के दो स्त्रियाँ हों और वह द्वेष के कारण एक को छोड़ दे–यदि मैं न० । जो अधम पुरुष एक हल में तीन बैलों को जोते–यदि मैं न० । एक बार दी हुई लड़की को जो दूसरी बार देना चाहता है यदि मैं न० । कथा कहते समय जो विघ्न करे, यदि मैं न०··· । जो हमेशा लोगों की तथा वेदों की निन्दा करे यदि मैं न०··· । जिसके रखेल स्त्री हो और विशेष कर ब्राह्मणी, यदि मैं न०··· । जो ब्राह्मण रस का लोभी हो कर श्राद्ध का अन्न खाता है– यदि मैं न०··· । जो अकेले मीठा खा लेता है, स्त्री, पुत्रों का पोषण नहीं करता–यदि मैं न०··· । जो लोभ के कारण कन्या को योग्य वर को नहीं देता, यदि मैं न०··· । जो धूर्त गाँव को धोखा देनेवाला और दुष्ट युद्ध करनेवाला है, यदि मैं न०··· । जो धोखेबाज है, कुशील है और पर-स्त्री में आसक्त है, यदि मैं न०··· । जो ब्राह्मण वेद वेचता है, मुर्दे के सूतक में भोजन करता है, जो पुत्र होकर माता-पिता का पोषण नहीं करता, यदि मैं न०··· । जो मुर्दे का शय्यादान लेता है यदि मैं न०··· । जो लोग अवैष्णव हैं और जो दम्भी ब्राह्मण हैं यदि

मैं न०… । जो कृतघ्न है, लम्पट है, दूसरे के दोषों को प्रकाशित करता है, बगुले का सा व्यवहार करता है, कपट युद्ध करता है, दासी का पति है, सूद से गुजारा करता है, माता-पिता को प्रत्युत्तर देता है, यदि मैं न०… । जो ब्राह्मणों की निन्दा करता है, जो दुष्ट है, पतित है, और अत्यन्त पापी है, जो झूठे शास्त्रार्थों में लगा रहता है, पुराणों के अर्थों से रहित है, जो दुष्कर्म में लगा हुआ है, क्रूर है, स्मृत्युक्त धर्म से वर्जित है, पाखण्ड में लगा हुआ है, मूर्ख है, तिल बेचता है, यदि मैं०… ।

शिवजी ने कहा—इस तरह हरिणी के वचन सुनकर शिकारी का मन प्रसन्न हो गया। उसने बाण समेट लिए। हरिणी को छोड़ दिया। उसके छोड़ने के प्रभाव से अथवा लिङ्ग-पूजा के प्रभाव से हे पार्वति! उसी समय वह सब पापों से मुक्त हो गया।

दूसरा पहर आने पर महानिशा की मध्य रात्रि में भी व्याध शिव-शिव कहता रहा और उसको निद्रा नहीं आई। इतने में दूसरी हरिणी तालाब में जल पीने के लिए चकित होकर दशों दिशाओं की तरफ देखती हुई आई। बिल्ववृक्ष के अन्दर बैठे हुए शिकारी ने उसको देखा और बिल्वपत्र लेकर शिवजी पर डाले। शिकारी ने प्रसन्न होकर अपने कुटुम्ब के पोषण के लिए धनुष पर बाण चढ़ाया और ज्यों ही खींचकर उस हरिणी पर बाण छोड़ता है त्यों ही हरिणी ने भी इसे देखा और अत्यन्त विह्वल हो गई। वह कामातुर हरिणी अपने चित्त में सोचने लगी—हे विधाता! इस व्याध ने मेरी बहिन को अवश्य मार दिया होगा। उसके मर जाने पर दुःखिनी मुझे जीकर क्या करना है! मर जाना अच्छा, परन्तु अपने प्रियतमों का अति दारुण शोक बहुत बुरा है—इस तरह सोचकर हरिणी ने उस महापापी, धनुष पर बाण चढ़ाए, भयङ्कर व्याध से कहा—'हे धनुषधारी, सब जन्तुओं के विनाशक व्याध, तुम मुझे एक वचन दो फिर मुझे मार डालना।

हे सुव्रत ! इस रास्ते से एक गर्भवती हरिणी आई थी अथवा नहीं ? यह मुझे सच-सच बता दो।'

शिवजी ने कहा—यह सुनकर व्याध के नेत्र आश्चर्य से विकसित हो गए। उसने धनुष से बाण को समेटा और हृदय में सोचने लगा। जैसी बोली उसकी थी वैसी ही इसकी भी है। क्या प्रतिज्ञापालन के लिए यह वही तो नहीं आ गई है अथवा जिसके विषय में उसने कहा था वह दूसरी आई है। इस तरह सोचकर व्याध ने हरिणी से कहा—'हे हरिणी ! मेरा वचन सुनो। वह हरिणी अपने घर चली गई उसने सत्य वचन से मुझसे छुटकारा पा लिया है। मैं कल सारे दिन और आज की रात्रि भर से इस जङ्गल में दुःख पा रहा हूँ। इसलिए तुझे अवश्य मारूँगा। तू इष्ट देवता का स्मरण कर।'

शिवजी ने कहा—व्याध के वचन सुनकर हरिणी बड़ी दुःखी हुई। वह रोती हुई व्याध से दीन वचन कहने लगी—'मेरे न मांस है, न चरबी है, यहाँ तक कि देह में रुधिर भी नहीं है, जो मेरी कान्ति थी वह भी विरहानल से दग्ध हो गई। मैं प्राण छोड़ दूँगी, पर तुम्हरा भोजन नहीं होगा। इस बात को अपने हृदय में विचार कर मुझे मत मारो ? यहाँ मांस, मेद से युक्त अत्यन्त पुष्ट दूसरा मृग आवेगा—उसे यदि तुम मारोगे तो कुटुम्बसहित तुम्हारा तीन अथवा चार दिन भोजन चल सकेगा। मैं तो मांसरहित एवं दुर्बल हूँ। हे व्याध ! इस रास्ते से वह अवश्य आवेगा। उसे मारकर तुम सुखी और तृप्त हो सकोगे।'

शिवजी ने कहा—यह सुनकर व्याध बार-बार सोचने लगा कि हरिणी निःसन्देह बात कर रही है, किन्तु मुझे निश्चय नहीं होता। इस तरह मन में विचार कर यद्यपि वह जीवघाती क्षुधा से पीड़ित था तथापि उसने हरिणी से कहा—'पहले तुम शपथ खाओ, जिससे मुझे विश्वास हो जाय। फिर मैं तुम्हें उसी प्रकार छोड़ दूँगा।'

शिवजी ने कहा—इस तरह उसके वचन सुनकर शोक से विह्वल हरिणी ने व्याध के सामने बार-बार सत्य प्रतिज्ञा की।

हरिणी ने कहा—'जो क्षत्रिय रण छोड़कर लौटता है यदि मैं पुनः न आऊँ तो उसके पाप से लिप्त होऊँ। जो मनुष्य प्राणियों की प्राण-हिंसा में लगे रहते हैं यदि……। जो पापी कथा कही जाती हो, अथवा धर्मोपदेश होता हो उसमें विघ्न करता है और जो श्रद्धाहीन होता है। यदि……।'

शिवजी ने कहा—यह सुनकर उस व्याध ने हरिणी को छोड़ दिया। हरिणी ने जल पिया और वह शीघ्र ही आँखों से ओझल हो गई। इस तरह बिल्व के नीचे बैठे हुए उस व्याध का तीसरा पहर बीत गया। उसने फिर पत्ते तोड़े और शिवजी पर डाले।

तब व्याध ने एक विशाल नेत्रवाले हरिण को देखा। वह चकित होकर दिशाओं को देख रहा था और हरिणी के पैरों को पहचान रहा था। हरिण सुन्दरता और बल के घमण्ड से मदोन्मत्त और अत्यन्त पुष्ट था। उसे देखकर व्याध ने धनुष की डोरी पर बाण चढ़ाया। कान तक खींचकर ज्यों ही वह हरिण को मारने के लिए बाण छोड़ता है त्यों हीं हरिण ने उसको देखा। उस कालरूप व्याध को देखकर हरिण ने मन में सोचा। आज मेरी मृत्यु निश्चित होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं। मेरी दोनों स्त्रियों को इस व्याध ने अवश्य मार ही दिया होगा। दोनों स्त्रियों से रहित मेरी भी अवश्य मृत्यु हो जावेगी। हाय! मैंने कौन सा पाप किया था, जिससे मुझको स्त्री का दुःख प्राप्त हुआ। स्त्री के सुख के समान सुख न घर में है न वन में। स्त्री के बिना धर्म नहीं हो सकता, काम-सिद्धि तो खासकर हो ही नहीं सकती। स्त्री के बिना अर्थ (धन) से भी क्या प्रयोजन ? पुरुषों के धर्म, अर्थ, काम में स्त्री सहायक है। विदेश जाने पर विश्वास देनेवाली भी वही

है। वह जंगल भी धर्म-युक्त है, जहाँ प्रिया रहती है और प्रिया से हीन महल भी घोर जंगल से अधिक है। स्त्री के समान न कोई सम्बन्धी है, न स्त्री के समान कोई सुख है और दुःखी मनुष्य के लिए स्त्री के समान कोई औषध भी नहीं है। जिसके घर में सती, साध्वी, प्रियवादिनी स्त्री नहीं है उसको जंगल में चले जाना चाहिए, क्योंकि उसके लिए जैसा जंगल वैसा ही घर। हाय! किस पाप से मैं स्त्रियों से रहित हो गया। इस तरह सोचकर उसने व्याध से कहा—'हे नरश्रेष्ठ! हे मांसाहार करनेवाले व्याध! जो वाक्य मैं आपसे पूछता हूँ उसका उत्तर (कृपा करके) एक बार दे दीजिए। दो हरिणियाँ यहाँ आई थीं। वे किसी रास्ते से घर चली गईं या आपने मार दीं। सच-सच कहिए।'

शिवजी ने कहा—उसके वचन सुनकर व्याध ने सोचा—यह भी कोई साधारण हिरण नहीं है। कोई देवता होना चाहिए। इस तरह मन में सोचकर उसने डोरी से वाण हटाया और अत्यन्त आश्चर्ययुक्त होकर हरिण से बोला—'वे दोनों इस रास्ते से अपने घर चली गईं। उनमें से जो पीछे आई थी, हे मृग! वह तेरी स्त्री ऋतुमती थी। उसने तुझे मुझको दे दिया है। इसलिए मैं तुझे मारूँगा। किसी प्रकार नहीं छोड़ूँगा।'

शिवजी ने कहा—इस तरह उसका वचन सुनकर हरिण भय से घबरा गया और दीन होकर उसने व्याध से कहा—'उन्होंने कौन सा वचन तुम्हारे आगे कहा? जिससे तुमको भरोसा हो गया और तुमने दोनों हरिणियों को छोड़ दिया।'

शिवजी ने कहा—हरिण के कहे वचन सुनकर हे कमलनयने पार्वति! व्याध ने उनके किये हुए सब शपथ कहे। व्याध के मुख से उन शपथों को सुनकर मृग प्रसन्न हुआ और व्याध से बोला—'हे व्याध! मेरी स्त्रियों ने जो तुम्हारे आगे शपथ किए हैं उन्हें मैं भी

करता हूँ जिससे तुम्हें विश्वास हो जाय। जो पहले आई थी वह मेरी प्रिया गर्भवती है और जो पीछे आई थी वह ऋतुमती है। मेरी देह बड़ी मोटी है—इसे तुम घर न ले जा सकोगे। मेरा यहाँ मारना तुम्हारे लिए व्यर्थ होगा। इसलिए मैं अपने घर जाकर ऋतुमती से संभोग करके और बन्धु-बान्धवों से मिलकर तुम्हारे घर पर आ जाऊँगा। इसके लिए मैं शपथ करता हूँ। तुम सन्देह मत करो।'

शिवजी ने कहा—व्याध ने हरिण के इस वचन को सुनकर हरिण से कहा—हे धूर्त्त! तू झूठ बोलता है और मुझे धोखा देता है। भला, जहाँ अपनी मृत्यु हो वहाँ कौन मन्दबुद्धि जाता है।

शिवजी ने कहा—हे सुरवन्दिते! व्याध का वचन सुनकर हरिण शपथ करने को उद्यत हुआ और व्याध से बोला—हे महाभाग व्याध! मेरा वचन सुनो। मैं जो शपथ करता हूँ उनको कान लगाकर सुनो। हरिण का कहा सुनकर व्याध ने कहा—अच्छा तुम मेरे सामने मेरे भरोसे के लिए शपथ करो। मैं तुम्हें शीघ्र ही तुम्हारे घर भेज दूँगा।

शिवजी ने कहा—व्याध के ऐसे वचन सुनकर हरिण ने व्याध के आगे बार-बार सत्य प्रतिज्ञा की। हरिण ने कहा—'जो स्त्री पति को धोखा दे, जो सेवक स्वामी को धोखा दे, जो मित्र मित्र को धोखा दे, जो गुरुद्रोह करे, जो तालाब तोड़े और महल गिरावे, यदि०······। जो ब्राह्मण हमेशा भटकते रहते हैं, लेन-देन करते हैं, सन्ध्या-स्नान से हीन होते हैं, वेद-शास्त्र से वर्जित होते हैं, सत्य, शौच और वैश्वदेव से वर्जित होते हैं, यदि०······। जो क्षत्रिय स्वामी को युद्ध में छोड़कर भाग जाते हैं, ब्राह्मणों की और अपनी सत्यवादिनी स्त्री की निन्दा करते हैं, जिनके देश, पुर और ग्राम में वेद-शास्त्रविरोधी रहते हैं यदि······। जिस राजा के देश में लोग सूर्य, विष्णु, महेश, गणेश और पार्वती

को छोड़कर अन्य देवताओं का पूजन करते हैं यदि०……। जो शूद्र तीनों वर्णों की सेवा नहीं करता और ब्राह्मण के वाक्यों को छोड़कर पाखण्ड में लगा रहता है, यदि……। जो पापी लोग जप, तप, तीर्थ-यात्रा, संन्यास और मन्त्र-साधन नहीं करते यदि०……। जो ब्राह्मण होकर तिल, तेल, घी, शहद, नमक, खांड, गुड, लोह, इत्र, विविध प्रकार के फल, क्षार और बहेड़े बेचता है, यदि०……। जो शूद्र मद-मोहित होकर मदिरा बेचता है, यदि०……। जो गाय को पैर से छूता है, सूर्योदय के समय सोता है, अकेला हवेली में बैठकर मिष्टान्न खा लेता है, माता-पिता का पोषण नहीं करता है, यज्ञ-यागादि का नाम लेकर माँगता है, जो बेटी के धन से जीता है, जो देवता तथा ब्राह्मणों का निन्दक है, यदि०……। जो आह्निक और हन्तकार नहीं करते, अतिथियों का पूजन नहीं करते और केवल अपना ही पेट भरते हैं, दुराचारी हैं, देव-द्रव्य का हरण करते हैं, स्वामी की निन्दा करते हैं, ब्रह्मघ्न होते हैं, गुरु के निन्दक होते हैं, जो वेद को स्वर और लक्षण से हीन पढ़ते हैं, यदि०……। जो महापवित्र सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण में कुरुक्षेत्र में, हव्य-कव्य से रहित होकर सदा दान ग्रहण करते रहते हैं, यदि०……। जो जहाँ-कहीं भटकता हुआ वेद-पाठ करता है अथवा पढ़ते हुए ब्राह्मण से जो अन्त्यज वेद सुनता है यदि०……। जो नारी रूप-यौवन से गर्वित होकर धन-हीन कुरूप और रोगी पति का सत्कार नहीं करती यदि०……। अथवा तुम्हारे सामने बहुत कहने से क्या फल। यदि मैं तुम्हारे पास न आऊँ तो मेरा सब सत्य वृथा हो।'

शिवजी ने कहा—शिकारी के पाप नष्ट हो गए थे। इसलिए उसने मृग के वाक्य से सन्तुष्ट होकर 'तू अपने घर जा' इस तरह कहते हुए मृग को छोड़ दिया। हरिण ने जल पिया और जिस रास्ते से दोनों हरिणियाँ गई थीं उसी रास्ते से प्रसन्न होकर अपने घर की ओर चला गया।

उस समय बिल्ववृक्ष के बीच में बैठे हुए शिकारी ने प्रातःकाल के समय हाथ से बिल्वपत्र तोड़कर अज्ञान में ही शिव के चारों तरफ फेंक दिए और शिव-शिव कहता हुआ वृक्ष के बीच से निकला। अज्ञान से जागरण हो गया। शिव-पूजा के प्रभाव से सूर्योदय-से पहले ही वह पापों से मुक्त हो गया। किन्तु (क्षुधित होने के कारण) निराश होकर भोजन के लिए दिशाओं की तरफ देखने लगा। इतने ही में बच्चों-सहित एक दूसरी हरिणी वहाँ आई। हरिणी को देखते ही उसने धनुष पर वाण चढ़ाया। ज्योंही वह वाण चढ़ा रहा था त्योंही उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—हे धर्मात्मन्! वाण मत छोड़ो; अपने धर्म का पालन करो! मैं सभी के द्वारा अवध्य हूँ। ऐसा शास्त्र में बताया गया है। शास्त्र में लिखा है कि—

'शयानो मैथुनासक्तः स्तनपो व्याधिपीडितः।
न हन्तव्यो मृगो राज्ञा मृगी च शिशुभिर्वृता॥

अर्थात् राजा को सोते हुए, मैथुन में आसक्त, स्तन पीते हुए और रोगी हरिण तथा बच्चों से युक्त हरिणी को नहीं मारना चाहिए।

यदि धर्म छोड़कर मुझे मारोगे ही तो मैं बालकों को घर पर रखकर लौटकर आऊँगी। यदि मैं न आऊँ तो जो स्त्री अपने पति को छोड़कर पर पुरुष में आसक्त होती है—उसके पाप से मैं लिप्त होऊँ।

शिवजी ने कहा—व्याध से छूटते ही वह हरिणी सीधी अपने घर गई। व्याध भी शीघ्रता से अपने घर को रवाना हुआ। रास्ते में वह सोचने लगा कि उन सत्यवादी मृगों का वचन सुनकर—यदि मैं उनको मारूँगा तो मैं किस गति को पाऊँगा। यह सोचते हुए वह घर पहुँचा। घर पर भूखे बच्चों ने उसे घेर लिया। घर में मांस तथा अन्न नहीं था जिससे भोजन होता। पिता के पास मांस न देखकर बच्चे निराश होकर

चल दिए। शिकारी उन हरिण-हरिणियों के वाक्य का स्मरण कर रहा था। इतने में मांस बिना लाए हुए पति से स्त्री ने पूछा—तुमने एक अहोरात्र का उपवास करवा डाला। यह बड़ा कष्ट किया।

व्याध ने कहा—'प्रिये! न मैंने रात को भोजन किया और न मुझे नींद आई। रात में मुझे जो हरिणियाँ और हरिण मिले—वे शपथों से बँधे हुए हैं। आज सवेरे ये आवेंगे और मैं उनको सत्पुरुषों की प्रतिज्ञा का स्मरण करता हुआ मारूँगा।

शिवजी ने कहा कि—इधर जब उस हरिण को शपथ खाने के कारण व्याध ने छोड़ा तब वह अपने आश्रम को गया, जहाँ वे दोनों हरिणियाँ थीं। उनमें से एक ने तत्काल बच्चा दिया और दूसरी मैथुन की इच्छा करने लगी। इतने में तीसरी हरिणी अपने बच्चों से घिरी हुई आ गई। वे सभी चिन्ता से युक्त थीं, मरने का निश्चय कर चुकी थीं और परस्पर शिकारी की चेष्टा का वर्णन कर रही थीं। हरिण ने मैथुन की इच्छावाली हरिणी से उपभोग किया और उसके बाद उन सब से कहने लगा—'तुम सब यहाँ रहना, अपने प्राण की रक्षा करना, इन बच्चों को भी सिंह, बाघ, भीलों से बचाना। मैं शपथों से बँधा हूँ। मैं वापस जाऊँगा। हे विशालाक्षि! सन्तान होने के लिए, यह ऋतु-प्रदान करने के निमित्त मैं आया हूँ और मुझे कुछ काम नहीं है। सन्तान से स्वर्ग मिलता है और इस लोक में सदा रहनेवाला यश मिलता है। स्वर्ग और सुख दोनों देनेवाली सन्तान का प्रयत्न से पालन करना चाहिए। इसी प्रकार जो ऋतुमती स्त्री से गमन नहीं करता उसे भी भ्रूणहत्या का पाप लगता है और उसका सब धर्म भी वृथा होता है। पुत्ररहित की गति नहीं होती और स्वर्ग तो होता ही नहीं। इसलिए विद्वान् को किसी न किसी प्रकार पुत्र अवश्य उत्पन्न करना चाहिए। अब मुझे वहाँ जाना चाहिए जहाँ व्याध राह देख रहा है। सत्य का पालन करना चाहिए। सत्य में ही धर्म स्थिर है।'

शिवजी ने कहा—यह सुनकर उसकी स्त्रियाँ दुःखी होकर कहने लगीं "हे मृगश्रेष्ठ ! हम भी तुम्हारे साथ चलेंगी। तुम्हारे साथ हमारा मरना प्रशंसनीय है। इसमें कोई सन्देह नहीं। हे प्रिय ! तुमने हमारा कभी अप्रिय किया हो—इसका हमको स्मरण नहीं है। तुमने पुष्पित वन-प्रदेशों में, नदियों के सङ्गमों में और पहाड़ की कन्दराओं में, हमारे साथ विहार किया है। तुम्हारे ऐसे सत्पति को भाग्यवती स्त्री ही पा सकती है। तुम्हारे बिना हमको जीने से कोई कार्य नहीं। दीन और पतिहीन स्त्री का जीवन से क्या प्रयोजन।

मितं ददाति हि पिता, मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य प्रदातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

अर्थात् पिता, भाई और पुत्र परिमित वस्तु देते हैं, परन्तु अपरिमित का दान करनेवाले पति का पूजन कौन स्त्री न करे। स्त्री के पुत्र हों और पति के अनेक मित्र भी हों, तथापि पति से हीन होते ही स्त्री दीन हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। विधवा स्त्री को गन्ध, पुष्प, धूप, और रत्नों के आभूषण तथा विविध प्रकार के सुन्दर वस्त्र और शय्या से कोई फल नहीं। स्त्रियों के लिए वैधव्य के समान कोई दुःख नहीं है। वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो पति के आगे मरती हैं। बिना तार के वीणा नहीं बजती, बिना पहिये के रथ नहीं चलता, बिना पति के सौ पुत्र हों तब भी स्त्री सुखी नहीं हो सकती। द्रव्यहीन हो, व्यसनी हो, बुड्ढा हो, रोगी हो, अङ्गहीन हो, पतित हो, कञ्जूस हो, मूर्ख हो तब भी स्त्रियों के लिए पति परम-गति है। पति के समान धर्म नहीं है, पति के समान स्वामी नहीं है और पति के समान गति नहीं है।'

शिवजी ने कहा—इस तरह विलाप करके अपने बच्चों के साथ पति के शोक से पीड़ित हुई उन सबों ने मरने का निश्चय किया। उनके वचन को सुनकर हरिण के हृदय में बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा

मुझे व्याध के पास जाना चाहिए या नहीं। एक तरफ सत्य का नाश है, दूसरी तरफ कुटुम्ब का नाश है। यदि मैं वहाँ जाऊँगा तो कुटुम्ब का नाश होगा और यदि सत्य का लोप करूँगा तो प्रलय-पर्यन्त रौरव नरक में जाऊँगा। यदि न जाऊँगा तो सत्य का नाश निश्चित ही है। पुत्र, स्त्री अथवा स्वयं को मरना पड़े तो कोई बात नहीं, परन्तु कल्याण चाहनेवाले पुरुषों को सत्य का पालन करना ही चाहिए।

सत्येन सूर्यस्तपति, पृथ्वी सत्ये प्रतिष्ठिता।
सत्येन वायवो वान्ति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् सूर्य सत्य से तपता है, पृथ्वी सत्य से स्थिर है, वायु भी सत्य से चलता है, सभी सत्य में स्थिर हैं।

हरिण ने इन सुन्दर धर्मों का विचार किया और वह धीरे-धीरे व्याध के घर चला। उस सरोवर में उसने स्नान किया और कर्मसंन्यास किया। वहाँ शिव को नमस्कार करके और सदाशिव का ध्यान करता हुआ खाना, पीना, भोग, काम, क्रोध, लोभ और मोक्ष का नाश करने-वाली माया को छोड़कर वह व्याध के आश्रम को गया। हरिण की स्त्रियाँ, पुत्र सब मरने का निश्चय करके अनशन करते हुए मृग के पीछे-पीछे जा रहे थे। हरिण स्त्री और पुत्रों के साथ उस प्रदेश पर आया जहाँ बालकों से युक्त भूखा व्याध बैठा हुआ था। सत्य वचनों का पालन करता हुआ मृग व्याध से बोला—'हे व्याध! पहले तुम मुझे मारो और तब क्रम से इनको मारना। अब विलम्ब मत करो। हरिण मनुष्यों के खाने की वस्तु है, इसलिए तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा। तुम्हारे शस्त्र से पवित्र होकर हम लोग स्वर्ग को जावेंगे और कुटुम्ब-सहित तुम्हारा भोजन भी हो जायगा।'

शिवजी ने कहा—हरिण के वचन सुनकर व्याध ने अपनी निन्दा की और कहा—हे धैर्यशाली मृग! तुम अपने घर जाओ। मुझे मांस

से कोई मतलब नहीं। जो होना होगा सो होगा। प्राणियों के मारने, बाँधने और धमकाने में पाप होता है। इसलिए मैंने शस्त्र रख दिए। मैं सत्यधर्म का आश्रय लेता हूँ। हरिण ने कहा—मैं कर्म का संन्यास लेकर तुम्हारे पास आया हूँ। तुम मुझे शीघ्र से शीघ्र मार डालो, तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा। मैंने पहले वचन दिया है। तुम छोड़ोगे तब भी मैं जाऊँगा नहीं। मैंने अनाशक धर्म (उपवास) का ग्रहण करके स्त्री आदि सबको छोड़ दिया है।

व्याध ने कहा—तुम मेरे बन्धु हो, तुम मेरे गुरु हो और तुम मेरे माता-पिता तथा मित्र हो। मैंने मोह-माया आदि मलों को छोड़कर, शस्त्र तोड़ दिए हैं। किसकी स्त्री, किसके लड़के और किसका पति, ये सब अपने-अपने कर्मों से आये हैं। हे मृग! तुम आनन्दपूर्वक जाओ।

शिवजी ने कहा—यह कहकर शिकारी ने जल्दी से धनुष और बाण तोड़ डाले और मृगों से क्षमा चाहते हुए प्रदक्षिणा करके उनको नमस्कार किया। इसी बीच स्वर्ग में देवताओं ने दुन्दुभिनाद किया और आकाश से पुष्पवृष्टि हुई। एक सुन्दर विमान लेकर देवदूत आया और व्याध की प्रशंसा करके हर्षसहित यह वचन बोला—'हे सब प्राणियों के डरानेवाले महासत्त्व शिकारी! इस श्रेष्ठ विमान में चढ़कर सदेह स्वर्ग में चलो। शिवरात्रि के प्रभाव से तुम्हारा पाप नष्ट हो गया है। उस दिन तुम्हारा उपवास हो गया, रात्रि में जागरण भी हो गया और अज्ञान से तुमने प्रत्येक प्रहर में शिवजी की पूजा भी कर डाली। इसलिए तुम सब पापों से मुक्त हो गए। हे धर्मात्मन्! तुम्हारा इसी नाम से कल्पान्त तक नक्षत्रमण्डल में स्थायी निवास रहेगा। हे धर्मशाली मृगराज! तुम अपने स्त्री-पुत्रों सहित विमान में बैठकर अपने सत्य के कारण स्वर्ग में जाओ। अपनी तीनों भार्याओं सहित नक्षत्रपद प्राप्त करो। वह नक्षत्र तुम्हारे नाम से ही विख्यात होगा।

शिवजी ने कहा—यह सुनकर व्याध-सहित वे सारे विमानों में चढ़कर नक्षत्रलोक को प्राप्त हुए। आगे दो हरिणियाँ, पीछे हरिण—इन तीनों तारों से युक्त मृगशीर्ष नक्षत्र है। आज भी यह नक्षत्र मृगशीर्ष के नाम से आकाश में दिखाई देता है। इसकी पीठ पर आर्द्रा नाम का मणि के समान दूसरा नक्षत्र लगा हुआ है।

हे पार्वति! ऐसी प्रभाववाली शिवरात्रि का मैंने वर्णन किया। यह यमराज के शासन को मिटानेवाली और शिवलोक को देनेवाली है। शास्त्रोक्त विधि से जो इसका जागरण-सहित उपवास करेंगे—उनका मोक्ष होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं। शिवरात्रि के समान पाप और भय मिटानेवाला दूसरा व्रत नहीं है। इसके करने मात्र से सब पापों का क्षय हो जाता है।

पार्वती ने पूछा—हे देव! यह उत्तम व्रत किस रीति से किया जाता है? इसका उद्यापन कैसे करना चाहिए और इसकी पूजा कैसे करनी चाहिए? हे जगत् के स्वामी! इसका विस्तारसहित वर्णन करो।

शिवजी ने कहा—माघ और फाल्गुन के बीच में कृष्ण पक्ष में जो चतुर्दशी आती है उस दिन प्रातःकाल के समय दातुन करने के बाद अच्छी तरह नियम ग्रहण करे और भक्ति-युक्त चित्त से मध्याह्न के समय तीर्थ में स्नान और पितृतर्पण करके विविध सामग्रियों सहित शिवालय में जावे। वहाँ हे देवि! एकाग्र चित्त से शुभ गन्ध, धूप, अक्षतों के द्वारा विधिपूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिए। और जो पुरुष भक्ति-युक्त हो कर विधान-सहित प्रतिमास कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी का व्रत करे, उसे इस तरह सालभर करने के पश्चात् उद्यापन करना चाहिए।

हे अनघे, उद्यापन की विधि मैं कहता हूँ। तुम सुनो। रात्रि के समय द्वादश लिङ्गों से युक्त और द्वादश कुम्भों से युक्त (लिङ्गतोभद्र) मण्डल बनाना चाहिए। उस मण्डल को दीप-मालाओं से सुशोभित करना चाहिए। उसके बीच में वेदोक्त विधि से घटस्थापन करना चाहिए।

घट पर लाल वस्त्र लपेटे जाँय और पञ्चरत्न रक्खे जाँय। रक्तवर्ण पुष्पों से युक्त उस घट पर पूर्ण पात्र रखना चाहिए। फिर पार्वती-सहित शिवजी की सुवर्ण की प्रतिमा बनाकर वेदमन्त्रों से यथाविधि स्नान करावे। उस प्रतिमा को मध्य के घड़े पर स्थापित करके श्रद्धा-भक्ति-सहित षोडशोपचार से शिवजी की पूजा करे। हे प्रिये ! पूजा करके बिल्वपत्र की १०८ समिधाओं का विधिपूर्वक हवन करे। तिल, अक्षत आदि सामग्री का उससे दुगुना होम करे। यह होम शिवजी के उद्देश्य से करे और शतरुद्री का जप करे। 'ओं नमः शम्भवाय च०………' इस मंत्र से चरु-होम और घृतहोम करना चाहिए। उससे शिवजी प्रसन्न होते हैं। फिर शेष सर्व सामग्री का भी 'ओं नमः शम्भवाय०…' इस मंत्र से हवन कर देना चाहिए। प्रातःकाल के समय बारह ब्राह्मणों को अमृत के समान पायस द्वारा भोजन करावे। सपत्नीक आचार्य को शक्ति के अनुसार वस्त्र पहनावे। यथाशक्ति गाय, श्वेत वृषभ तथा घृत-पात्र, तिलपात्र एवं आठ प्रकार के पद का दान करे। हे प्रिये ! दीन, अन्ध तथा गरीब व्यक्तियों को भोजन तथा विविध प्रकार के दान देने चाहिएँ। इस प्रकार शिवरात्रि का उद्यापन करे। हे देवि ! जो इस प्रकार करता है वह मेरे समीप प्राप्त होता है। (व्रतार्क में शिवपुराण से)

अभ्यास

(१) शिवरात्रि कब होती है ?

(२) शिवरात्रि व्रत की क्या विधि है ?

(३) शिवतत्त्व का निरूपण करिए और कालविज्ञान समझाइए।

(४) क्या लिङ्गपूजा अनार्यों से आई है ?

(५) शिवपूजा की सामग्री का विज्ञान समझाइए।

(६) कथा का सारांश कहिए और मृगियों तथा मृग के शपथों द्वारा जो आचार शिक्षा प्राप्त होती है उसका निरूपण करिए।

होली

समय—फाल्गुनशुक्ला पूर्णिमा।

काल-निर्णय

होली की पूर्णिमा सायंकाल के समय भद्रा से रहित लेनी चाहिए। दोनों दिन सायंकाल में हो अथवा दूसरे दिन सायंकाल के एक भाग में हो तो दूसरे दिन ही करना चाहिए। यदि पहले दिन भद्रा का दोष हो और दूसरे दिन सायंकाल तक पूर्णिमा न पहुँच पावे और पूर्णिमा तीन पहर या उससे ज्यादा हो तब भी दूसरे दिन सायंकाल में ही होली मनानी चाहिए। यदि प्रतिपदा कम होती जा रही हो तो पहले दिन भद्रा का पुच्छ या मुख छोड़कर भद्रा में भी होली मनाई जा सकती है। विशेष निर्णय धर्मशास्त्रों में देखा जा सकता है। दिन में होली कभी नहीं जलानी चाहिए।

विधि

देशकाल बोलकर 'सकुटुम्बस्य मम ढुण्ढाराक्षसीप्रीत्यर्थं तत्पीडापरिहारार्थं होलिकापूजनमहं करिष्ये' इस प्रकार संकल्प करके सूखी लकड़ी, कण्डे (उपले) आदि के ढेर के अन्दर किसी पेड़ की डाली रोपकर—

अस्माभिर्भयसंत्रस्तैः कृता त्वं होलिके यतः।
अतस्त्वां पूजयिष्यामि भूते! भूतिप्रदा भव॥

यह मन्त्र बोलकर 'श्रीहोलिकायै नमः' इस मन्त्र से षोडशोपचार पूजन करना चाहिए। प्रार्थना का मन्त्र यह है—

वन्दिताऽसि सुरेन्द्रेण, ब्रह्मणा शङ्करेण च।
अतस्त्वं पाहि नो देवि, भूते! भूतिप्रदा भव॥

फिर उस[१] अग्नि की तीन परिक्रमा करके लोग निःशंक होकर जिसको जो रुचे वैसा स्वेच्छानुसार बोलें, गावें, हँसें।

होली के उत्सव पर पञ्चमी[२] से लेकर दश दिन तक इन्धन की चोरी का विधान है। पूर्णिमा के दिन चाण्डाल या सूतिका (जच्चा) के घर से बच्चों के द्वारा आग मँगवाकर होली जलानी चाहिए। गाँव के बाहर या गाँव बड़ा हो तो मोहल्ले २ में खूब बाजे बजाकर और खूब दान देकर होली जलायी जाती है। फिर[३] घी और दूध से उसे बुझाना चाहिए। नारियल[४] और बिजोरे के फल बाँटने चाहिएँ। सारी रात्रि गीत-वादित्र से बितानी चाहिए। दूसरे दिन प्रातःकाल यथेष्ट अश्लील बोलते हुए उस राक्षसी का विसर्जन करना चाहिए।

---

१. तमग्निं त्रिः परिक्रम्य गायन्तु च हसन्तु च।
जल्पन्तु स्वेच्छया लोका निःशंका यस्य यन्मतम्॥
२. पञ्चमीप्रमुखारतास्तु तिथयोऽनन्तपुण्यदाः।
दश स्युः शोभनास्तासु काष्ठस्तेयं विधीयते॥
चण्डालसूतिकागेहाच्छिशुहारितवह्निना।
प्राप्तायां पूर्णिमायान्तु कुर्यात्तत्काष्ठदीपनम्॥
ग्रामाद्बहिश्च मध्ये वा तूर्यनादसमन्वितः।
स्नात्वा राजा शुचिर्भूत्वा स्वस्तिवाचनतत्परः॥
दत्त्वा दानानि भूरीणि दीपयेद्धोलिकाचितिम्॥
३. ततोऽभ्युक्ष्य चितिं सर्वां साज्येन पयसा सुधीः।
४. नारिकेराणि देयानि बीजपूरफलानि च।
गीतवाद्यैस्तथा नृत्यै रात्रिः सा नीयते जनैः॥
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य शब्दैर्लिङ्गभगाङ्कितैः।
तेन शब्देन सा पापा राक्षसी तृप्तिमाप्नुयात्॥

इस तरह रात्रि में होलिकोत्सव करने के बाद दूसरे दिन प्रातःकाल सब जाति के लोग सम्मिलित होकर परस्पर आमोद-प्रमोद और क्रीड़ा-विनोदों से उत्सव की शोभा बढ़ाते हैं। इस दिन (प्रतिपदाको) चाण्डाल के स्पर्श करने का प्रधानतया विधान है।

प्राचीन समय से अबतक अबीर उड़ाना, पिचकारियों द्वारा जल सींचना आदि इस उत्सव का प्रधान कर्म रहा है। वास्तव में ये सब कार्य वसन्तोत्सव के अङ्ग हैं। अब तो 'होली खेलना' शब्द ही इस अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। यह उत्सव दिल खोलकर आमोद-प्रमोद के लिए है।

काल-विज्ञान

ऋतु—यह उत्सव शिशिर के अन्त और वसन्त के आरम्भ में मनाया जाता है। शिशिर ऋतु का अन्त शीतकाल की समाप्ति का समय है और वसन्त का आरम्भ उष्णकाल का उपक्रम है। वसन्त के आरम्भ में शीतकाल का सञ्चित कफ प्रकुपित होकर रोगों को उत्पन्न करता है। जैसा कि आयुर्वेद कहता है—

'वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥
तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्।

(चरक संहिता, सूत्र स्थान, अ० ६, श्लोक २२)

अर्थात् वसन्त में शीतकाल का जमा हुआ कफ सूर्य की तेजस्विता से प्रेरित होकर शरीर की अग्नि को बाधित करता है, अतः अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इस कारण वसन्त में वमन आदि संशोधक कर्म करने चाहिए।'

वसंतपंचमी के प्रसंग में लिखा जा चुका है कि—होली के मुख्य कर्म जल-सींचना, गुलाल उड़ाना इत्यादि संचित कफ को उद्रिक्त करनेवाले हैं।

उपर्युक्त आयुर्वेद-सिद्धान्तानुसार वसन्त के आरम्भ में कफ को उद्रिक्त करके निवृत्त करना आवश्यक है। अतः इस उत्सव के लिए शिशिर का अन्त और वसन्त के आरम्भ का समय उपयुक्त है।

मास—वसन्त ऋतु के आरम्भ का समय चैत्रकृष्ण प्रतिपदा है। उससे पूर्व शिशिर की समाप्ति के समय ही पूर्वोक्त संशोधन कर्म अपेक्षित है। अतः फाल्गुन का अन्त और चैत्र का आरम्भ इसका उचित समय है, क्योंकि वसन्त का आरम्भ हो जाने पर तो रूक्षता अधिक बढ़ जाती है। जैसा कि चरकसंहिता में लिखा है—

'तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसांस्तिक्तकषाय-कटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति।'

अर्थात् उत्तरायण में रवि अपने प्रकाश से जगत् की चिकनाई को ले लेता है और उस समय तीव्र तथा रूक्ष वायु रसों को सुखाने लगते हैं। ये शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म ऋतुओं में क्रम से रूक्षता उत्पन्न करते जाते हैं और प्राणियों में कड़ुए, कसैले और चिरके (तीते) इन रूक्ष रसों को बढ़ाते हुए मनुष्यों में दुर्बलता लाते हैं।

तदनुसार शीतकाल का सञ्चित कफ शिशिर में रूक्षता के कारण कुछ गाढ़ा सा हो जाता है। उस कफ को शिशिर के अन्त और वसन्त के आरम्भ में, जब कि उसके उद्रेक का समय है, न निकाल दिया जाय तो वह वसन्त में अधिक रूक्ष हो जा सकता है और दूसरे रोगों को उत्पन्न करने का कारण बन सकता है। अतः इस उत्सव के लिए यही मास उपयुक्त है।

तिथि—ऋतु और मास के निश्चित हो जाने पर भी यह कहा जा सकता है कि एक निश्चित तिथि ही इस कार्य के लिए क्यों? इसका उत्तर यद्यपि यह दिया जा सकता है कि उत्सव मनाने के लिए एक

निश्चित तिथि होने से सबको सुविधा हो सकती है और उत्सव का स्वरूप ठीक बन सकता है, अन्यथा यदि कोई किसी दिन और कोई किसी दिन उत्सव मनावे तो उसका स्वरूप त्योहार का सा नहीं होगा और तब उस कर्म के लिए जनता की सामूहिक प्रवृत्ति भी नहीं होगी। किन्तु पूर्णिमा तिथि रखने का केवल यही कारण नहीं है, क्योंकि ऐसा तो अन्य किसी निश्चित तिथि को किया जा सकता है।

वास्तविक बात यह है कि—पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा पूर्ण रूप में होता है और चन्द्रमा शीतलता से सम्बन्ध रखनेवाले सोम रस का देनेवाला होने से कफ के उद्रेक में सहायक होता है। ज्यों-ज्यों चन्द्रमा की कलाएँ कम होती जावेंगी त्यों-त्यों कफ का उद्रेक भी कम होता चला जावेगा। अतः उद्रिक्त कफ की निवृत्ति के लिए पूर्णिमा ही सबसे अच्छी तिथि है। होलिका का उत्सव रात्रि में भी इसीलिए मनाया जाता है; क्योंकि रात्रिजागरण आदि के कारण भी कफ अधिक उद्रिक्त हो जाता है।

विधि-विज्ञान

दीपमालिका के विधि-विज्ञान में लिखा जा चुका है कि तेल के धुआँ और दीपकों की उष्णता से चातुर्मास्य के सञ्चित कीटाणुओं का विनाश हो जाता है। उसी प्रकार शीतकाल में जो रोगों के कीटाणु सञ्चित हो जाते हैं उनके निवृत्त करने के लिए मोहल्ले-मोहल्ले और गाँव-गाँव में गहरे अग्निताप की आवश्यकता है; क्योंकि वे कीटाणु शीतप्रकृतिक होते हैं और उनका विनाश अत्यधिक उष्णता से ही हो सकता है। यद्यपि धर्म के सामान्य नियमों के अनुसार चोरी करना निषिद्ध है तथापि यदि अनभिज्ञ लोग लकड़ी देनें में कंजूसी करें तो जिनके पास लकड़ी का संचय हो उनसे इन्धन चुराकर भी जनता के उपकार के लिए अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित किया ही जाना चाहिए, इस

दृष्टि से इन्धन की चोरी तक का विधान इसमें रक्खा गया है। सारांश यह है कि अग्निप्रज्ज्वलन इस दिन खूब जोरों से होना चाहिए, जिससे व्यक्तियों के शरीरों में स्थित और पृथ्वी के परमाणुओं में वर्तमान कफजनक कीटाणु सर्वथा नष्ट हो जाँय।

इस दिन गीत-वादित्र और उत्सव करने का तथा होली खेलने का जो विधान है वह भी सर्वथा आयुर्वेदानुमोदित है। चरकसंहिता में लिखा है कि—

'व्यायामोद्वर्तनं धूमं कवलग्रहमञ्जनम्। सुखाम्बुना शौचविधिं शीलयेत्कुसुमागमे॥

(सूत्र० ६।२४)

अर्थात् वसन्त ऋतु में व्यायाम, उबटन, धूम, कवलग्रह, अञ्जन और सुखदायक जल से शौच की विधि इनका अभ्यास करना चाहिए।

आप देखेंगे कि वही सारी विधि आयुर्वेद में लिखी है जो होली में की जाती है। धूआँ का सेवन, जल द्वारा कफ को उद्रिक्त करना यही सब तो होलिकोत्सव की विधि है जोकि रोगों के अनुत्पादन और उत्पन्न रोगों की निवृत्ति दोनों में अत्यन्त सहायक है। गाना, हँसना, निःशंक होकर बोलना ये भी वसन्त के समय बड़े उपयोगी होते हैं, क्योंकि इन सब का गले से सम्बन्ध है और गले का व्यायाम इन्हीं के द्वारा हो सकता है, जहाँ कि कफ के अवरोध की अधिक संभावना है। गुलाल और अबीर आदि का गले में जाना भी फेफड़ों

---

१. कवलग्रह आयुर्वेद की एक विशेष विधि है। शार्ङ्गधर कहता है—

असंचारी मुखे पूर्णे गण्डूषः, कवलश्चरः।
तत्र द्रवेण गण्डूषः कल्केन कवलः स्मृतः॥ (शा. उ. १०।४)

यहाँ यह समझ लेना पर्याप्त है कि किसी कल्क (पिट्ठी) का मुँह में घूम सके इतना धारण करना कवलग्रह कहलाता है। विशेष आयुर्वेद के ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

और गले में अवरुद्ध कफ की निवृत्ति में उपयोगी है। इस तरह पाठक देखेंगे कि इस उत्सव की सब विधि स्वास्थ्यरक्षा के नियमानुकूल है।

कथा

युधिष्ठिर ने पूछा—हे जनार्दन! फाल्गुन के महीने में पूर्णिमा के दिन संसार के प्रत्येक ग्राम और प्रत्येक नगर में उत्सव किसलिए होता है? उस दिन बच्चे क्यों हो-हल्ला करते हैं? क्यों होली जलाई जाती है? और ढुण्ढा देवी किसको कहते हैं? इसके देवता कौन हैं? किसने इसको प्रकट किया है? इस दिन क्या कार्य किया जाता है?

श्रीकृष्ण ने कहा—हे पार्थ! सत्ययुग में रघु नाम का राजा था। राजा सब गुणों से युक्त, प्रिय बोलनेवाला और विद्वान् था। वह सब पृथ्वी को और सब राजाओं को जीतकर अपनी प्रजा को औरस (वास्तव) पुत्रों के समान धर्म से पालन करता था। जिस समय क्षात्रधर्म में परायण वह राजा पृथ्वी का शासन करता था—उस समय न दुर्भिक्ष होता था, न रोग होता था और न अकाल-मृत्यु होती थी।

एक दिन सभी नगरवासी पुरुष राजा के पास आए और राजा से कहने लगे—हे राजन्! हमारे वचन सुनिए। आप हमारी रक्षा में तत्पर हैं, किन्तु ढुण्ढा नाम की एक विख्यात राक्षसी है। वह इच्छानुसार रूप धारण करके प्रत्येक ग्राम और प्रत्येक पुर में बालकों को बहुत अधिक पीड़ा देती है। उस मांस खानेवाली से हम बालकों को नहीं बचा सकते। हे राजन्! न ओषधियों से और न बड़े-बड़े मन्त्रों से, वह किसी भी विधि से रोकी नहीं जा सकती। इसलिए आपको किसी भी उपाय से उसे मारना चाहिए।

श्रीकृष्ण ने कहा—पुरवासियों के इस प्रकार वचन सुनकर उदारबुद्धि राजा रघु का हृदय आश्चर्ययुक्त हुआ और उसने अपने पुरोहित से कहा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! ढुण्ढा नाम की राक्षसी संसार में विख्यात

है, उसका क्या प्रभाव है ? उस अपराधिनी को मैं कैसे वश में कर सकता हूँ। प्रजाओं का रञ्जन करने से राजा राजा कहलाता है और पालन करने से प्रजाओं का पति कहलाता है। जो राजा पृथ्वी की रक्षा नहीं करता वह अपराधी होता है।

पुरोहित वशिष्ठजी ने कहा—हे राजन् ! मैं एक गूढ़ बात आपसे कह रहा हूँ। मैंने यह बात अब तक किसी से नहीं कही। ढुंढा नाम की एक विख्यात राक्षसी है, जो माली नाम के राक्षस की पुत्री है। उसने उग्र तप करके पहले शिवजी की आराधना की। भगवान् शिव ने प्रसन्न होकर उससे कहा—हे सुव्रते ! वरदान माँगो ! तुम्हारा मनोवाञ्छित बिना विचारे ही दे दिया जायगा।

ढुण्ढा ने शिवजी से कहा—हे शङ्कर, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे देवता और दानवों के न मारने योग्य कर दीजिए। शस्त्रों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। हे महेश्वर ! आप की कृपा से शीत, उष्ण और वर्षा के समय में, दिन-रात्रि में, बाहर और भीतर, सदा मुझे भय का अभाव रहना चाहिए।

शिवजी ने उससे 'एवमस्तु' कहा और साथ ही यह भी कहा कि तुझे (केवल) उन्मत्त बालकों से भय होगा। हे भद्रे ! मेरा कथन सत्य है। तुम हृदय में दुःख मत करो ?

इस तरह वर पाकर वह कामरूपिणी राक्षसी शिवजी के कथन का स्मरण करके बालकों को नित्य पीड़ा पहुँचाती है। गृहस्थों के पके-पकाये अन्न को अडाडा शब्द करती हुई ग्रहण करती है। इसलिए संसार में लोग उसे अडाडा नाम से पुकारते हैं। यह ढुंढा का सब चरित मैंने वर्णन किया।

अब जिस उपाय से उसका विनाश हो वह उपाय मैं तुमसे कहता हूँ। हे राजन् ! आज फाल्गुन मास की शुक्ल पूर्णिमा है। शीतकाल

अब निकल चुका है और प्रातःकाल (कल) से वसन्त का आरम्भ हो जायगा। हे पुरुषश्रेष्ठ ! लोगों को अभय दान दीजिए, जिससे कि लोग निडर होकर हँसें और खेलें। बच्चे लोग लकड़ी का खड्ग हाथ में लेकर युद्ध के उत्सुक योद्धाओं के समान हर्षित होकर घरों से निकलें। हे राजन् ! सूखी लकड़ी, कण्डे और घास-फूस सब जगह सञ्चय किया जाय और उसके बीच में सीधी लकड़ी खम्भे के आकार में रक्खी जाय। इस लकड़ी-कण्डों के ढेर पर रक्षोघ्न मंत्रों के द्वारा विधिपूर्वक, अग्नि-हवन करके अनेक प्रकार के गाने-बजाने आदि विविध कौतुक, चिल्लाहट के साथ तालियाँ बजाते हुए उस अग्नि की तीन परिक्रमा करे, गावे और हँसे। निःशंक होकर जिसकी जो इच्छा हो उसके अनुसार बोलें और भ्रमण करें। वह पापिनी उन शब्दों और होम से शस्त्र-पातों से निराकृत होकर नहीं दीखते हुए भी क्षय को प्राप्त हो जावेगी !

श्रीकृष्ण ने कहा—हे पाण्डुनन्दन ! ऋषि के वचन सुनकर उसने जो बुद्धिमान् वशिष्ठ ऋषि ने कहा था—वह सब विधि-पूर्वक किया। उस उग्र कर्म से वह राक्षसी नष्ट हो गई। हे युधिष्ठिर ! तब से लेकर प्रति-वर्ष इस लोक में पहले के समान ही ढुंढा का महान् उत्सव होता है। इसलिए उस रात्रि के आरम्भ में, जिनमें बालक अधिक हों ऐसे खड्ग हाथ में लिए मनुष्यों को बुलाकर, बालकों की रक्षा करनी चाहिए। वे लोग हँसते-हँसाते हुए खेल से आनन्दित चेहरों से युक्त बालकों के ऊपर लकड़ी के खड्गों से स्पर्श करें। उनको गुड़ का पकान्न खाने के लिए देना चाहिए। इसे ढूँढना कहते हैं। ढूँढने मात्र से बालक का वह दोष शान्त हो जाता है।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भगवन् ! चैत्र मास जब आरम्भ हो उस दिन प्रतिपदा को प्रातःकाल सूर्योदय के समय सुख चाहनेवाले लोगों को क्या करना चाहिए ? श्रीकृष्ण ने कहा—आवश्यक कर्म करके देवता और

पितरों के तर्पण के बाद सब दुष्टों की शान्ति के लिए होली की धूल की वन्दना करे। घर के आँगन को लीपने के बाद मण्डित और चर्चित करके शुभाक्षतों और अनेक रंगों से स्वच्छ चौक पूरे। उसके बीच में सफेद चादर से युक्त एक पट्टा स्थापित करे। उसके आगे पल्लवों से युक्त पूर्ण कलश की स्थापना करे। उस पूर्ण कलश को सुवर्ण और अक्षतों से युक्त करके श्वेत चन्दन से चर्चित करे और उस पर लाल वस्त्र लपेटकर उसे पुष्प-माला से सुशोभित करे। हे राजन्! उस कलश पर रति-सहित कामदेव की पुष्पमालाओं से शोभित सुन्दर प्रतिमा स्थापित करे। उसके बाद पञ्चोपचार से पूजन करे। पहले प्रणाम करके चन्दन लगावे। उसका मन्त्र यह है—

ॐ नमः कामदेवाय प्रद्युम्नाय महात्मने।
मकरध्वज! नमस्तुभ्यं कन्दर्प झषकेतन॥
रत्या सहित देवेश! चन्दनं प्रतिगृह्यताम्।

फिर पुष्प चढ़ावें। उसका मन्त्र यह है—

कुसुमायुध! देवेश! मदन! स्मर! मन्मथ!।
गृहाण पुष्पमाल्यानि सर्वकामप्रदो भव॥

फिर धूप चढ़ावें। उसका मंत्र यह है—

धूपोयं गृह्यतां देव मार शम्बरनाशन।
रूपं देहि वरं देहि परत्रेह शुभां गतिम्॥

उसके बाद नैवेद्य निवेदन करे। उसका मन्त्र यह है—

शर्कराखण्डखाद्यानि दधिक्षीरघृतानि च।
पुष्पचाप! मया दत्तं नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम्॥

फिर अर्घ्यदान करे। उसका मन्त्र यह है—

कामदेव सुरूपाङ्ग मधुमित्र मनोभव।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं पुष्पायुध नमोऽस्तु ते॥

इस विधि से कामदेव की पूजा करके इन्द्रियविजयी पुरुष आसन पर बैठकर वैदिकों के अक्षर सुने। शुभलक्षण और अङ्गहीन न हो ऐसी स्त्री पैरों में लाल मणि के भूषण पहनकर और श्रेष्ठ चूड़ियाँ धारण करके चन्दन के वृक्ष की वन्दना करे। चन्दन के वृक्ष को पुष्पमाला, दधि, दूर्वा, अक्षतों से युक्त करके यदि वन्दना करवाई जाय तो आयु और आरोग्य को बढ़ाता है।

इस पूजन के बाद विद्वान् पुरुष चन्दन सहित आम्र पुष्प का प्राशन करे और 'कामदेव मुझ पर प्रसन्न हों' इस संकल्प से यथाशक्ति दान करे। उसके बाद भोजन के समय पुरुष पहले पक्वान्न और सुन्दर अन्न खावे। उसके बाद इच्छानुसार भोजन करे। इस विषय में यह श्लोक याद रखना चाहिए—

वृत्ते तुषारसमये सितपञ्चदश्याः
प्रातर्वसन्तसमये समुपस्थिते च।
संप्राश्य चूतकुसुमं सह चन्दनेन
सत्यं हि पार्थ! सततं पुरुषः सुखी स्यात्॥

अर्थात् हे पार्थ! शीतकाल व्यतीत हो जाने पर और वसन्तकाल के उपस्थित होने पर शुक्ल पूर्णिमा के प्रातःकाल चन्दन के साथ आम्र पुष्प (आम के मौर) का प्राशन करने से पुरुष हमेशा सचमुच सुखी होता है।

होलिका के पूजा के निम्न-लिखित्र मन्त्र हैं—

होकिके पूजयामि त्वां सर्वसौख्यप्रदायिनीम्।
अर्चितासि महाभागे! देह्यार्थनसम्पदः॥
फल्गुसंज्ञे नमो देवि! नमस्तेऽस्तु शिशुप्रिये।
वर्षं यावद् विशुद्धयर्थं गृहाणार्घ्यमिदं मम॥
यन्मया शीतभीतेन विरुद्धाचरणं कृतम्।
तत्पातकविशुद्धयर्थं होलिके त्वां क्षमापये॥

अर्थात् हे होली ! मैं सब सुख देनेवाली तुम्हारा पूजन करता हूँ। हे महाभागे ! तुम मुझ से पूजी गई हो, मुझे आयु, धन और संपत्ति दो। हे फल्गुसंज्ञे देवि ! तुम्हें नमस्कार। हे शिशुप्रिये। तुम्हें नमस्कार। वर्षपर्यन्त शुद्धि के लिए मेरा यह अर्घ्य स्वीकार करो। शीत से डरे हुए मैंने जो विरुद्ध आचरण किया है उस पाप की शुद्धि के लिए हे होलिके ! तुम से क्षमा चाहता हूँ।

हे युधिष्ठिर ! जो पुरुष इस तरह शास्त्रोक्त फाल्गुन का उत्सव करता है उसके सब मनोरथ अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं और आधियाँ तथा व्याधियाँ (चिन्ता और रोग) नष्ट हो जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह पुरुष पुत्र-पौत्रों से युक्त सुख से रहता है।

हे पार्थ ! यह तिथियों में उत्तम तिथि मैंने वर्णन की है। इस तिथि की कथा सुनने और पढ़ने से पापों का नाश होता है।

(व्रतार्क में भविष्योत्तरपुराण से)

अभ्यास

(१) होली कब होती है ?

(२) होलिकादाह की क्या विधि है ?

(३) होली का कालविज्ञान और विधिविज्ञान समझाइए।

(४) होली की आनन्दमयता का वर्णन कीजिए।

(५) कथा का सारांश कहिए।

सोमवती अमावास्या

समय

जिस अमावास्या को सोमवार हो।

कालनिर्णय

यद्यपि चतुर्दशी[1] सहित अमावस्या किसी कार्य में नहीं ली जाती, तथापि सोमवती अमावास्या सायंकाल में दो घड़ी[2] भी मिल जाय तो ली जाती है, क्योंकि यह केवल अमावास्या का व्रत नहीं है।

विधि

सोमवती अमावस्या भी स्नान-दान का पर्व है। इस[3] दिन मौन रहकर स्नान करने से सहस्र गोदान का फल होता है।

इस दिन अश्वत्थ (पीपल) और विष्णु का पूजन तथा अश्वत्थ सहित विष्णु की एक सौ आठ प्रदक्षिणा का विधान है। प्रदक्षिणा करते समय एक सौ आठ फल आदि पृथक् रक्खे जाते हैं। अनन्तर वे

---

१. 'भूतविद्धे न कर्तव्ये दर्शपूर्णे कदाचन' (निर्णयसिन्धु में ब्रह्मवैवर्त-पुराण का वचन)

२. 'अपराह्णपर्यन्तं मुहूर्त्तमात्रयोगेऽपि व्रतं कार्यम्' (धर्मसिन्धु)

३. सिनीवाली कुहूर्वापि यदि सोमदिने भवेत्। गोसहस्रफलं दद्यात् स्नानं वै मौनिना कृतम् (निर्णयसिन्धु में व्यास का वचन)

ब्राह्मणों या ब्राह्मणियों को वितीर्ण कर दिये जाते हैं। कथा के अनुसार यह उत्सव वास्तव में स्त्रियों का है।

काल विज्ञान

वारों का विचार करते समय बताया गया है कि जिस दिन प्रातःकाल जिस ग्रह की होरा रहती है उस दिन का स्वामी वही ग्रह माना जाता है और वह दिन उसी ग्रह के नाम से बोला जाता है। तदनुसार सोमवार चन्द्रमा का दिन है और यह भी बताया जा चुका है अमावस्या उस तिथि का नाम है जिस दिन चन्द्रमा और सूर्य एक सीध में रहते हैं। अमावास्या पितृकार्य का दिन है और चन्द्रलोक[1] ही पितृलोक है, अतः अमावास्या के दिन चन्द्रवार का योग पुण्यकाल है। उस दिन स्नान-दान का विशेष फल होना ही चाहिए।

विधि विज्ञान

स्नान-दान के विषय में पहले लिखा जा चुका है। मौनपूर्वक स्नान का कारण यह है कि भगवद्गीता के अनुसार मौन वाणी का तप है। यद्यपि तप सदा ही उत्तम होता है तथापि चन्द्रमा जल का देवता है और यह स्नान का ही पर्व है, अतः उस समय यह तप होना ही चाहिए। अश्वत्थ तो भगवद्रूप है। भगवद्गीता कहती है—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' (सब वृक्षों में अश्वत्थ मेरा स्वरूप है)। इसके अतिरिक्त वेद में अश्वत्थ[2] को तेज से उत्पन्न और वृक्षों का साम्राज्यरूप बताया गया है। सो तेजोमय सूर्य-चन्द्र के संगम रूप अमावास्या तिथि के दिन सोमवार का योग होने पर अश्वत्थपूजन आवश्यक ही है। सूर्य और चन्द्र ही

---

१. ये वै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति ते सर्वे चन्द्रमसमेवापियन्ति (कौषीतकी उपनिषद्)

२. तेजसो वा एष वनस्पतिरजायत यदश्वत्थः, साम्राज्यं वा एतद् वनस्पतीनाम् (ऐतरेय ब्राह्मण ७।२।६)

जीवन के मूल हैं (देखिए संवत्सरोत्सव) और अश्वत्थ तथा विष्णु जगत् के पालक हैं इसी कारण इस व्रत को आयुर्वर्द्धक माना गया है और इसी कारण कथा में पुनर्जीवन की चर्चा है।

प्रदक्षिणा की और दातव्य वस्तुओं की संख्या अष्टोत्तरशत इसलिए बताई गई है कि उस संख्या में सब देवताओं का समावेश हो जाता है, अतएव धर्मशास्त्रों में लिखा है कि 'अनुक्तसंख्या यत्र स्याच्छतमष्टोत्तरं स्मृतम् ।' अर्थात् जहाँ कोई संख्या न लिखी हो वहाँ अष्टोत्तरशत समझना चाहिए। इसमें सबका समावेश हो जाता है।

कथा

सूतजी ने कहा—शरशय्या पर सोये हुए भीष्मजी के समीप जाकर धर्मात्मा युधिष्ठिर ने प्रणाम करके यह वचन कहा।

युधिष्ठिर ने कहा—क्रोधयुक्त भीमसेन ने कौरवों में से मुख्यों को मार दिया तथा अन्य लोगों को अर्जुन ने युद्ध में मार दिया। इस तरह दुर्योधन के कुमन्त्र से हमारे कुल का क्षय हो गया। इस समय पृथ्वी और पाताल पर बालक, बूढ़ों और रोगियों के सिवाय कोई नहीं है। भरतवंश में हम केवल पाँच बचे हैं। ऐसी स्थिति में एकच्छत्र राज्य भी मुझे पसन्द नहीं। मुझे अपने जीवन से भी घृणा है और मेरे अंगों को कहीं चैन नहीं है। सन्तान का विच्छेद देखकर मेरे हृदय में निरन्तर संताप होता रहता है। उत्तरा के गर्भ में जो सन्तान थी वह भी अश्वत्थामा के अस्त्र से दग्ध हो गयी है, अतः मुझे सन्तति का विच्छेद देखकर दुगुना दुःख हो रहा है। हे पितामह ! आप मुझे कहिए कि अब मैं क्या करूँ और कहा जाऊँ ? जिससे मुझे तत्काल चिरजीवी सन्तान प्राप्त हो सके।

भीष्मजी ने कहा—हे राजन् ! सुनिए। मैं व्रतों में उत्तम व्रत तुमसे कहता हूँ, जिसके श्रवण मात्र से चिरजीवी सन्तान होती है।

हे पार्थ ! जो अमावस्या सोमवार से युक्त हो उस दिन अश्वत्थ (पीपल) के समीप जाकर विष्णु का पूजन करे और उस वृक्ष की एक सौ आठ प्रदक्षिणा करे। उतनी ही संख्या के रत्न या फल दान करे। हे राजन् ! यह व्रतराज विष्णु को अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। प्रातःकाल सोमवती अमावस्या है। तुम उत्तरा से यह व्रत करवाओ, उसका गर्भ जीवित हो जायगा। उसका पुत्र गुणवान् और त्रिलोकी में विख्यात होगा।

भीष्मपितामह के ये वचन सुनकर युधिष्ठिरने कहा—इस व्रत को आप विस्तार से प्रकाशित करिए। मनुष्य-लोक में इसको किसने प्रकाशित किया और इस व्रत का आरम्भ किसने किया ?

भीष्मजी ने कहा—काञ्ची नामकी पुरी सर्वत्र विख्यात है। वहाँ अपने-अपने कर्म में तत्पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहते हैं। वह पुरी चाँदी के पहाड़ के समान हवेलियों से सुशोभित है। नगर के स्त्री पुरुष सुन्दर वेष धारण करते हैं, उनसे भी वह शोभित है। रूप और चतुरता में श्रेष्ठ वेश्याओं से वह पुरी कुवेर की अलका और इन्द्र की अमरावती के समान अलंकृत है। अग्नि की महापुरी तेजोवती के समान वह रत्नों से युक्त है।

वहाँ रत्नसेन नाम का एक महान् पराक्रमी राजा हुआ। जब वह राजा राज्य कर रहा था उस समय अपने कर्म में तत्पर एक देवस्वामी नाम का विख्यात ब्राह्मण वहाँ रहता था। उसकी पत्नी सुशीला (अच्छे स्वभाव और अच्छे आचरणवाली) थी। स्त्री का नाम धनवती था। उसका यह नाम यथार्थ था। वह ऐसी लगती थी जैसे आकार धारण किये हुए लक्ष्मी ही हो। इस पत्नी ने सात शुभ पुत्रों को उत्पन्न किया और एक रमणीय कन्या उत्पन्न की, जिसका नाम गुणवती था। पुत्रों का विवाह कर दिया गया और वे सुखपूर्वक

रहने लगे, किन्तु कन्या गुणवती कुआँरी थी और अपने लिये योग्यवर की अभिलाषा रखती थी।

इसी बीच एक ब्राह्मण भिक्षा के लिए उसके यहाँ आया। वह अपने तेज के कारण मूर्त्तिमान अग्नि की तरह प्रदीप्त था। दरवाजे पर आकर उसने आशीर्वाद दिया। उसे देखकर देवस्वामी की सातों पुत्रवधुएँ हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई और प्रत्येक से भिक्षा लेकर उस ब्राह्मण ने सौभाग्य, संपत्ति और अविधवा होने का आशीर्वाद दिया।

तदनन्तर माता ने भिक्षा लेकर गुणवती को भी भेजा। उसने ब्राह्मण के चरण छूकर उसको भिक्षादान किया। ब्राह्मण ने उसे आशीर्वाद दिया कि 'हे शुभे! तुम धर्मवती होना' गुणवती इस आशीर्वाद को सुनकर आश्चर्ययुक्त हुई और घर लौट गई। उसने आकर ब्राह्मण का दिया हुआ आशीर्वाद माता को सुनाया। धनवती आशीर्वाद सुनकर पुत्री का हाथ पकड़के वहाँ आई और पुत्री से उस ब्राह्मण को फिर नमस्कार करवाया। ब्राह्मण ने उसी प्रकार आशीर्वादोच्चारण करके उसका अभिनन्दन किया। धनवती ने जब यह आशीर्वाद सुना तो चिन्तित होकर कहने लगी।

धनवती ने कहा—भगवन्! आप कृपा करके मेरी बात सुनिए। मेरी पुत्री ने जो प्रणाम किया उसका आपने विपरीत ही उत्तर दिया। आप बार-बार यही कह रहे हैं कि 'भद्रे, तुम धर्मवती होओ।' मेरी बहुओं ने जब आप को प्रणाम किया तो आप ने अविधवा होने तथा सुख-सौभाग्य प्राप्त करने के अच्छे आशीर्वाद दिये। पर लड़की को ऐसा आशीर्वाद क्यों दिया? इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करिए।

ब्राह्मण ने कहा—हे धनवती, तुम धन्य हो और तुम्हारा चरित्र पृथ्वी पर विख्यात है। मैंने तुम्हारी लड़की को यथायोग्य आशीर्वाद दिया है। यह लड़की सप्तपदी के समय विधवा हो जायगी, किन्तु यह

अत्यन्त धर्माचरण करेगी। तुम्हारे घर जब सोमा आवेगी तब उसका पूजन करने मात्र से इसका वैधव्य नष्ट हो सकता है, अतः मैंने इसे यह आशीर्वाद दिया कि 'हे शुभे! तुम धर्मवती होओ।' यह सुनकर धनवती अत्यन्त चिन्तित हुई और बार-बार प्रणाम करके दीन वचन कहने लगी।

धनवती ने कहा—सोमा के आनेमात्र से वैधव्य का नाश हो जायगा! आप जिस सोमा के लिए कह रहे हैं वह कौन है? उसकी क्या जाति है? वह कहाँ रहती है? मुझे यह सब बताइए। विस्तार के लिए समय नहीं है।

ब्राह्मण ने कहा—वह सोमा जाति की धोबिन है और सिंहल द्वीप की रहनेवाली है। वह यदि तुम्हारे घर आ जाय तो इसका वैधव्य नाश हो सकता है। यह कहकर ब्राह्मण भिक्षा की प्रतीक्षा में अन्यत्र चला गया।

धनवती ने अपने पुत्रों से कहा—हे पुत्रो! यह गुणवती मेरी कन्या और तुम्हारी बहिन है। सोमा के आगमन मात्र सेइ सका वैधव्य नष्ट हो सकता है। जिस पुत्र को पिता की भक्ति हो और माता के वचन का आदर हो वह अपनी बहिन के साथ सोमा के लाने के लिए तत्काल चला जाय।

पुत्रों ने कहा—माता, तुम्हारा पुत्रों पर कितना स्नेह है यह हमने जान लिया। तुम अपने पुत्रों को दुर्गम देशान्तर में भेज रही हो। उस देश के बीच में सौ योजन अपार समुद्र पड़ता है। वहाँ जाना अशक्य है। हम जाने में समर्थ नहीं हैं।

यह सुनकर देवस्वामी ने कहा—'सात पुत्रों के रहते हुए भी मैं पुत्र-रहित हूँ। पुत्री का वैधव्य नष्ट करनेवाली उस सोमा को मैं लाऊँगा।' क्रोधपूर्वक देवस्वामी जब यह कह रहा था उस क्षण छोटे लड़के शिवस्वामी ने नम्र होकर यह कहा—'हे महाभाग! आप क्रोध के

आवेश के वश में हो गये हैं। मेरे रहते सिंहलद्वीप और कौन जा सकता है?' यह कहकर वह झट से खड़ा हुआ और पिता को शिर से प्रमाण करके बहिन सहित सिंहल द्वीप को रवाना हो गया। कुछ दिनों में समुद्र के तट पर पहुँचा और वहाँ वह समुद्र पार करने का प्रकार सोचने लगा॥

उसने देखा कि समीप ही एक बड़ा विस्तीर्ण बरगद का वृक्ष है। उसके खोखले में एक गृध्रराज के बच्चे सुख से बैठे हुए हैं। उस वृक्ष के नीचे बैठकर उन दोनों बहिन-भाइयों ने वह दिन बिताया। वह गृध्र बच्चों के लिए भोजन लेकर आया, किन्तु दिये हुए भोजन को भी बच्चों ने खाया नहीं। प्रेम से विह्वल गृध्र ने आकर उनसे पूछा।

गृध्र ने कहा—पुत्रो ! तुम लोग भूखे हो, किन्तु भोजन क्यों नहीं कर रहे हो ? मैं तुम्हारे योग्य कोमल मांस लाया हूँ।

बच्चों ने कहा—इस वृक्ष के नीचे दो मनुष्य बैठे हैं। जब तक वे भोजन नहीं करते तब तक हम कैसे भोजन करें ? यह सुनकर उस गीध की बुद्धि दया से आर्द्र हो गई और वह उन दोनों बहिन-भाइयों के पास आकर कहने लगा।

गीध ने कहा—आप की इच्छा को मैंने जान लिया। आप यह भोजन करिए। मैं प्रातःकाल ही आपको समुद्र के पार उतार दूँगा।

रात्रि व्यतीत होने पर सूर्य के उदय के समय वेगवान् गृध्रराज ने उन दोनों को पार उतार दिया और तब वे सिंहल द्वीप में आकर सोमा के घर के समीप बैठे।

वे लोग प्रतिदिन सोमा के आँगन को झाड़कर उसके घर को लीप दिया करते थे। इस तरह करते-करते उन्हें एक वर्ष हो गया।

एक दिन सोमा ने अपने बेटों और बहुओं को बुलाकर आश्चर्य-सहित पूछा—मेरे घर में मार्जन और लेपन कौन करता है ?

सबने एक साथ कहा—यह सब काम हमारा है, किन्तु सोमा को विश्वास न हुआ।

एक दिन सोमा धोबिन रात में चुपचाप बैठ रही। उसने देखा कि एक ब्राह्मणी कन्या उसके घर का आँगन झाड़ रही है। उसी समय उसका दुखी भाई आया और आँगन लीपने लगा। सोमा ने उन दोनों से पूछा—मुझे बताइए कि तुम लोग कौन हो ?

उन दोनों ने कहा—हम दोनों ब्राह्मण के लड़के-लड़की हैं।

सोमा ने कहा—मैं जल गई ! मेरा नाश हो गया ! हाय ! मेरा घर झाड़नेवाले ब्राह्मण और ब्राह्मणी हैं। मैं इस पाप से किस गति को प्राप्त होऊँगी। हे ब्राह्मण ! मैं तो पापजाति धोबिन हूँ। तुम ब्राह्मण होकर मेरे विरुद्ध कर्म क्यों करना चाहते हो ?

शिवस्वामी ने कहा—यह गुणवती नाम की मेरी बहिन है और बड़ी सुन्दरी है। सप्तपदी के बीच में इसको वैधव्य प्राप्त होगा, किन्तु तुम्हारी केवल विद्यमानता से इसका वैधव्य नष्ट हो जायगा। इस कारण बहिन के साथ तुम्हारा दासकर्म करता हूँ।

सोमा ने कहा—इससे आगे तुम यह काम न करना। तुम्हारी आज्ञा से मैं पहुँचूँगी। यह कहकर वह घर में गई और अपनी पुत्रवधुओं से बोली—मेरे इस राज्य में यदि कहीं कोई मनुष्य मर जाय तो उसे जब तक मैं न आऊँ, वैसे ही रखना। किसी को किसी प्रकार भी जलाया न जाय।

बहुओं ने 'तथास्तु' कहा और सोमा समुद्र के तट पर गई। उसने क्षणभर में ब्राह्मण के लड़के-लड़की को समुद्र के पार उतार दिया और स्वयं भी आकाश के मार्ग से महासमुद्र को पार कर गई। उसके प्रभाव से सब लोग एक निमेषमात्र में काञ्ची पहुँच गये।

धनवती ने सोमा को देखकर दृष्टिद्वारा उसका सत्कार किया। इसी बीच शिवस्वामी देशान्तर से अपनी बहिन के सदृश वर ढूँढ़ लाने के

लिए उज्जैन नगरी में गया। वहाँ से देवशर्मा के पुत्र रुद्रशर्मा ब्राह्मण को लाया जो बहिन के गुणों के अनुरूप था।

फिर सोमा धोबिन ने विवाह की सामग्री तयार करवाई और अच्छे लग्न और नक्षत्र में देवस्वामी ने अपनी कन्या गुणवती का उस गुणवान् रुद्रशर्मा को दान किया।

जिस समय विवाह के मंत्रों से अग्नि का हवन हो रहा था उस समय सप्तपदी के बीच ही में रुद्रशर्मा मर गया। सब बान्धव रोने लगे, किन्तु सोमा आकुलतारहित खड़ी रही। जो लोग वहाँ देख रहे थे उनको बड़ा भारी क्रन्दन होने लगा। सोमा ने जल्दी से गुणवती को व्रतराज के प्रभाव से उत्पन्न पुण्य संकल्प करके विधिपूर्वक दान कर दिया, जो कि मृत्यु को नष्ट करनेवाला है। उस व्रतराज के प्रभाव से रुद्रशर्मा जीवित होकर सोये की तरह झट से खड़ा हो गया।

इस तरह विवाह की समाप्ति करके व्रतराज का निवेदन कर धनवती से विदा लेकर सोमा घर आई।

फिर उस सोमा धोबिन ने मरे ब्राह्मण को जिलाकर हर्षसहित पूर्ण-मनोरथ होकर अपने घर को प्रस्थान किया।

इसी बीच उसके घर में पहले उसके लड़के मरे, फिर उसका पति मरा और तदनन्तर उसका जामाता मरा। जब वह आ रही थी तब सोमवार से युक्त अमावस्या की तिथि, जो मरे को जिलानेवाली है, प्राप्त हुई। उसी समय सोमा ने एक बूढ़ी स्त्री को देखा जिसके शिर पर रूई का बोझा लदा था। वह बहुत दुःखी होकर चिल्ला रही थी।

वृद्धा ने कहा—हे पुत्री! मेरे सिर पर रखे हुए इस रूई के बोझे को उतार दो। इस रूई के बोझ से पीड़ित होकर मैं चिल्ला रही हूँ और दुःखी हूँ।

सोमा ने कहा—हे बुढ़िया! आज सोमवती अमावस्या है। मैं आज रूई का स्पर्श नहीं करती यह मेरा नियम है।

फिर सोमा ने देखा कि एक स्त्री मूलों (पेड़ की जड़ों) का भार लिए हुए उस ओर आ रही है।

उसने भी कहा—हे पुत्री! यह मूलों का भार बहुत बड़ा है। इसको उतारकर जरा ठहरो, मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।

सोमा ने कहा—आज मैं किसी प्रकार मूल या तूल (रूई) का स्पर्श नहीं करती।

तदनन्तर सोमा ने स्नान करके रास्ते में नदी के तीर पर स्थित अश्वत्थ के वृक्ष में विष्णु का पूजन किया और मिश्री की डलियों से एक सौ आठ प्रदक्षिणाएँ कीं।

भीष्मजी ने कहा—जब उसने एकान्त में प्रदक्षिणा की, उसी समय उसके जामाता, पुत्र तथा पति तीनों जीवित हो गये। उसका नगर, विशेषकर उसका घर लक्ष्मी से व्याप्त हो गया। तदनन्तर वह भाग्यशाली सोमा अपने घर आई। वह अपने पति, पुत्र और दामाद को जीवित देखकर कृतकृत्य हो गई।

सब पुत्रवधुओं ने उस तपस्विनी को प्रणाम किया और पूछा—हे देवि! तुम्हारे पुत्र, पति, जामाता और बांधव लोग कैसे जीवित हो गए और वे मर कैसे गये थे?

सोमा ने कहा—मैंने व्रतराज का पुण्य गुणवती को दे दिया था। उसके फलस्वरूप मेरे पति, जामाता, पुत्र मरे और अश्वत्थ में विष्णु का पूजन करके मैंने मिश्री हाथ में लेकर जो एक सौ आठ प्रदक्षिणाएँ कीं उसके प्रभाव से पति, जामाता और पुत्र जीवित हो गये। हे भली बहुओ! तुम सब इस व्रतराज को प्रधानरूप से करो तो तुम्हें वैधव्य न होगा और सौभाग्य प्राप्त होगा। तदनन्तर अपनी बहुओं को उसने यह व्रतराज करवाया। इससे पुत्र-पौत्रों सहित वह अनेक भोग भोगकर विष्णुलोक को प्राप्त हुई। हे युधिष्ठिर! मैंने तुमसे विस्तारपूर्वक यह वर्णन किया।

युधिष्ठिर ने पूछा—इस व्रतराज का क्या माहात्म्य है और क्या विधि है ? हे भीष्मजी, यह व्रत किसको करना चाहिए—स्त्रियों को या पुरुषों को ?

भीष्मजी ने कहा—हे पार्थ ! जब अमावस्या तिथि सोमवार से युक्त हो तब अत्यन्त पवित्र काल होता है, जो देवताओं को भी दुर्लभ है। इस दिन व्रत करनेवाला प्रातःकाल उठकर जलाशय में स्नान करे। स्नान करके मौनसहित रेशमी वस्त्र पहने और अश्वत्थ वृक्ष के समीप जावे। अश्वत्थ वृक्ष की जड़ में मन्त्रसहित भगवान विष्णु की पूजा करे। विष्णुपूजा का मन्त्र यह है—

व्यक्ताव्यक्तस्वरूपाय सृष्टिस्थित्यन्तकारिणे।
आदिमध्यान्तहीनाय सुभद्रश्रवसे नमः॥

इस तरह पीले वस्त्र, पीले अक्षत, फल, पुष्प और अनेक प्रकार की भक्ष्य वस्तुओं से गोविन्द का पूजन करके उक्त मन्त्र से अश्वत्थ का भी पूजन करना चाहिए, क्योंकि अश्वत्थ में अग्नि का वास है और उसमें भगवान् सदा विराजमान रहते हैं। फिर 'सोमवाराय नमः' 'सोमायै नमः' इन दो मन्त्रों से भी पूजन करे। इस तरह पूजा-विधि सम्पन्न करके प्रदक्षिणा करे। मोती, सोना, चाँदी, हीरा, मणियों के द्वारा अथवा भक्ष्य वस्तुओं से भरे हुए काँसे के बर्तन द्वारा हे राजन् ! पृथक्-पृथक् प्रदक्षिणा करनी चाहिए। इन वस्तुओं को पृथक्-पृथक् हाथ में लेकर तब तक प्रदक्षिणा करनी चाहिए जब तक एक सौ आठ न हो जाँय। फिर ये वस्तुएँ ब्राह्मणों की स्त्रियों को दी जाती हैं। तदनन्तर स्वजनों के साथ भोजन करे। हे राजेन्द्र ! यह व्रतराज की विधि मैंने तुमसे कही। तुम यह व्रत द्रौपदी, सुभद्रा और उत्तरा से करवाओ तो उत्तरा के गर्भ का बालक शीघ्र ही जीवन प्राप्त करेगा।

युधिष्ठिर ने पूछा—जिस स्त्री के सम्पत्ति कम हो और सोना-मणि आदि न हो, वह व्रतराज का फल किस प्रकार प्राप्त करेगी ? कहिए।

भीष्मजी ने कहा—वह स्त्री फल, पुष्प, भक्ष्य, भोज्य और वस्त्र आदि से प्रदक्षिणा कर सकती है। उसे भी पूर्ण फल प्राप्त होगा।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! अब आप बताइए कि इसका उद्यापन कैसे करना चाहिए? उद्यापन करने से क्या फल होता है और न करने से क्या होता है?

भीष्मजी ने कहा—हे युधिष्ठिर! उद्यापन की शुभ विधि मैं कहता हूँ जिसके न करने से व्रत पूर्ण नहीं होता और व्रत का फल प्राप्त नहीं होता। सर्वतोभद्र मण्डल बनाकर उसके बीच उत्तम घट की स्थापना करे। उस पर स्वर्णनिर्मित विष्णु भगवान् की चतुर्भुज मूर्त्ति स्थापित करे। मूर्त्ति एक माशे से एक पल तक की बनाई जा सकती है। सम्पत्ति के अनुसार अनेक प्रकार की सामग्रियों से और नैवेद्य पुष्प, धूप, दीप आदि से पूजा करे। रात्रि में जागरण करे और प्रातःकाल होम करे। होम पीपल की समिधाओं, खीर और तिलों से करना चाहिए। फिर पुर्णाहुति करके दूध देनेवाली गौ का दान करे। घी, खीर और लड्डुओं से बारह ब्राह्मणों को भोजन करावे। उनको यज्ञोपवीत, वस्त्र और दक्षिणा दान करे। ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करे और भक्तिपूर्वक उनका आदर करके पृथ्वी पर दण्डवत् प्रणाम करे। तदनन्तर उनसे प्रार्थना करके उनका विसर्जन करे। (व्रतार्क में भविष्योत्तरपुराण से)

अभ्यास

(१) सोमवती अमावास्या किस दिन होती है?

(२) सोमवती अमावास्या को क्या करना चाहिए? विशेषतः इस व्रत का अधिकारी कौन है?

(३) इस दिन मौनपूर्वक स्नान, अश्वत्थपूजन, विष्णुपूजन और दातव्य वस्तुओं की १०८ संख्या का प्रयोजन समझाइए।

(४) कथा का सारांश कहिए।

ग्रहण

समय

जब सूर्य अथवा चन्द्रमा का ग्रहण हो

कालनिर्णय

जब तक ग्रहण आँखों से दीखता रहे तब तक ग्रहण का पुण्यकाल है। इसी कारण ग्रस्तास्त ग्रहण में दूसरे द्वीपों में ग्रहण रहने पर भी अपने यहाँ न दिखाई देने के कारण अस्त हो जाने पर पुण्यकाल नहीं माना जाता। इसी तरह ग्रस्तोदय होने पर भी उदय से पूर्व पुण्यकाल नहीं होता।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बादल की ओट में आ जाने से न दिखाई दे तो पुण्यकाल न माना जाय। उस समय ज्यौतिष शास्त्र के अनुसार तो आपके यहाँ ग्रहण पड़ ही रहा है, अतः ग्रहण मानना चाहिए।

सूर्यग्रहण यदि रविवार के दिन और चन्द्रग्रहण यदि सोमवार के दिन हो तो चूडामणि योग होता है। उसमें दानादिक का अनन्तफल है।

विधि

ग्रहण के स्पर्श के समय स्नान, मध्य के समय होम, देवपूजन और श्राद्ध तथा अन्त में सचैल स्नान करना चाहिए। स्त्रियाँ बिना शिर धोए भी स्नान कर सकती हैं।

ग्रहण के स्नान में कोई मन्त्र नहीं बोलना चाहिए (धर्मसिन्धु)। ग्रहण के स्नान में गरम जल की अपेक्षा ठंडा जल, ठंडे जल में भी दूसरे

के हाथ से निकाले की अपेक्षा अपने हाथ से निकाला हुआ, निकाले हुए की अपेक्षा जमीन में भरा हुआ, भरे हुए की अपेक्षा बहता हुआ, (साधारण) बहते हुए की अपेक्षा सरोवर का, सरोवर की अपेक्षा नदी का, अन्य नदियों की अपेक्षा गङ्गा का और गङ्गा की अपेक्षा भी समुद्र का जल पवित्र माना जाता है।

तीन दिन अथवा एक दिन उपवास करके स्नान-दानादि का ग्रहण में महाफल है, किन्तु संतानयुक्त गृहस्थ को ग्रहण और संक्रान्ति के दिन उपवास नहीं करना चाहिए।

यद्यपि ग्रहण के समय सभी ब्राह्मण पवित्र माने गए हैं। उनमें पात्रापात्र का विवेक नहीं किया जाता, तथापि सत्पात्र को दान करने से अधिक पुण्य होता है।

ग्रहण में यदि श्राद्ध करना हो तो आमश्राद्ध अथवा हिरण्यश्राद्ध करना चाहिए।

ग्रहण में श्राद्ध खानेवाले को महादोष बताया गया है। संपन्न लोगों के लिये ग्रहण के समय तुलादानादि भी करने की विधि है।

ग्रहण में मन्त्रदीक्षा ले तो मुहूर्त्त देखने की आवश्यकता नहीं है।

सूर्यग्रहण में चार प्रहर पूर्व और चन्द्रग्रहण में तीन प्रहर पूर्व स्वस्थ और शक्त लोगों को भोजन नहीं करना चाहिए। बूढ़े, बालक और रोगी एक प्रहर पूर्व खा सकते हैं। ग्रस्तास्त ग्रहण होने पर सूर्य या चन्द्र, जिसका ग्रहण हो उस, का पुनः शुद्ध विम्ब देखकर भोजन करना चाहिए।

ग्रहण क्या है ?

सूर्य पर चन्द्रमा की और चन्द्रमा पर पृथिवी की छाया का नाम ग्रहण है।

बात यह है कि चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है। वह पृथिवी के चारों तरफ फिरता है। अमावस्या के दिन वह सूर्य और पृथिवी के बीच में रहता है। जहाँ वह दिन के समय सूर्य और पृथिवी के बीच आ जाता है वहाँ सूर्य चन्द्रमा से आच्छादित हो जाता है। तब सूर्य का प्रकाश पृथिवी पर नहीं पड़ता अथवा कम पड़ता है। यही सूर्यग्रहण है और इसी कारण यह अमावस्या के दिन ही होता है।

भूगोल पढ़नेवाले जानते हैं कि चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता है। उसका जितना भाग सूर्य के सामने रहता है वह चमकता रहता है और जितने भाग और सूर्य के बीच में पृथिवी की छाया रहती है वह नहीं चमकता। पूर्णिमा की रात को सूर्य-चन्द्रमा दोनों आमने-सामने रहते हैं, अतः चन्द्रमा पूरा चमक उठता है। उस रात को यदि पृथिवी की चन्द्रमा पर छाया पड़ जाती है तो वह चन्द्रग्रहण होता है। पूर्णचन्द्र पूर्णिमा को रहता है अतः चन्द्रग्रहण पूर्णिमा को ही होता है।

ग्रहण पुण्यकाल क्यों और उस समय अपवित्रता क्यों ?

कहा जा सकता है कि ऐसी साधारण बात के कारण इतना बड़ा पुण्यकाल मानना और स्नानादि का इतना आडम्बर करना क्या उचित है ? बहुतेरे आधुनिक लोग तो इन बातों को छोड़ भी देते हैं। इसका सबसे प्रथम तो उत्तर यह है कि पुण्य क्या है और पाप क्या है इसका ज्ञान शास्त्रों द्वारा अर्थात् केवल ऋषिवचनों से होता है। जब तक तपस्या और योग द्वारा बुद्धि निर्मल नहीं हो जाती, जिसे योगदर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं वह जब तक प्राप्त नहीं होती तब तक इन अलौकिक पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, अतः साधारण मानव को तर्क के चक्कर में न पड़कर शास्त्राज्ञा के अनुसार ही पुण्य-पाप का

निर्णय करना चाहिए । अतएव भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ (१६।२४)

अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। इसलिए यद्यपि ऐसी बातों में केवल युक्ति के द्वारा निर्णय उचित नहीं है, तथापि आधुनिक विचारों से विप्लुत आस्तिकों के समाधानार्थ शास्त्रानुसार विचार किया जाता है—

पहले (संवत्सरोत्सव के प्रसंग में) बताया जा चुका है कि समस्त प्राणियों के जीवनाधार अग्नि और सोम हैं और उनके मूलाधार हैं सूर्य और चन्द्र। सूर्य और चन्द्र का प्रकाश यथावत् मिलते रहने से जीवन की सब प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। उनके कार्यों में यदि विघ्न होगा तो उसका प्राणियों पर भी असर होगा ही। जब ग्रहण होता है तब सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का प्रभाव पृथ्वी पर पड़ना थोड़ी देर के लिए बंद हो जाता है। इस का प्रभाव अग्नि–सोम द्वारा संचालित प्राणिजगत् पर भी पड़ता है और सूर्य–चन्द्र की किरणों द्वारा जो सूक्ष्म तत्त्वों में हलचल होती रहती है वह भी उस समय बन्द हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि जो अच्छे–बुरे कार्य मनुष्य करता है, जिनसे पवित्रता और अपवित्रता बढ़ती है उनमें भी परिवर्तन नहीं होता, अतः ऐसे समय जो पुण्य अथवा पाप कार्य किये जाते हैं वे स्थिर हो सकते है। एतदर्थ सूर्य-चन्द्र-ग्रहण में पवित्र होकर पुण्यकार्य किये जाते हैं और अपवित्रता-सम्पादक अथवा शारीरिक क्रियाओं में संचलन करनेवाले भोजनादि कर्म छोड़ दिये जाते हैं। यदि इसके विरुद्ध आचरण किया जाय तो शारीरिक तथा मानसिक सभी क्रियाओं में विघ्न–बाधा हो सकती है। ऊपर बताया जा चुका है कि ग्रहण शारीरिक तत्त्वों के अपरिवर्त्तन का समय है। ऐसे समय जो

अपवित्र तत्त्व शरीरादि पर पड़ गए हों वे स्थिर न हो जाँय, इसलिये उसके अनन्तर सचैल स्नानादिक विहित हैं।

कहा जायगा कि तब ऐसी छाया तो बादल आने पर भी हो ही जायगी और किरणों में प्रतिबन्ध भी हो ही जायगा, फिर बादल हो जाय तब भी शास्त्रानुसार ग्रहण क्यों न माना जाय? और बादल हो जाने पर ग्रहण क्यों माना जाय? पर ऐसी बात नहीं है। बादल भाप आदि तरल और विरल पदार्थों से बनते हैं, अतः वे न किरणों के सूक्ष्म प्रभाव को रोक सकते हैं, न उसकी रुकावट में पुनः संचार पैदा कर सकते हैं, अतः शास्त्रों ने बादल आदि के कारण ग्रहण न मानने का निषेध उचित ही किया।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि जब चन्द्रमा के और पृथ्वी के आच्छादन का नाम ही ग्रहण है तब चन्द्रमा और सूर्य राहु के ग्रास हो जाते हैं इस कथन का क्या अर्थ है? यह बात भी शास्त्रों पर अच्छी तरह विचार करने से समझ में आ जाती है। ज्यौतिषशास्त्र के अनुसार नौ ग्रहों में से सात प्रकाशग्रह हैं और दो (राहु और केतु) तमोग्रह हैं। वास्तव में सब प्रकाश सूर्य का है। अन्य ग्रह उसी से प्रकाश प्राप्त करके पृथिवी को प्रदान करते हैं। किन्तु सूर्यसहित ये सातों ग्रह प्रकाशप्रद हैं अतः इन्हें प्रकाशग्रह कहा जाता है और राहु तथा केतु (जो एक ही ग्रह के दो भाग हैं) केवल अन्धकार-रूप हैं। उनका काम प्रकाश को रोकना मात्र है, अतः उन्हें तमोग्रह कहा जाता है। चन्द्रमा पर पृथिवी की छाया और सूर्य पर चन्द्रमा की छाया भी प्रकाश का प्रतिबन्ध करती है, अतः उसे भी राहुरूप माना जाता है। राहु[1] शब्द का अर्थ भी यही है कि जो चन्द्र और सूर्य को तेजरहित करे। उनमें से चन्द्रमा की छाया गोल पड़ती है अतः उसे शिररूप और

---

१. 'रहयति भुक्त्वा चन्द्रार्कौ राहुः' (क्षीरस्वामी)

पृथिवी की छाया लंब-त्रिकोण-रूप पड़ती है, अतः उसे धड़रूप कहा जा सकता है। यही राहु के दो भाग राहु और केतु-रूप कहे जाते हैं। तदनुसार ही पुराणों की कथा है। अतः शास्त्रवचनों में व्यर्थ संदेह नहीं करना चाहिए।

कथा

जिन (शिवजी) के चरणों को देवताओं के मुकुटों ने (नित्य प्रणाम करने में मुकुटों का चरण से स्पर्श होते रहने के कारण) घिस रक्खा है वे शिवजी भी जिन्हें उदय और अस्त होते समय हाथ जोड़ते हैं उन तेजोनिधि सूर्य की जय हो।

श्वेतवर्ण चन्द्रमा और काले रंग के राहु की शरीर-कान्तियों से गंगा और यमुना के जल के समान आकाश की वह कांति हमारा कल्याण करे जो समग्र जगत् की पापराशि का नाश करनेवाली है।

भौरों के झुण्ड के समान नीला, कोयल के समान काला, जल भरे हुए मेघ के समान वर्णवाला, सर्प और वैदूर्य मणि की सी कांतिवाला तथा चन्द्र-सूर्य का मर्दन करनेवाला वह राहु तुम्हारी रक्षा करें, जो ऐसा ग्रह है कि जिसका स्वरूप चरणहीन है।

ग्रहण के स्पर्श के समय स्नान और जप करना चाहिए, मध्य में होम और देवपूजन करना चाहिए और सूर्य-चन्द्रमा का मोक्ष होते समय दान देना चाहिए। ग्रहण के निवृत्त होने पर सरसों आदि पदार्थों से स्नान करना चाहिए। ग्रहण का दोष निवारण करने के लिए सरसों, कुष्ठ, दोनों प्रकार की हल्दी, लोध, चण्डा, रामा, जवासा, प्रियङ्गु और देवदारु से युक्त स्नान करिए। ऐसा स्नान करने से सूर्यादिक सब ग्रह शुभप्रद हो जाते हैं।

चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहण के दिन पत्र, तिनके, लकड़ी और फूल नहीं तोड़ना चाहिए; केश व वस्त्र नहीं निचोड़ने चाहिएँ तथा दन्तधावन

नहीं करना चाहिए। ग्रहण के समय सोने से अंधा होता है, विष्ठा-मूत्र करने से गाँव का सूअर होता है, मैथुन से कोढ़ी होता है और भोजन करनेवाला वंशहीन हो जाता है।

ग्रहण के समय गोदान करने से सूर्यलोक में जाता है, बछड़ा दान करने से शिवलोक में जाता है, घोड़ा दान करने से वैकुण्ठ में जाता है, हाथी दान करने से निधियों का स्वामी होता है। सुवर्ण दान करने से ऐश्वर्य और बहुत धन प्राप्त होता है, वस्त्र दान करने से राज्य प्राप्त होता है, पृथ्वी दान करने से इन्द्रलोक में जाता है और भैंस दान करने से यमलोक में नहीं जाता।

जब सूर्य का ग्रहण हो उस समय सब जल गंगाजल के समान हैं, सब ब्राह्मण व्यासजी के समान हैं और सब दान सोने के समान हैं। अन्य देश की अपेक्षा शुभ तीर्थ में ग्रहण के समय रहने से त्रिगुण या द्विगुण पुण्यवृद्धि होती है।

चन्द्रग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में करोड़गुना पुण्य होता है और सूर्यग्रहण के समय उससे भी दसगुना पुण्य होता है।

ग्रहण के समय मन से सत्पात्र को उद्देश्य करके जल में जल डाल देना चाहिए। ऐसा करने से देनेवाले को उसका फल प्राप्त होता है और लेनेवाले को उसका दोष नहीं लगता।

ग्रहण के समय ताला खोलना आदि कार्य नहीं करना चाहिए। यदि स्त्री गर्भयुक्त हो तो शङ्का रहती है कि ग्रहण की छाया पड़ने से संतान अंगहीन होगी, अतः नारियल, पञ्चरत्न, सुवर्ण और सातों धान्य संकल्प करके दान करना चाहिए। इस दान से वन्ध्या को भी पुत्र होता है।

सूर्यग्रहण में ग्रहण से पूर्व चार पहर और चन्द्रग्रहण में तीन पहर भोजन नहीं करना चाहिए। किन्तु बालक, वृद्ध और रोगी के लिए यह नियम नहीं है।

जिस दान का पहले से संकल्प किया हो वह ग्रहण से पहले दे दिया जाता है। यदि लोभ के कारण न दे तो हजारगुना हो जाता है। सत्पात्र ब्राह्मण को जो दान वाणी या मन से दिया हो उस दान को ऋण के समान चुका देना चाहिए, अन्यथा नरक में जाता है।

(व्रतार्क में आदित्यपुराण से)

अभ्यास

(१) ग्रहण का पुण्यकाल कब होता है ?

(२) ग्रस्तोदय और ग्रस्तास्त होने के समय आँखों से न दिखाई देने पर उतने समय तक क्यों नहीं माना जाता और वादल होने पर आँखों से न दिखाई देने पर भी क्यों माना जाता है ?

(३) ग्रहण क्या है ?

(४) ग्रहण पुण्यकाल क्यों और उस समय अपवित्रता क्यों ?

(५) राहु-केतु क्या हैं और पुराणों में उनसे ग्रहण का संवन्ध क्यों माना गया है ?

परिशिष्ट

यज्ञ-दान-तप

[भारतीय व्रतोत्सव के परिशिष्ट रूप में यह 'यज्ञ-दान-तप' नामक लेख दिया जा रहा है। भारतीय व्रतोत्सव केवल मेला लगाने की वस्तु नहीं है। उनमें वस्तुतः यही कार्य होते हैं, अतः इस पुस्तक के अध्येताओं को यह लेख अवश्य पढ़ना चाहिए। बिना यज्ञ, दान, तप के समझे आज के व्रतोत्सव केवल तमाशा हो गए हैं। भगवान् भगवद्गीता में कहते हैं—

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

अर्थात् यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को पवित्र करनेवाले हैं। उनका यथार्थ स्वरूप इस लेख के द्वारा समझ में आ सकेगा। पढ़कर देखिए।]

(१) यज्ञ

'यज्' धातु से भावार्थक 'नङ्' प्रत्यय लगाने से यज्ञ शब्द बनता है, अतः जो यज् धातु का अर्थ है वही यज्ञ शब्द का भी अर्थ है, क्योंकि धातु के अर्थ को ही भाव कहा जाता है। यज् धातु के व्याकरण के अनुसार तीन अर्थ हैं—देवपूजा, देवसंगतिकरण और देवार्थक दान, जैसा कि 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इस धातुपाठीय विवरण से सिद्ध है॥

अब यहाँ यह समझना चाहिए कि पूजा, संगतिकरण और दान क्या हैं। वास्तव में ये तीनों दान ही हैं। अनपेक्षित (अर्थात् लेनेवाले की अपेक्षा से रहित) दान का नाम पूजा है, क्योंकि पूज्य की पूजा उसकी अपेक्षा देखकर नहीं की जाती, किन्तु अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए की जाती है। परस्पर की अपेक्षा होने से (नवीन वस्तु के उत्पादनार्थ) जो एक दूसरे में मिला दिए जाते हैं उसे संगतिकरण

कहते हैं; और लेनेवाले की अपेक्षा देखकर दिए जानेवाले दान को दान कहा जाता है। यद्यपि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो ये तीनों दान प्रत्येक यज्ञ में अवश्य रहते हैं तथापि स्थूल रूप से देखने पर किसी यज्ञ में ये तीनों दान प्रधान रूप से होते हैं, किसी में दो और किसी में एक ही।

उदाहरण के लिए ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्यापन[1]) को ही लीजिए। उसमें स्थूल रूप से यही प्रतीत होता है कि गुरु शिष्य को अपेक्षित विद्या का दान करता है, किन्तु वास्तव में वहाँ भी तीनों दान हैं। शिष्य जो गुरु की शुश्रूषा करता है यह पूजा है, गुरु जो शिष्य को पढ़ाता है यह दान है और गुरु और शिष्य के ज्ञान का संगतिकरण भी है। भगवद्गीता के विविध यज्ञों को समझने की यही कुंजी है। इसे न समझने के कारण केवल अग्नि में आहुति मात्र को यज्ञ समझनेवाले उन यज्ञों का अर्थ ही नहीं समझ पाते।

यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि 'देवपूजा' आदि में जो देव शब्द है वह विग्रहधारी (शरीरयुक्त) इन्द्रादि देव तथा उपनिषदुक्त तेतीस देव दोनों के लिए है, अतः पृथिवी, जल, अग्नि, इन्द्रिय, मन आदि तत्त्वों का परस्पर संगतिकरण भी यज्ञ कहलाता है।

कहा जायगा कि जब तीनों प्रकार के दान का नाम ही यज्ञ है तब दान और यज्ञ में क्या भेद रहा ? इसका उत्तर यह है कि दान में केवल लेनेवाले की अपेक्षित वस्तु का अपने द्वारा त्याग ही रहता है, किन्तु यज्ञ में संगतिकरण की प्रधानता रहती है। यज्ञ में यद्यपि दान रहता है तथापि उस पर विशेष दृष्टि नहीं रहती, संगतिकरण पर ही विशेष दृष्टि रहती है। यही दान और यज्ञ में भेद है।

अतएव यज्ञ एक रासायनिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कुछ वस्तुओं के संगतिकरण (मिश्रण) द्वारा अन्य अपेक्षित वस्तुएँ सिद्ध होती हैं।

---

१. 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' (मनु ३।७०)

उदाहरण के लिए सोचिए कि—कहीं चातुर्मास्य में वृष्टि नहीं हो रही है। इसका कारण यह है कि जो जल आठ महीनों तक भाप बनकर सूर्य की किरणों द्वारा आकाश में ले जाया गया है उसको द्रुत करनेवाले पदार्थ की आकाश में कमी है। अब यदि 'कारीरी' इष्टि (छोटा यज्ञ) द्वारा मन्त्र शक्ति और विहित सामग्री के सूक्ष्म भागों से यह द्रुत करनेवाला तत्त्व आकाश में पहुँचा दिया जाता है तो अन्तरिक्षगत भाप द्रुत होकर (पिघलकर) बरस पड़ेगी। यही बात पुत्रेष्टि प्रभृति यज्ञों में भी है। उनके द्वारा भी पुरुष अथवा स्त्री में जो कमी होती है, जिसके कारण सन्तान उत्पन्न नहीं होती, उसकी पूर्त्ति कर दी जाती है। पञ्च महायज्ञादि नित्य यज्ञ भी इसी प्रकार कमियों की पूर्त्ति करते हैं।

परन्तु यह पूर्ति कर्मसाद्गुण्य पर अवलम्बित है। यदि अपेक्षित सामग्री और मन्त्रशक्ति का यथार्थ उपयोग हो तो ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वृष्टि अथवा पुत्रादि की प्राप्ति न हो, किन्तु यदि कर्मवैगुण्य हो गया और अन्तरिक्ष आदि में वृष्टि-आदि-सम्पादक तत्त्व उत्पन्न नहीं किए जा सके तो कुछ फल नहीं होगा। और सामग्री आदि में विपर्यय हुआ तो विपरीत फल भी हो सकता है। अतएव भगवान् ने भगवद्गीता में विधिहीन यज्ञ को तामस (१७।१३) और तामस कर्म का फल अज्ञान (१४–१६) तथा तामसों की अधोगति (१४–१८) बतलाई है।

आजकल जो कई लोग यज्ञ-यागादि विधिपूर्वक न करने पर भी विधिहीन यज्ञ से फलसिद्धि न होती देखकर शास्त्रों पर अविश्वास करते हैं इस में शास्त्रों का नहीं, किन्तु कर्म-वैगुण्य का ही दोष है। जैसे चावल, पानी और अग्नि के उत्तम होने पर भी रसोई करनेवाले के विधिज्ञ न होने पर भात बिगड़ ही जायगा उसी प्रकार विधि-हीनता होने पर यज्ञ-यागादि कर्मों से भी कामनासिद्धि दुष्कर ही है।

यह बात सामग्री के विषय में ही नहीं, किन्तु मन्त्रों के विषय में भी है। यज्ञ में जितना महत्त्व सामग्री का है उससे भी अधिक महत्त्व मंत्रों का है। अतएव व्याकरण के परमाचार्य पाणिनि 'शिक्षा' में लिखते हैं कि—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

अर्थात् मंत्र यदि स्वर (उदात्त आदि) से अथवा वर्ण (अक्षर) से हीन हो तो वह मिथ्याप्रयुक्त हो जाता है, अतः उस अर्थ को (जिसके लिए मंत्र का प्रयोग किया गया है) नहीं कहता। ऐसा वाणी-रूपी वज्र यजमान (यज्ञ करनेवाले) को नष्ट कर देता है, जैसे कि 'इन्द्रशत्रु' शब्द ने स्वर का अपराध होने से (वृत्र को नष्ट कर दिया)।

मंत्रों के विषय में पूछा जा सकता है कि पूर्वोक्त भाव के दृष्टान्त से सामग्री के वैगुण्य की बात तो समझी जा सकती है, पर मन्त्रों की अशुद्धता और शुद्धता से परिणाम की विपरीतता का क्या संबन्ध ? इसका उत्तर यह है कि आजकल रेडियो के युग में यह प्रश्न उचित नहीं। कारण, 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता (ये सब लोक वाक्तत्त्व में निहित हैं)' इस श्रुति का अर्थ आज प्रत्यक्षसिद्ध है। अब यह

---

१. यह आख्यायिका कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के पंचम प्रपाठक में है, जिसका अति संक्षेप यह है कि—त्वष्टा के पुत्र (विश्वकर्मा) इन्द्र के पुरोहित थे। इन्द्र ने उनको परोक्ष में असुरों को भाग देते जानकर उनके तीनों सिर काट दिए। इससे त्वष्टा क्रुद्ध हुआ और उसने 'इन्द्र का मारनेवाला पुत्र हो' इस इच्छा से 'इन्द्रशत्रु' शब्द का प्रयोग करके यज्ञ किया। 'इन्द्रशत्रु' शब्द का तत्पुरुष समास के अनुसार 'इन्द्र का मारनेवाला' अर्थ होता है और बहुव्रीहि समास के अनुसार 'इन्द्र जिसका मारनेवाला हो' यह अर्थ होता है। ऋत्विजों ने तत्पुरुष के स्थान पर बहुव्रीहि का स्वर कर दिया। परिणाम यह हुआ कि इन्द्र न मर सका और यज्ञ से उत्पन्न वृत्रासुर मारा गया।

निश्चित हो गया है कि हम जो शब्दों का उच्चारण करते हैं उसके कारण विश्वभर में व्याप्त उस वाक्तत्त्व में स्पन्दन होता है। अतएव हजारों कोसों पर बैठे हम अन्य देशों के समाचार सहज ही सुन लेते हैं। इसी वाक्तत्त्व के स्पन्दन द्वारा यज्ञ की सामग्री के सूक्ष्म अंश भी प्रभावित होते हैं और वे मन्त्ररूपी वाक् के स्पन्दन द्वारा ही यथास्थान देवादि को पहुँचाए जाते हैं। अतः मंत्रों को जो इतना महत्त्व दिया गया है वह उचित ही है।

इसी प्रकार देश-काल तथा कर्त्ता-क्रिया आदि का भी याज्ञिक कर्मों के साथ पूर्णतया वैज्ञानिक संबन्ध है। हम देखते हैं कि उत्तम से उत्तम भी बीज यथोचित देश-काल के विरुद्ध और अनभिज्ञ द्वारा उचित क्रिया से रहित बोया जाय तो वह यथार्थ फल नहीं देता। वही बात यज्ञादिक कर्मों में भी है। इसी कारण देश-काल की शुद्धि, कर्ता की अधिकारिता और क्रिया की यथार्थता पर शास्त्रों में इतना बल दिया गया है।

इस यज्ञविधि को वस्तुतः तो स्वयं प्रकृति और पृथिवी जल आदि उपनिषदुक्त देवों ने किया है, अतएव वेद कहता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' और आज भी यह यज्ञविधि (प्रकृति की रासायनिक प्रक्रिया) होती रहती है अतएव भगवान् भगवद्गीता में कहते हैं कि—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (भ. गी. ३।१०)

अर्थात् प्रजापति ने पहले सृष्टि के आरम्भ में ही यज्ञसहित प्रजाओं को उत्पन्न करके कहा कि तुम इस (यज्ञ) से प्रसव करोगे और यह तुम्हारी अभीष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो। जिसका अभिप्राय यह है कि प्रजापति की सृष्टि में सभी संतानें उत्पादन की शक्ति तथा अभीष्ट कामों की पूर्ति की योग्यता रखती हैं। यह शक्ति और यह योग्यता यज्ञसहित होने के ही कारण है। जो इस यज्ञ-प्रक्रिया से

परिचित होंगे वे नवीन वस्तुओं का उत्पादन और अभीष्टों की पूर्त्ति कर सकेंगे।

वैदिकों की यज्ञप्रक्रिया और वैज्ञानिकों की रासायनिक प्रक्रिया इस प्रकृतिसिद्ध यज्ञ के कारण ही सिद्ध होती है।

(२) दान

दान का हमारे शास्त्रों में बड़ा महत्त्व बताया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान है। उसमें लिखा है कि—

'त्रया ह प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः। उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानि'ति। तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा' इति 'व्यज्ञासिष्मे'ति होचु'र्दाम्यथे'ति न आत्थे'त्यो'मिति होवाच व्यज्ञासि'ष्टेति।

'अथ हैनं मनुष्या ऊचु'र्ब्रवीतु नो भवानि'ति। तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा' इति 'व्यज्ञासिष्मे'ति होचु'र्दत्तेति न आत्थे''त्यो'मिति होवाच 'व्यज्ञासिष्टे'ति।

'अथ हैनमसुरा ऊचु'र्ब्रवीतु नो भवानि'ति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा' इति 'व्यज्ञासिष्मे'ति होचु'र्दयध्वमिति न आत्थे''त्यो'मिति होवाच 'व्यज्ञासिष्टे'ति। तदेतदेवैषा दैवीवागनुवदति स्तनयित्नु'र्द-द-द' इति दाम्यथ, दत्त, दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं, दानं, दयामिति।' बृहदारण्यक (५।१)

इसका सार यह है कि 'प्रजापति (सृष्टि-कर्त्ता—विधाता) के पुत्र देव (दैवी सम्पत्तिवाले सत्पुरुष), मनुष्य (साधारण प्रकृतिवाले पुरुष) और असुर (क्रूरता-प्रधान हिंसक पुरुष) तीनों ने पिता प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य रक्खा—अर्थात् शिक्षा प्राप्त करने के लिए उपस्थित हुए। ब्रह्मचर्य पालन करने के बाद सब से पहले देवों ने प्रजापति से जाकर कहा—'हमें उपदेश दीजिए।' प्रजापति ने इसके उत्तर में केवल एक अक्षर कहा 'द' और पूछा 'समझ गये?' देवों ने कहा—'हाँ, समझ

गये।' 'क्या समझे?' उन्होंने कहा—'आप हमसे यह कह रहे हैं कि 'दमन (मन और इन्द्रियों को वश में) करिए।' प्रजापति ने कहा—'हाँ, तुम समझ गये।'

फिर मनुष्य पहुँचे। उन्होंने भी वही प्रश्न किया। उसके उत्तर में भी प्रजापति ने वही 'द' अक्षर कह दिया और पूछा 'क्या समझे?' मनुष्यों ने कहा 'आप हमसे कह रहे हैं कि दान करिए।' प्रजापति ने कहा—'हाँ, तुम समझ गये।'

इसके बाद असुर गये। उन्होंने भी वही प्रश्न किया और प्रजापति ने वही 'द' अक्षर कह दिया और पूछा 'क्या समझे?' उन्होंने कहा—'आप कहते हैं कि दया करिए।' प्रजापति ने कहा—'हाँ, समझ गये।'

इसी बात को बादल 'द-द-द' इस प्रकार गरजकर प्रजापति के शब्द का अनुवाद करता हुआ (मानो) कहता है कि 'दमन करो (इन्द्रियों को जीतो), दान करो और दया करो।' इसलिए प्रत्येक मनुष्य को दम, दान और दया ये तीन वस्तुएँ सीखनी चाहिएं!'

इस उपाख्यान में देवों (उत्कृष्ट पुरुषों) के लिए इन्द्रियजय और असुरों (क्रूरताप्रधान हिंसक पुरुषों) के लिए दया का उपदेश है, पर सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए दान का उपदेश है। अतः यह सिद्ध हुआ कि श्रुति के अनुसार दान ऐसी वस्तु है जो सब किसी मनुष्य को करना ही चाहिए। भगवान् ने भगवद्गीता में इन्हीं तीनों बातों को यों लिखा है कि—

'कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्।

(दम के विरोधी) काम, (दया के विरोधी) क्रोध और (दान के विरोधी) लोभ को छोड़ देना चाहिए (यही तीनों नरक के द्वार हैं)।'

भगवान् ने यहाँ काम और क्रोध के त्याग को पहले और लोभ के त्याग को बाद में लिखकर यह सिद्ध किया है कि काम, क्रोध छोड़ देने पर भी यदि लोभ न छूटा तो सब व्यर्थ है।

श्रीमद्भागवत में भी इस लोभ के जय को काम और क्रोध के जय से भी विशेष महत्त्व दिया है :—

'कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात् ।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥

(श्रीमद्भागवत ७।१५।२०)

अर्थात् मनुष्य काम का अन्त क्षुधा और तृषा से (निर्बल होकर) पा जाता है, जब रोटियाँ ही नहीं मिलतीं तो सारी इच्छाएँ अपने आप शान्त हो जाती हैं और क्रोध का अन्त उसका फलोदय होने से (मार-पीट, खून-खच्चर हो लेने पर थककर) पा जाता है, पर लोभ का अन्त पृथ्वी की सारी दिशाओं को जीतकर भी नहीं पाता ।'

इस लोभ के जीतने का श्रीमद्भागवत में एक मात्र उपाय बताया गया है—

'अर्थानर्थेक्षया लोभम् ।

अर्थात् धन के अनर्थों के देखते रहने से लोभ को जीतना चाहिए (७।१५।२२)' इसीलिए प्रथम स्कन्ध में यह भी लिखा है कि—

'नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः । (१।२।९)

अर्थात् धन का प्रधान फल धर्म है—यदि ईश्वर ने धन दिया है तो धर्म करना चाहिए, काम (मौज-मजे उड़ाना) उसका लाभ नहीं समझा जाता, क्योंकि यह तुच्छ और क्षणिक है ।'

अतः यह सिद्ध है कि लोभ का विजयरूप दान प्रत्येक मनुष्य को यथाशक्ति अवश्य ही करना चाहिए। धन होते हुए दानरहित जीवन व्यर्थ ही है । अतएव भगवान् ने दान को अत्याज्य (न छोड़ने योग्य) बताया है । (भगवद्गीता १८।५)

दान का लक्षण तथा विवेचन

साधारणतया संस्कृत भाषा में दान का लक्षण—

'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनं दानम् ।'

यह माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि—किसी भी वस्तु पर अपना स्वत्व हटाकर दूसरे का स्वत्व स्थापित कर देना दान कहलाता है।

इस लक्षण से दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह है कि जिन वस्तुओं पर अपना स्वत्व नहीं है, वे नहीं दी जा सकतीं; दूसरी यह है कि—दी हुई वस्तु पर अपना कोई स्वत्व नहीं रहता। अतएव याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

स्वं कुटुम्वाविरोधेन देयं दारसुताद्दते।
नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति, व्यवहाराध्याय १७५)

इसका तत्त्व यह है कि—

(१) कुटुम्ब-पालन के योग्य बचाकर अपनी वस्तुएँ जिन पर अपना स्वत्व हो, देनी चाहिएँ, क्योंकि दान पीछे है और अपने आश्रितों का पालन पहले। अतएव मनु ने लिखा है—

वृद्धौ च मातापितरौ वाला भार्या सुतः शिशुः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत्॥ (मनु ८।३५)

अर्थात् बूढे माता-पिता, नौजवान स्त्री और बालक पुत्र का पालन अकर्त्तव्य (अपनी हैसियत के विरुद्ध) कर्म करके भी करना चाहिए। ऐसे कुटुम्ब को दुःखी करके दान देना अनुचित है।

(२) स्त्री-पुत्रों पर अपना स्वत्व होते हुए भी वे नहीं दिये जा सकते, क्योंकि वे केवल सम्पत्ति मात्र नहीं हैं।

(३) यदि वंश विद्यमान हो तो सर्वस्व (सब कुछ) दान नहीं करना चाहिए, क्योंकि आपके वंशज आपसे आशा रखते हैं—उनका भी आपकी कमाई में हक है।

(४) जिसके लिए किसी दूसरे से वादा किया जा चुका हो वह भी न देनी चाहिए, क्योंकि उस पर उसका स्वत्व हो जाता है। अतएव गिरवी, धरोहर, शामिलात आदि के दान का भी निषेध है, क्योंकि उन पर अपना यथार्थ हक नहीं होता।

इन बातों का विशेष विवेचन धर्मशास्त्रों में है। यहाँ तो इस विषय को केवल इसलिए लिख दिया है कि दान करने से पूर्व इन बातों को भी अवश्य सोच लेना चाहिए, जिससे किसी का हक न मारा जावे और दान निष्फल अथवा विपरीत फल देनेवाला न हो।

दान और दत्त

शास्त्रों में शास्त्रीय कामों में यज्ञ, दान, तप इस तरह दान शब्द लिखा रहता है और केवल यशःसम्पादक कर्मों में इष्ट, अपूर्त्त और दत्त इस तरह दत्त शब्द लिखा रहता है। इन दोनों का भेद बहुत कम लोग समझ पाते हैं। जो दान केवल यश प्राप्त करने अथवा किसी को दुःखी देखकर उसका दुःख दूर करने मात्र के लिए दिया जाता है उसे 'दत्त' कहा जाता है। इसमें किसी वर्ण, जाति अथवा विद्या, तप आदि की परीक्षा की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे दान में अनाथ, विधवा तथा बुभुक्षित (वह चाहे कोई भी हो) सम्मिलित किये जा सकते हैं। इसमें पात्रापात्र-विवेक का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उन्हें उदर-पूर्ति के पर्याप्त ही दिया जाता है और शेष न रहने से दान के सदुपयोग अथवा दुरुपयोग का विचार व्यर्थ है। ऐसा दान 'दत्त' कहलाता है। इसको भगवान् ने भगवद्गीता में तामस दान कहा है—

'अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ (भग० १७।२२)

अर्थात् देश-काल के बिना, अपात्रों को और असत्कार तथा अवज्ञा के साथ जो दान दिया जाता है, वह तामस दान है।'

ऐसा दान भी यदि केवल दुःख-निवारण की इच्छा से दिया जाय तो फल अवश्य देता है, अतएव मिताक्षरा में लिखा है कि—

'अपात्रदानेऽपि किमपि तामसं फलमस्तीति सूचितम् ॥

(या० स्मृ० आचाराध्याय २०१)

अर्थात् अपात्र को दान देने में भी कुछ तामस फल है सही।'

किन्तु दुर्भाग्यवश आज लोग इस तामस दान को ही दान समझने लगे हैं। यहाँ तक कि कई विचित्र बुद्धिमान तो वर्ण-जाति-विवेक को छोड़कर श्राद्धादि में भी अनाथ आदि को जिमा देते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि अनाथ आदि की सहायता न की जाय, किन्तु इतना ही है कि शास्त्रीय कर्मों में भी उन्हीं को प्रधानता देना केवल शास्त्रानभिज्ञता नहीं, किन्तु सत्पात्रों को संसार में से खो देना और अपात्रों को प्रधानता देना है। इसी का परिणाम यह है कि सत्पात्र पुरुषों का आज प्रायः लोप हो गया है तथा अयोग्य और अपात्र ही दान प्राप्त करके बढ़ रहे हैं और देश तथा धर्म को रसातल में ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। अतः दान में पात्रापात्र-विवेक अत्यावश्यक है।

पात्रापात्र-विवेक

याज्ञवल्क्य ने आचाराध्याय के दान-प्रकरण में पात्रापात्र-विवेक का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है। वे लिखते हैं—

'न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।

यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥

अर्थात् दान का पात्र वही है जिसमें विद्या, तप और उसके अनुसार पवित्र आचरण तीनों हों। केवल विद्या (ग्रंथों के पढ़ लेने) से अथवा केवल तप (जिसका विवेचन आगे है) से पात्र नहीं होता।' इतना ही नहीं। आगे यहाँ तक लिखा है :—

'विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः ।
गृह्णन् प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च ॥

विद्या और तप से हीन को प्रतिग्रह (दान) कभी नहीं लेना चाहिए। यदि ऐसा मनुष्य दान लेता है तो देनेवाले का और अपने आपका दोनों का अधःपतन करता है।'

दाताओं को भी उन्होंने चेतावनी दी है :—

'गोभूतिलहिरण्यादिं पात्रे दातव्यमर्चितम् ।
नापात्रे विदुषा किञ्चिदात्मनः श्रेय इच्छता ॥

अर्थात् बुद्धिमान् को चाहिए कि वह यदि अपना कल्याण चाहता है तो जो कुछ देना हो वह सत्कारपूर्वक सत्पात्र को दे, अपात्र को तो कुछ भी नहीं दे।'

क्या हम इतने विवेचन के बाद कह सकते हैं कि दान की आज भी हमारे धनिकों में कमी नहीं, किन्तु उन्होंने जो पात्रापात्र का विवेक छोड़कर एक तरफ भारतीय संस्कृति के सर्वनाश के लिए ही अपनी थैली का मुँह खोलना आरम्भ कर दिया है और दूसरी ओर अपात्र से अपात्र मिश्रजी के बेटे मिश्रजी और पुरोहितजी के बेटे पुरोहितजी को दान देना आरम्भ कर दिया है, इस पर उन्होंने क्या कभी विचार किया है कि यह हमारे अधःपतन का मूल कारण है और इससे देश तथा धर्म डूब रहा है।

ब्राह्मण ही दानपात्र क्यों ?

शास्त्रीय दान ब्राह्मण को ही क्यों दिया जाय इसका उत्तर भी याज्ञवल्क्य ने बड़ा सुन्दर दिया है। वे कहते हैं :—

'तपस्तप्त्वाऽसृजद् ब्रह्मा ब्राह्मणान् वेदगुप्तये ।
तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च ॥

अर्थात् विधाता ने ध्यान[1] लगाकर पहले (खूब सोच-समझकर) वेदों की रक्षा, देव-पितरों की तृप्ति और धर्म का संरक्षण, इनके लिए ब्राह्मणों को उत्पन्न किया है।'

आधुनिक लोग इसे ब्राह्मणों का पक्षपात कह सकते हैं, पर क्या कोई माई का लाल छाती पर हाथ धरकर कह सकता है कि याज्ञवल्क्य ने जो वेद और धर्म की रक्षा तथा देव-पितरों की तृप्ति ये भारतीय संस्कृति के प्रधान अङ्ग बताये हैं उनके लिए ब्राह्मणों के समान किसी ने तप और त्याग किया है ? गत एक हजार वर्ष के गये-बीते जमाने में भी बार-बार इन्हीं ने धर्माचार्य, धर्मोपदेशक तथा धर्म-प्रचारकों के रूप में सामने आ-आकर घोर आपत्तियों से भारतीय संस्कृति को बचाया है। क्या ऐसी जाति के सत्पात्र पुरुष (जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है) दान के अधिकारी बताये जाते हैं तो इसमें किसी प्रकार का अन्याय है ?

अपात्र ब्राह्मण की निन्दा

इतने पर भी धर्मशास्त्रकारों ने दुराचारी, मूर्ख और अयोग्य ब्राह्मणों को शास्त्रीय दान न देने के लिए वड़ा जोर दिया है। मनु कहते हैं :—

'ये स्तेन-पतित-क्लीवा ये च नास्तिकवृत्तयः।
तान् हव्यकव्योर्विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत् ॥ (३।१५०)

अर्थात् जो ब्राह्मण चोर, महापातकी, नपुंसक और नास्तिक वृत्ति (परलोक पर विश्वास न करनेवाले) हों वे हव्य (देव-सम्बन्धी दान), कव्य (पितृ-सम्बन्धी दान) दोनों के अयोग्य हैं। इसके बाद बड़ा लम्बा विवेचन करके उन्होंने सब प्रकार के अयोग्य और अपात्र ब्राह्मणों को गिनाया है और अन्त में यहाँ तक लिखा है कि बिना पढ़े-लिखे ब्राह्मण को दान न दिया जाना चाहिए। वे कहते हैं :—

---

१. 'तपस्तप्त्वा = ध्यानं कृत्वा कान् सृजामीति' मिताक्षरा।

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ (मनु० ३:१६८)

जो ब्राह्मण वेदाध्ययन से शून्य है वह (यदि दुराचारी नहीं है तो जाति से ब्राह्मण होने के कारण) घास की आग के समान है, उसे देवों के उद्देश से दिया जानेवाला दान नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि वह तो दान लेते ही अपने जन्मसिद्ध तेज को खो देगा। फिर क्या कहीं राख में भी होम किया जा सकता है ? इत्यादि ।

ऐसी अनेक बातें धर्मशास्त्रों में भरी पड़ी हैं, जिन्हें यहाँ देना व्यर्थ विस्तार है। सारांश यह है कि शास्त्रीय दान विधिवत् सत्पात्र ब्राह्मणों को ही दिये जाने चाहिएँ ।

सत्पात्र तैयार करो

किन्तु आज प्रायः सत्पात्र ब्राह्मणों का प्राप्त होना कठिन है। इसलिए वर्तमान समय में दान का उद्देश्य ब्रह्मदान (भारतीय विद्याओं का प्रचार) होना चाहिए। आज सदाचारी विद्वान् और यथार्थ भारतीयता के रक्षकों की आवश्यकता है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है :—

सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यतः ।
तद्ददत् समवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम् ॥

अर्थात् क्योंकि शब्दब्रह्म (वेद और वेदानुयायी शास्त्र) सर्वधर्ममय है, सारे धर्मों का बोध उसी से होता है, अतः उसका दान सब दानों से अधिक है; इस कारण इस दान का देनेवाला अविच्युत ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

इसलिए ईश्वर की दया से जिनके पास कुछ है और देने का सामर्थ्य है उन्हें इस समय तो ऐसे विद्या, तप और सदाचार से युक्त धर्म और धार्मिकता पर बलिदान होनेवाले सत्पात्रों के सम्पादन में सहायता करनी चाहिए जिनका कि मिलना आज दुर्लभ हो गया है।

(३) तप

ऊपर कर्मयोग के २ महान् अंग यज्ञ तथा दान पर विचार किया जा चुका है। अब तीसरे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग तप पर विचार करिये।

तप का महत्त्व

यों तो तप के महत्त्व के विषय में प्रत्येक धार्मिक पुरुष जानता ही है, पर सच पूछिये तो वैदिक सनातनधर्म के कर्मयोग में जितना महत्त्व तप का है, उतना किसी भी वस्तु का नहीं। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर तप के माहात्म्य का वर्णन है।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँ्सि सर्वाणि च यद् वदन्ति' (क० उ० १।२।१५)

'प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत' (प्रश्नोपनिषद् १।४)

'तपसा चीयते ब्रह्म' (मुण्डकोपनिषद् १।१।८)

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदँ् सर्वमसृजत यदिदं किं च।' (तैत्तिरीयोपनिषद् आनन्दवल्ली ६)

'त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव' (छा० उ० २।२३।१)

'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' (बृहदारण्यक० १।५।१)

इत्यादि अनेक स्थलों में उपनिषदों ने बार-बार तप शब्द को दोहराया है।

उपर्युक्त उपनिषदों का सार लेकर ही श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में लिखा है कि ब्रह्माजी जब सबसे प्रथम सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा कर रहे थे तो उन्होंने बहुत कुछ सोचा, पर उन्हें वह दृष्टि प्राप्त न हो सकी, जिससे वे लोकों का निर्माण कर सकें। जब वे इस चिन्ता में बैठे थे तो एक दिन उन्होंने दो बार उच्चारण किये हुए दो अक्षर 'त' और 'प' सुने, जो निष्किञ्चन पुरुषों का धन है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है :—

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भस्युपाश्रृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं किञ्चिनानां नृप यद्धनं विदुः ॥

(श्रीमद्भागवत २।९।६)

ब्रह्माजी ने इस आज्ञा को शिरोधार्य करके तप करना आरंभ किया, परिणाम में भगवान् प्रसन्न होकर प्रकट हुए। प्रकट होने पर भगवान् ने वरदान देते हुए कहा—

'तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ !
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥

अर्थात् तप मेरा साक्षात् हृदय है और मैं तप की आत्मा हूँ। मैं इस जगत् को तप से उत्पन्न करता हूँ, तप से इसका संहार करता हूँ और तप से ही भरण-पोषण करता हूँ। तप मेरा दुश्चर वीर्य है।'

(श्रीमद्भागवत २।९।२२।२३)

इसका सार यह हुआ कि तप भगवान् की अन्तरङ्ग शक्ति है और भगवान् तप में इस तरह विराजमान रहते हैं जैसे शरीर में आत्मा। सब काम भगवान् तप के द्वारा ही करते हैं। वही भगवान् का पराक्रम है। जो और किसी प्रकार सिद्ध न हो सके वह तप से सिद्ध हो सकता है, किन्तु है वह दुश्चर—बड़ा कठिन और कठोर। हर एक की हिम्मत नहीं कि वह उसमें पार पा सके।

कहिए, इससे अधिक किसी साधन का क्या माहात्म्य हो सकता है। इसीलिए हमारे यहाँ प्रत्येक धर्माचरण में तप को प्रधानता दी गई है, जैसा कि आगे सिद्ध किया जायगा। भगवद्गीता के अन्त में जो गीता-ज्ञान के अधिकारी का निरूपण है, उसमें भी सबसे पहले तप को स्थान दिया गया है। भगवान् कहते हैं—

'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥' (गीता-१८।६७)

तप का लक्षण

यह तो हुआ तप का माहात्म्य। अब तप क्या वस्तु है सो भी समझ लीजिये—यद्यपि श्री शङ्कराचार्य ने 'विधिर्वा धारणवत् (३।४।२०)' इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में लिखा है कि—

'तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानाम्, कायक्लेशप्रधानत्वात् तपःशब्दस्य रूढेः।

अर्थात् तप वानप्रस्थों का असाधारण धर्म है; क्योंकि तप में काय-क्लेश प्रधान है और तप शब्द की काय-क्लेश में रूढि है।' अतः केवल काय-क्लेश को ही तप कहा जाना चाहिए। तथापि भगवद्गीता में जो त्रिविध तप का वर्णन है, उसके पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि केवल काय-क्लेश ही तप नहीं है, किन्तु कायिक, वाचिक, मानसिक किसी प्रकार के क्लेश अथवा परिश्रम का नाम तप है—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं। अतः प्रत्येक उपवास, व्रत, प्रायश्चित्त तथा यम-नियमादि तप के अन्तर्गत ही हैं। कालिदास ने भी इस त्रिविध क्लेश को ही तप माना है। कौत्स के समक्ष रघु से प्रश्न करवाते हुए वे कहते हैं—

'कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वत्, यत् संभृतं वासवधैर्यलोपि।
आपद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥

आप के गुरु महर्षि वरतन्तु का वह त्रिविध तप, जिसे उन्होंने काय, वाणी और मन से सञ्चित किया है और जिसके कारण इन्द्र का धैर्य लुप्त हो जाता है (वह समझता है कि कहीं ये मेरा पद न छीन लें), किन्हीं विघ्नों के कारण क्षीण तो नहीं हो रहा है ?' (रघुवंश ५ सर्ग)

अतः यह सिद्ध है कि शारीरिक, वाचिक और मानसिक कष्टों अथवा क्लेशों का नाम ही तप है। अतएव श्रीमद्भागवत में भी देवर्षि नारदजी

ने नलकूबर और मणिग्रीव से दरिद्र की प्रशंसा करते हुए कहा था कि—

'दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥

अर्थात् दरिद्र पुरुष घमण्ड की अकड़ से रहित होता है और सब प्रकार के मदों से छूटा रहता है। वह स्वतःसिद्ध कष्ट पा जाता है। यही उसका सबसे बड़ा तप है।' (श्रीमद्भा० १०।१०।१५)

त्रिविध तप में कौन-कौन सी बातें हैं। उक्त त्रिविध तप का श्रीमद्भगवद्गीता के १७ वें अध्याय में श्लोक १४ से १६ तक बड़ा सुन्दर विवरण है। भगवान् कहते हैं कि—

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों का पूजन (यथाशक्ति दानमानादि) पवित्रता, सरलता (सीधापन), ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये शरीर-साध्य तप हैं—काया को कष्ट देकर भी इनका पालन करना चाहिए।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

अर्थात् प्राणियों को दुःख न देनेवाला सत्य, प्रिय और हितकारी वचन तथा स्वाध्याय (वेदादि आर्ष ग्रन्थों) का अभ्यास (बार-बार पढ़ते रहना) वाणी से साध्य तप है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीशङ्कराचार्य ने भाष्य में बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। आप लिखते हैं—

'परप्रत्ययार्थं प्रयुक्तस्य वाक्यस्य सत्यप्रियहितानुद्वेगकरत्वानामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा हीनता स्याद्यदि, नैतद् वाङ्मयतपस्त्वम्, तथा प्रियवाक्यस्यापीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा विहीनस्य न वाङ्मयतपस्त्वम्, तथा हितवाक्यस्यापीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा विहीनस्य न वाङ्मयतपस्त्वम् ।'

इसका सार यह है कि—कोई भी वाक्य जो दूसरे को विश्वास दिलाने के लिए कहा जाय उसमें जहाँ तक हो सके वहाँ तक तो दुःख-जनकता का अभाव, सचाई, मिठास और भलाई चारों ही हों, पर यदि किसी प्रकार इनमें से एक या दो न भी बन सकें तो चल सकता है, क्योंकि कई प्रसंग ऐसे आते हैं, जब ये चारों धर्म एक साथ नहीं निभ सकते, किन्तु लट्ठ की तरह कह दिया जानेवाला सत्य या हित-वाक्य, अथवा सत्य व हित को छोड़कर केवल खुशामद के लिए कहा जाने-वाला, प्रसन्न करनेवाला और दुःख न देनेवाला वाक्य तप की गिनती में नहीं आ सकता।

यह विवेचन यहाँ इसलिए देना पड़ा है कि उपर्युक्त शारीर तप में जो बातें बताई गई हैं, वे अलग-अलग भी तप की कोटि में आ सकती हैं, पर वाचिक तप में वाणी में केवल एक गुण होने से तप नहीं बन सकता। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

मन की प्रसन्नता (निर्मलता), सौम्यता (चेहरे से भी भलापन दिखाई देना), मन को हर तरफ जाने से रोकते रहना और शुद्ध भाव रखना अर्थात् दूसरों से व्यवहार करते समय छल-कपट अथवा धूर्तता से काम न लेना—यह मानस तप है। मैं समझता हूँ इससे उत्तम तप का विवरण हो ही नहीं सकता। अस्तु।

अशास्त्रीय तप

इसके साथ ही यह और समझ लेना चाहिए कि केवल कष्ट पाना ही तप नहीं है। ऐसा कष्ट जिससे अन्तरात्मा घबरा उठे, कभी तप नहीं हो सकता। अतएव हमारे यहाँ उपवासादि में अशक्त के लिए फलाहार, दुग्ध-पानादि का विधान है, पर आजकल एकादशी के उपवासादि में

जैसे मालताल उड़ाये जाते हैं, वे तो सर्वथा निषिद्ध हैं। उनसे तप का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। खांड को तो यथासंभव फलाहार में लेना ही नहीं चाहिए, क्योंकि वह रसनेन्द्रिय के संयम को नष्ट कर देती है। अशास्त्रीय तप की निन्दा करते हुए भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ (गीता १७. ५-५६)

जो लोग ऐसा घोर तप करते हैं जिसका शास्त्रों में विधान नहीं है और ढोंग तथा घमण्ड में चूर रहते हैं—समझते हैं कि लोगों पर हमारा खूब रोब है और इसलिए अभिमानी हो जाते हैं, किन्तु जिन पर इच्छा और आसक्ति अपना जोर जमाये रहती है, फिर भी शरीर के अवयवों और इन्द्रियों को ही नहीं, किन्तु प्रत्येक प्राणी के अन्दर विराजमान नारायण को भी ढोंग के लिए उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करके दुःखी करते रहते हैं, उनका निश्चय आसुर है। ऐसे ढोंगी लोगों को देव न समझकर असुर ही समझना चाहिए, क्योंकि केवल शरीर को तंग करने से ही कोई दैवी जीव नहीं बन सकता।

प्राचीन भारत में तप की प्रधानता

यह तप ही प्राचीन भारत की अमूल्य निधि थी। ऋषियों को तो तपोधन ही कहा जाता था, किन्तु अन्य गृहस्थ भी अपने जीवन में तप को प्रधानता देते थे। वे काय-क्लेशों से न डरकर सच्चे संयमी और सदाचारी बनते थे। वानप्रस्थाश्रम तो था ही केवल तप के लिए। बड़े-बड़े राजा लोग भी ५० वर्ष के बाद राज्य-पाट छोड़कर जंगलों में जाकर तपःसाधन करते थे। कालिदास ने इस तपोवन जमी

को इक्ष्वाकुवंशियों का कुल-व्रत (वंशपरम्परा में चलनेवाला नियम) कहा है। दिलीप का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

'अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपति-ककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुल-व्रतम् ॥

(बुढ़ापा आने पर) राजा दिलीप का चित्त विषयों से हट गया। उसने अपने युवा पुत्र को विधिपूर्वक श्वेतच्छत्ररूपी राज्य-चिह्न दिया— उसको छत्र-धारी राजा बनाया और स्वयं ने देवी सुदक्षिणा के साथ मुनियों के वनों के वृक्षों की छाया का आश्रय लिया। यह कोई नई बात न थी। वृद्धावस्था में इक्ष्वाकु-वंशियों का यही कुल-व्रत रहा है। सदा से यह परम्परा उनके यहाँ चालू थी।'

कहाँ तक लिखा जाय, ऐसे सैकड़ों उदाहरण पुराणों में ही नहीं, किन्तु प्राचीन काव्य-नाटकों में भी भरे पड़े हैं।

आधुनिक भारत में तप का अभाव

किन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज भारत में तप का सर्वथा अभाव है। आज का भारतवासी तो ५५ और ६० वर्ष की अवस्था में भी पाश्चात्यों के अर्थ-काम-प्रधान जीवन का अनुकरण करके पेंशन लेने को भी तैयार नहीं। हाँ, ढोंगी भिक्षुकों की तो कमी नहीं। गाँव-गाँव और घर-घर में उन्हीं का बोलबाला है। साधुरूप में असाधुओं के यूथ के यूथ उमड़ रहे हैं। भक्त-प्रवर तुलसीदास के शब्दों में—

'राँड़ मरी घर सम्पति नासी। मूँड़ मुँड़ाय भये संन्यासी।'

ही नहीं, आज तो ऐसे बच्चे जो पढ़ते न लिखते और न जो वास्तव में देश और धर्म के लिए सच्चा तप करते, वे या तो घुटे शिर बाबाजी

बनने का रंग भरते हैं या विलासितामय जीवन की शिक्षा पाकर भारतीय धर्म और संस्कृति को रसातल में ले जाने को उद्यत हैं। पाठक कृपाकर सोचें कि क्या इस ढोंग से हमारा उद्धार सम्भव है ?

उपसंहार

इस तरह यहाँ हम कर्म मार्ग के इन तीन मुख्य अंगों का विवेचन समाप्त करते हुए इतना और कह देना चाहते हैं कि ये यज्ञ, दान तथा तप आज भी हमारे प्रत्येक धार्मिक कृत्य में किसी न किसी रूप में रहते ही हैं। उदाहरण के लिए विवाह को ही ले लीजिए। दानस्वरूप तो वह स्वयं ही है। उसमें जो होम किया जाता है, वह यज्ञ है और कन्यादान के समय वर-कन्या तथा कन्या के माता-पिता आदि जो उपवास करते हैं, वह तप है। इसी तरह भगवद्गीता का यह कर्म-योग हमारे यहाँ सभी कृत्यों में चलता है। पर, उस पर सूक्ष्म विचार करके उसको यथार्थ रूप में चलाने की बड़ी आवश्यकता है। यदि ये तीनों विधिपूर्वक चल सकें तो सनातन धर्म के उद्धार में सन्देह नहीं। आशा है, पाठक इस विषय पर ध्यान देकर इनके यथार्थ प्रचार के लिए कुछ प्रयत्न करेंगे।

हिन्दू संस्कार

(सामाजिक तथा धार्मिक अध्ययन)

(राष्ट्रभाषा-संस्करण)

डॉ० राजबली पाण्डेय

(आचार्य, भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

हिन्दू संस्कृति के अध्ययन की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण देन है। माता के गर्भ में आने के समय से मृत्यु के समय तक और मृत्यूत्तर संस्कारों के माध्यम से उसके परवर्ती लोकोत्तर प्रयाण तक के हिन्दू जीवन को समझने के लिए यह ग्रन्थ कुञ्जी का काम देता है। हिन्दू जीवन के आदर्श, महत्त्वाकांक्षा, आशा और आशंका सभी मानसिक प्रक्रियाओं पर यह पर्याप्त प्रकाश डालता है। हिन्दुओं की सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं के विविध अंगों के रहस्य इससे स्पष्ट हो जाते हैं। मानव-जीवन बराबर रहस्यपूर्ण रहा है। उसका प्रादुर्भाव, विकास और तिरोभाव मानव-मन को बराबर आन्दोलित करते आये हैं। संस्कारों ने इस रहस्य की गम्भीरता को बढ़ाने और प्रवहमान रखने में बराबर योग दिया है। हिन्दू जीवन को, एक प्रकार के मार्ग और पद्धति के रूप में, अक्षुण्ण रखने में संस्कारों का बड़ा हाथ है। वेदों से प्रारम्भ कर मध्ययुगीन और किन्हीं स्थलों में आधुनिक भारतीय साहित्य के अध्ययन के परिणाम इस ग्रन्थ में समाविष्ट हैं।

इस ग्रन्थ का विभाजन विषय-क्रम से दस अध्यायों में किया गया है। (१) अनुसंधान के स्रोत (२) संस्कार का अर्थ और संख्या (३) संस्कारों का उद्देश्य (४) संस्कारों के तत्त्व (५) जन्म पूर्व संस्कार (६) शैशव के संस्कार (७) शैक्षणिक संस्कार (८) विवाह (९) अन्त्येष्टि तथा (१०) उप-संहार। मध्ययुगीन निबन्ध ग्रन्थों तथा पद्धतियों में संस्कार के ऊपर केवल कर्मकाण्डीय दृष्टि से विचार किया गया है। यह ग्रन्थ उनके सामाजिक तथा धार्मिक आधार और मूल्यों का विस्तृत विवेचन और हिन्दू संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग की आधुनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। छपाई आदि आधुनिकतम मूल्य १५—००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा विद्याभवन, पो० बा० ६९, वाराणसी-१